भारतीय ज्ञान प्रणालियों की पुनर्कल्पना

—— खण्ड एक ——

सभ्यतागत आधार

उस प्रज्ञा को समझना जिसने भारत को गढ़ा

अनिल पाण्डेय

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Anil Pandey 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.



For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-943-6

Cover design: Anuj
Typesetting: Tanya Raj Upadhyay

First Edition: November 2026

भारतीय ज्ञान प्रणालियों की पुनर्कल्पना

त्रयी

खण्ड एक सभ्यतागत आधार · *यह विरासत क्यों महत्वपूर्ण है*

खण्ड दो ज्ञान-तंत्र · *इसे कैसे बनाया जा सकता है*

खण्ड तीन सजीव सभ्यता का निर्माण · *राष्ट्रीय रूपरेखा*

भारतीय ज्ञान प्रणालियों की

पुनर्कल्पना

खण्ड एक

सभ्यतागत आधार

उस प्रज्ञा को समझना जिसने भारत को गढ़ा

अनिल पाण्डेय

प्लेक्सस डिजिटल्स की एक दिव्य दृष्टि पहल

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।
— बृहदारण्यक उपनिषद्

मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो,
अंधकार से प्रकाश की ओर,
मृत्यु से अमरत्व की ओर।

अनुशंशायें

"ज्ञान का सम्मान प्रश्न पूछने, तर्क करने और समझ को निरन्तर परिष्कृत करने से होता है। अनिल पाण्डेय की यह कृति भारतीय ज्ञान परम्परा को इसी अन्वेषी दृष्टि से समझने का आमंत्रण देती है। सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा के अन्तर को सामने रखते हुए यह पुस्तक विज्ञान, दर्शन और मानवीय अनुभव के बीच सार्थक संवाद की सम्भावनाएँ खोलती है। विशेष रूप से उल्लेखनीय है ऐतिहासिक उपलब्धियों और दार्शनिक अन्तर्दृष्टियों को उनकी अपनी कसौटियों पर समझने का आग्रह। अपनी बौद्धिक विरासत के प्रति जिज्ञासु और विवेकपूर्ण दृष्टि विकसित करने की दिशा में यह एक विचारोत्तेजक प्रयास है।"

— डॉ. उमेश सिंह
प्रधान वैज्ञानिक, CSIR

"आने वाली पीढ़ी को अपनी विरासत का परिचय देने के साथ उससे प्रश्न करना, उसका अर्थ समझना और उसे जीवन में उतारना भी सिखाना होगा। अनिल पाण्डेय की यह पुस्तक शिक्षा के इसी व्यापक उद्देश्य की ओर ध्यान खींचती है। गुरुकुल, संवाद, कथा, कला और अनुभव के माध्यम से ज्ञान के संचरण की चर्चा आज के शिक्षकों और अभिभावकों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। भारतीय ज्ञान परम्पराओं को नई पीढ़ी के अनुभव-जगत से जोड़ने और इस कार्य में आधुनिक तकनीक की भूमिका समझने का यह एक स्वागतयोग्य प्रयास है।"

— डॉ. सर्वेश गोयल
चेयरमैन, जी.डी. गोयनका पब्लिक स्कूल
Owner, The Centrum

"किसी राष्ट्र की दीर्घकालिक शक्ति उसके नागरिकों के चरित्र, कर्तव्यबोध और साझा विश्वास में भी निहित होती है। 'सभ्यतागत आधार' इन जड़ों को समझने का अवसर देती है। धर्म को उत्तरदायित्व, परम्परा को जीवित अभ्यास और ज्ञान को पीढ़ियों के बीच प्रवाहित होने वाली शक्ति के रूप में देखने का इसका दृष्टिकोण विशेष महत्त्व रखता है। परिवार, समुदाय और सांस्कृतिक संस्थाओं की भूमिका पर यह पुस्तक उपयोगी चिन्तन प्रस्तुत करती है। अनिल

पाण्डेय का यह प्रयास पाठक को अपनी विरासत समझने और उसे अगली पीढ़ी तक सार्थक रूप में पहुँचाने की जिम्मेदारी का बोध कराता है।"

— कर्नल लक्ष्मीकान्त तिवारी
सेवानिवृत्त

"कृत्रिम बुद्धिमत्ता के युग में एक बुनियादी प्रश्न और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है—हम अपनी बढ़ती तकनीकी क्षमता को किस मानवीय उद्देश्य की दिशा में लगाएँगे? अनिल पाण्डेय की यह पुस्तक भारतीय ज्ञान प्रणालियों को इस प्रश्न के साथ संवाद में लाती है। ज्ञान-जाल, डिजिटल प्रतिरूप और अनुभवात्मक तकनीकों के माध्यम से सांस्कृतिक विरासत तक पहुँच बढ़ाने की सम्भावनाएँ विचारणीय हैं। साथ ही, मानवीय विवेक और जीवित परम्पराओं की भूमिका को केन्द्र में रखने का आग्रह इस विमर्श को आवश्यक गहराई देता है। विरासत, नवाचार और भविष्य के बीच सम्बन्ध तलाशने वाली एक समयानुकूल कृति।"

— डॉ. प्रसून मिश्रा
CEO, Longevica Therapeutics, Inc., USA

अनुक्रम

प्राक्कथन 1

प्रस्तावना 3

सभ्यताएँ क्यों महत्वपूर्ण हैं 9

अध्याय एक: सभ्यताएँ क्यों उठती हैं 10

अध्याय दो: जब ज्ञान बहना बंद कर देता है 15

अध्याय तीन: सभ्यताएँ जीवित ज्ञान-प्रणालियाँ हैं 21

अध्याय चार: सभ्यता की संरचना 27

अध्याय पाँच: भारत ने अपनी आत्मा क्यों नहीं खोई 32

अध्याय छह: सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा 38

अध्याय सात: सभ्यताएँ ज्ञान-जाल के रूप में 43

अध्याय आठ: आगामी सभ्यता 48

भाग एक: सारांश सभ्यताएँ क्यों महत्वपूर्ण हैं 53

भाग दो: भारत को समझना 54

अध्याय नौ: वेद 55

अध्याय दस :उपनिषद् 59

अध्याय ग्यारह: इतिहास 62

अध्याय बारह: पुराण 65

अध्याय तेरह: ब्रह्मसूत्र 68

अध्याय चौदह: वेदांग 71

अध्याय पंद्रह: दर्शन 75

अध्याय सोलह: योग 79

अध्याय सत्रह: आयुर्वेद 83

अध्याय अठारह: मंदिर-विज्ञान 87

अध्याय उन्नीस: चेतना 91

अध्याय बीस: धर्म 95

भाग दो: सारांश भारत को समझना 99

भाग तीन: सनातन का विज्ञान.....100
अध्याय इक्कीस: ब्रह्मांड-विज्ञान.....101
अध्याय बाईस: काल.....104
अध्याय तेईस: चक्र.....107
अध्याय चौबीस: गणित.....111
अध्याय पच्चीस: खगोल.....115
अध्याय छब्बीस: चेतना और ब्रह्मांड.....118
अध्याय सत्ताईस: ऊर्जा.....121
अध्याय अट्ठाईस: ध्वनि.....124
अध्याय उनतीस: ज्यामिति.....128
अध्याय तीस: प्रतीक-विधान.....131
अध्याय इकत्तीस: पारिस्थितिकी.....135
अध्याय बत्तीस: मानव-विकास.....138
भाग तीन: सारांश सनातन का विज्ञान.....141
भाग चार: मंदिर.....142
अध्याय तैंतीस: मंदिर : एक विश्वविद्यालय.....143
अध्याय चौंतीस: मंदिर-स्थापत्य.....146
अध्याय पैंतीस: मंदिर-गणित.....149
अध्याय छत्तीस: मंदिर-ध्वनिकी.....152
अध्याय सैंतीस: मंदिर-खगोल.....155
अध्याय अड़तीस: मंदिर-अर्थव्यवस्था.....158
अध्याय उनतालीस: मंदिर-शासन.....161
अध्याय चालीस: मंदिर-अनुष्ठान अभियांत्रिकी.....164
अध्याय इकतालीस: मंदिर-पारिस्थितिकी.....167
अध्याय बयालीस: मंदिर : समुदाय का मंच.....170
भाग चार: सारांश मंदिर.....173
भाग पाँच: ज्ञान का संचरण.....174
अध्याय तैंतालीस: गुरु.....175
अध्याय चौवालीस: गुरुकुल.....178

अध्याय पैंतालीस: संवाद 181
अध्याय छियालीस: अनुभव 184
अध्याय सैंतालीस: तीर्थयात्रा 187
अध्याय अड़तालीस: उत्सव 190
अध्याय उनचास: कथा 193
अध्याय पचास: संगीत 196
अध्याय इक्यावन: नृत्य 199
अध्याय बावन: कला 202
अध्याय तिरपन: शिल्प 205
अध्याय चौवन: भाषा 208
भाग पाँच: सारांश ज्ञान का संचरण 211
दिव्य दृष्टि एक सभ्यता के लिए तंत्रिका-तंत्र 212
निबंध एक: दिव्य दृष्टि का परिचय 213
निबंध दो: जब ज्ञान बहना बंद कर देता है 217
निबंध तीन: क्या तकनीक अगली गुरु बन सकती है? 220
निबंध चार: मंदिर : एक ज्ञान-तंत्र 223
निबंध पाँच: सूचना पढ़ाना, प्रज्ञा खोना? 226
निबंध छह: क्या कृत्रिम बुद्धिमत्ता प्रज्ञा सीख सकती है — अथवा केवल सूचना? 229
निबंध सात: अगली क्रांति अर्थ की है 232
निबंध आठ: क्या किसी सभ्यता का अनुभव किया जा सकता है? 235
निबंध नौ: यदि प्रत्येक बालक इसका अनुभव कर सकता 238
निबंध दस: भारतीय ज्ञान प्रणालियों के भविष्य की पुनर्कल्पना 241
समापन देहरी 244
परिशिष्ट परिशिष्ट 247
परिशिष्ट क: भारतीय सभ्यता का कालक्रम 248
परिशिष्ट ख: शास्त्रों का कालक्रम 249
परिशिष्ट ग: भारतीय ज्ञान प्रणालियों का वर्गीकरण 250
परिशिष्ट घ: संस्कृत एवं भारतीय ज्ञान-शब्दों की शब्दावली 251
परिशिष्ट ङ: कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं स्थानिक संगणन की शब्दावली 254

परिशिष्ट च: मंदिर-स्थापत्य का मानचित्र 256
परिशिष्ट छ: चयनित अग्रिम पठन 257
परिशिष्ट ज: दिव्य दृष्टि डिजिटल स्तर 258
परिशिष्ट झ: विषय-सूचक अनुक्रमणिका 259
पूरक परिशिष्ट हिंदी संस्करण के पूरक परिशिष्ट 260
परिशिष्ट ञ: वैदिक वाङ्मय की संरचना 261
परिशिष्ट ट: षड्दर्शन : एक तुलनात्मक दृष्टि 262
परिशिष्ट ठ: प्रमाण : ज्ञान के साधन 263
परिशिष्ट ड: भारतीय गणित की प्रमुख उपलब्धियाँ 264
परिशिष्ट ढ: मंदिर-स्थापत्य की शैलियाँ 265
प्रमुख व्यक्तियों का कालक्रम 266
चयनित ग्रंथ-सूची 267
संदर्भ — मूल स्रोत 269
सामान्य अनुक्रमणिका 270

प्राक्कथन

एक सभ्यता अपनी प्रज्ञा को जीवित क्यों रखे

यह पुस्तक एक ऐसी प्रतीति से जन्मी जो धीरे-धीरे आकार लेती गई — उन वर्षों में, जो दो ऐसे संसारों के संगम-बिंदु पर कार्य करते हुए बीते जो परस्पर विरले ही बात करते हैं। एक ओर वे तकनीकें थीं जो हमारे युग को नया रूप दे रही हैं — कृत्रिम बुद्धिमत्ता, निमज्जित अनुभव, स्थानों तथा वस्तुओं का डिजिटल पुनर्निर्माण। दूसरी ओर भारतीय ज्ञान प्रणालियों की विशाल विरासत थी — किसी सभ्यता की संचित प्रज्ञा, जो एक साथ भव्य भी है और हमारे समय में उत्तरोत्तर पहुँच से दूर होती जा रही है। प्रतीति सरल थी : ये दोनों संसार न केवल एक साथ लाए जा सकते हैं, अपितु लाए ही जाने चाहिए, और उनके इस मिलन में भविष्य के लिए कुछ वास्तविक महत्व की वस्तु निहित है।

मैं इस विषय तक परम्परा के किसी विद्वान के रूप में नहीं आया, और न ही ऐसा कोई दावा करता हूँ। मैं इस तक ऐसे व्यक्ति के रूप में आया जो इन नई तकनीकों के साथ कार्य करता है और जो इस अनुभूति से मुक्त नहीं हो सका कि इन्हें लगभग पूर्णतः तुच्छ और वाणिज्यिक की ओर मोड़ा जा रहा है, जबकि जिस गहनतम प्रयोजन में इन्हें लगाया जा सकता था — किसी जीवित सभ्यता का संरक्षण और नवीनीकरण — उसका प्रयास लगभग हुआ ही नहीं। यह पुस्तक, और वह त्रयी जिसका यह प्रथम खण्ड है, उसी गहनतर प्रयोजन का पक्ष रखने का, और यह रेखांकित करने का प्रयास है कि उसका अनुसरण कैसे किया जा सकता है।

यह त्रयी तीन प्रश्नों के चारों ओर व्यवस्थित है। यह प्रथम खण्ड पूछता है क्यों — भारत की विरासत क्यों महत्वपूर्ण है, और बुद्धिमान यंत्रों के युग में अभी क्यों महत्वपूर्ण है। दूसरा पूछेगा कैसे — किन ठोस साधनों से ऐसी विरासत सुरक्षित रखी, अनुभव की और नवीनीकृत की जा सकती है। तीसरा पूछेगा आगे क्या — अभिकल्प कैसे कर्म का कार्यक्रम बनता है। जो पाठक केवल तर्क चाहता है वह इस खण्ड को अकेले पढ़ सकता है; जो उसे बनते हुए देखना चाहते हैं उन्हें वह निर्माण आगे के खण्डों में मिलेगा।

उस भाव के विषय में भी एक शब्द, जिसमें यह लिखी गई है। मैंने आद्यंत सत्यनिष्ठ रहने का प्रयास किया है, विजयोन्मत्त नहीं — यह स्पष्ट रूप से कहने का कि परम्परा की उपलब्धियाँ

कहाँ प्रलेखित और निर्विवाद हैं, और उतने ही स्पष्ट रूप से यह भी कि वह कहाँ प्रमाण के स्थान पर दृष्टि तथा दर्शन प्रस्तुत करती है। यह विरासत इतनी सबल है कि उसका पक्ष ईमानदारी से रखा जा सके, और मुझे उसे किसी अन्य रीति से रखने की इच्छा नहीं। जहाँ मुझसे भूल हुई हो — तथ्य में अथवा बल-निक्षेप में — दोष मेरा है, और उसका संशोधन पाकर मैं कृतज्ञ रहूँगा।

यह पुस्तक एक दिव्य दृष्टि पहल है, और वह एक बड़े प्रयास का अंग है — उस सभ्यता के योग्य एक डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र बनाने का प्रयास जिसकी वह सेवा करती है। वह प्रयास अनेक हाथों का कर्म है, और मैं उससे कहीं अधिक लोगों का ऋणी हूँ जितनों का नाम यहाँ ले सकूँ : उन सहयोगियों का जिन्होंने मेरे साथ मिलकर निर्माण किया, उन विद्वानों और शिक्षकों का जिनके कार्य का मैंने सहारा लिया, और स्वयं उस परम्परा का, जो सहस्राब्दियों के पार अपना प्रकाश हमारे अपने अनिश्चित युग तक ले आई है।

सबसे बढ़कर, यह पुस्तक उनके लिए लिखी गई है जो पश्चात् आएँगे — वे पीढ़ियाँ जो तकनीक और परम्परा, दोनों उत्तराधिकार में पाएँगी, और जो यह निर्णय करेंगी कि उनका क्या किया जाए। हमने यह सभ्यता अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में नहीं पाई; हम इसे अपने वंशजों से उधार ले रहे हैं। यदि ये पृष्ठ, किसी भी मात्रा में, इसे अक्षुण्ण रूप से आगे सौंपने में सहायक होते हैं, तो वे अपना प्रयोजन सिद्ध कर चुके होंगे।

प्रस्तावना

केंद्रीय प्रतिज्ञा

यह ऐसी कृति है जिसमें यात्रा की दो दिशाएँ हैं, और वह उनमें से किसी एक को चुनने से इनकार करती है।

भारतीय ज्ञान प्रणालियों पर लिखी गई लगभग प्रत्येक गम्भीर पुस्तक पीछे की ओर देखती है। वह पुनःप्राप्त करती है, सूचीबद्ध करती है, रक्षा करती है। वह भारत की प्रज्ञा को ऐसी विरासत मानती है जिसे विस्मृति से बचाया जाना है — कुछ ऐसा जिसे सम्मान दिया जाए, पाद-टिप्पणी में दर्ज किया जाए, और सावधानी से काँच के पीछे रख दिया जाए। कृत्रिम बुद्धिमत्ता पर लिखी गई लगभग प्रत्येक गम्भीर पुस्तक आगे की ओर देखती है। वह पूर्वानुमान करती है, चेतावनी देती है, त्वरण करती है। वह बुद्धि को ऐसी वस्तु मानती है जिसे मानवता सर्वप्रथम अभी बनाने जा रही है। ये दोनों वाङ्मय परस्पर विरले ही बात करते हैं। इन्हें भिन्न लोग लिखते हैं, भिन्न पाठक पढ़ते हैं, और पुस्तकालय के भिन्न कोनों में इन्हें रखा जाता है। यह त्रयी यह तर्क रखती है कि आने वाली शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय ठीक वहीं होगा जहाँ ये दोनों मिलते हैं।

इन तीन खण्डों के केंद्र में स्थित दावा कहने में सरल और सिद्ध करने में माँगपूर्ण है। भारतीय ज्ञान प्रणालियाँ मात्र हमारा अतीत नहीं हैं। वे मानवता का अगला अवसर हैं। इसलिए नहीं कि वे प्राचीन हैं — प्राचीनता स्वयं में कुछ प्रदान नहीं करती — अपितु इसलिए कि वे सहस्रों वर्षों में ठीक उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बनी थीं जिनका उत्तर हमारी सर्वाधिक शक्तिशाली तकनीकें अपने बल पर नहीं दे सकतीं।

विचार कीजिए कि हम अब कहाँ खड़े हैं। हम ऐसे यंत्र बना रहे हैं जो परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर सकते हैं, संगीत रच सकते हैं, अनुबंध लिख सकते हैं, रोग का निदान कर सकते हैं, और पृथ्वी की किसी भी भाषा में प्रवाहपूर्ण संवाद कर सकते हैं। जो ये यंत्र हमें नहीं बता सकते वह यह है कि इस सबका प्रयोजन क्या है। वे किसी लक्ष्य का अनुकूलन कर सकते हैं; वे कोई योग्य लक्ष्य चुन नहीं सकते। वे बुद्धि का प्रतिमान बना सकते हैं; वे चेतना का लेखा नहीं दे सकते। वे प्रज्ञा की सतह का अनुकरण कर सकते हैं; वे उसका सार नहीं जुटा सकते। और इस प्रकार, अपने

सर्वाधिक तकनीकी आत्मविश्वास के ठीक क्षण पर, मानवता स्वयं को उन प्रश्नों के समुच्चय की ओर लौटता हुआ पाती है जिन्हें उसने या तो कब से निपटा हुआ मान लिया था अथवा सदा के लिए अनुत्तरणीय :

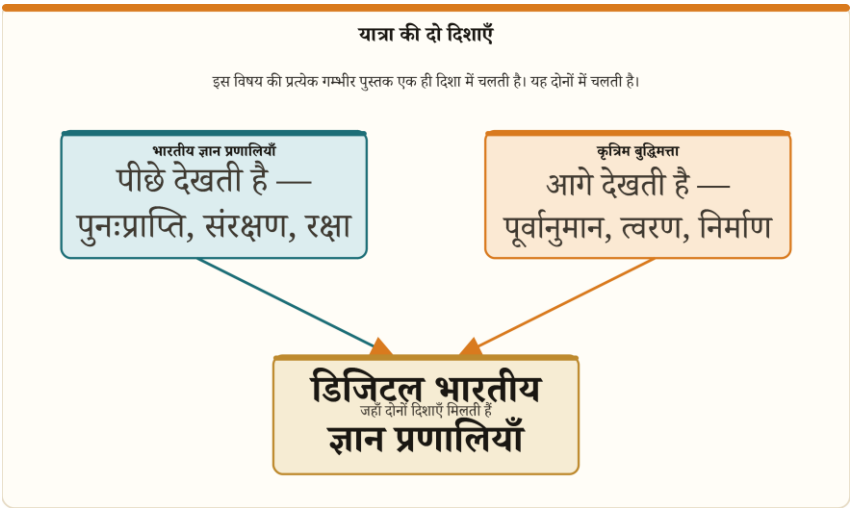

चित्र 0.1 — यात्रा की दो दिशाएँ, एक नए अनुशासन में मिलती हुईं।

- चेतना क्या है — और क्या कोई प्रणाली उसे धारण कर सकती है, अथवा केवल उसका अनुकरण?
- बुद्धि क्या है, मात्र संगणन से भिन्न?
- प्रज्ञा क्या है, सूचना के संचय से भिन्न?
- प्रयोजन क्या है, और उसे नियत करने का अधिकार किसे है?
- सम्यक् कर्म क्या है जब परिणाम हमारी दृष्टि से कहीं आगे तक जाएँ?
- मनुष्य, जीवित संसार और उन साधनों के बीच सच्चा सम्बन्ध क्या है जिन्हें हम रचते हैं?



चित्र 0.3 — वे छह प्रश्न जिनका उत्तर हमारे यंत्र नहीं दे सकते।

ये नए प्रश्न नहीं हैं। वस्तुतः ये उन प्राचीनतम प्रश्नों में से हैं जो किसी भी सभ्यता ने अनुशासन के साथ और विशाल पैमाने पर स्वयं से पूछे। भारत ने इन्हें तीन सहस्र वर्षों तक पूछा — निष्क्रिय तत्वमीमांसा के रूप में नहीं, अपितु जीवन के एक कार्यशील विज्ञान के रूप में, जिसे कक्षाओं और न्यायालयों में, मंदिरों और व्यापार-श्रेणियों में, चिकित्सा, संगीत, गणित और शासन में परखा गया। वह विरासत कभी किसी संग्रहालय में बैठने के लिए नहीं बनी थी। वह इसलिए बनी थी कि उसका अभ्यास हो, उस पर विवाद हो, उसका संचरण हो, और प्रत्येक एक पीढ़ी में उसका नवीनीकरण हो। अतः हमारा कार्य उसे वैसे सुरक्षित रखना नहीं है जैसे कोई अवशेष सुरक्षित रखा जाता है। हमारा कार्य उसे पुनः प्रवाह में लाना है।

यही कारण है कि प्रस्तुत कृति जितनी परम्परा के विषय में है उतनी ही तकनीक के विषय में भी। विगत दो शताब्दियों के अधिकांश काल में जो कोई किसी सभ्यतागत ज्ञान-प्रणाली को जीवित रखना चाहता था, वह एक निर्मम गणित का सामना करता था : ज्ञान विशाल था, योग्य शिक्षक थोड़े, ग्रंथ भंगुर, और संचरण के मार्ग टूट चुके थे। संरक्षण और पहुँच एक-दूसरे के विरुद्ध खिंचते थे। जो बदला है — अकस्मात्, और हमारे ही जीवनकाल में — वह यह कि अब हमारे पास ऐसे उपकरण हैं जो उस तनाव को सुलझाने में सक्षम हैं। ज्ञान-ग्राफ उन विचारों को पुनः जोड़ सकते हैं जिन्हें शताब्दियों के विखंडन ने अलग कर दिया। कृत्रिम बुद्धिमत्ता एक साथ प्रत्येक भारतीय भाषा में पढ़, अनुवाद और शिक्षण कर सकती है। डिजिटल प्रतिरूप किसी मंदिर, नगर अथवा उत्सव को ऐसे रूप में धार सकते हैं जिसका अध्ययन किया जा सके, जिससे

पुनर्स्थापना की जा सके, और जिसमें प्रवेश किया जा सके। स्थानिक तथा निमज्जित संगणन किसी अनुभव के वर्णन को पुनः स्वयं उस अनुभव में बदल सकते हैं। पहली बार, किसी प्राचीन जीवित परम्परा को एक आधुनिक तंत्रिका-तंत्र दिया जा सकता है।

संकट, निस्संदेह, स्पष्ट है, और यह पुस्तक उसे आद्यंत गम्भीरता से लेती है। तकनीक जिसे छूती है उसे समतल कर सकती है। वह किसी पवित्र आचरण को सामग्री तक, किसी शिक्षक को एक अंतराफलक तक, और किसी जीवित अनुशासन को एक खोज-योग्य आँकड़ा-कोष तक घटा सकती है। इस त्रयी का तर्क यह नहीं है कि यंत्रों को संचरण की उस मानवीय शृंखला का स्थान लेना चाहिए जो इस सभ्यता को आगे लाई है। तर्क इसके विपरीत है : कि ये साधन, सम्यक् दिशा में लगाए जाएँ, तो उस शृंखला की मरम्मत और विस्तार कर सकते हैं — टूटी कड़ियों को पुनः जोड़ते हुए, द्वारों को चौड़ा करते हुए, और लाखों लोगों को वह विरासत लौटाते हुए जो चुपचाप उनकी पहुँच से बाहर कर दी गई थी।

ये तीन खण्ड तीन प्रश्नों के चारों ओर व्यवस्थित हैं।

खण्ड एक — सभ्यतागत आधार

यह खण्ड पूछता है : क्यों। यह प्रस्तुत करता है कि सभ्यता वस्तुतः है क्या, सभ्यताएँ ज्ञान की गति पर क्यों उठती और गिरती हैं, भारत की ज्ञान-प्रणाली में क्या समाहित है, और संसार की समस्त परम्पराओं में से यही एक उन प्रश्नों के लिए अद्वितीय रूप से उपयुक्त क्यों है जो हमारे युग को अब पूछने पड़ रहे हैं। यही वह खण्ड है जो आपके हाथ में है।

खण्ड दो — डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र

यह खण्ड पूछता है : कैसे। यह पुनर्जीवन की मशीनरी का वर्णन करता है : सभ्यता के लिए कृत्रिम बुद्धिमत्ता, मंदिरों और नगरों के डिजिटल प्रतिरूप, निमज्जित तथा स्थानिक अनुभव, डिजिटल ज्ञान-ग्रिड, और दिव्य दृष्टि मंच का वह स्थापत्य जो इन सबको एक साथ बाँधता है।

खण्ड तीन — सजीव सभ्यता का निर्माण

यह खण्ड पूछता है : आगे क्या। यह अभिकल्प को कर्म के कार्यक्रम में बदलता है — शिक्षा तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति के लिए, शोध के लिए, विरासत और भाषा के संरक्षण के लिए,

और ऐसी वैश्विक सहभागिता के लिए जो उस सभ्यता के योग्य हो जिसने सदैव सम्पूर्ण मानवता के परिप्रेक्ष्य में सोचा है।



चित्र 0.2 — त्रयी : तीन खण्ड, तीन प्रश्न।

समग्र रूप में लिए जाएँ तो ये तीन खण्ड कुछ ऐसा प्रयास करते हैं जो न पीछे देखने वाले वाङ्मय ने अकेले किया है, न आगे देखने वाले ने। ये मात्र भारतीय ज्ञान प्रणालियों का प्रलेखन नहीं करते, और न ही मात्र तकनीक का उत्सव मनाते हैं। ये यह तर्क रखते हैं कि ये प्रणालियाँ शिक्षा, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, शासन, संस्कृति और मानव-उत्कर्ष के भविष्य को गढ़ने में एक अपरिहार्य साझीदार हैं — और ये व्यावहारिक विस्तार से प्रस्तुत करते हैं कि वह साझेदारी कैसे बनाई जा सकती है।

यदि यह कृति सफल होती है, तो वह किसी विषय पर लिखी पुस्तक से कम और किसी अनुशासन के संस्थापक दस्तावेज़ से अधिक पढ़ी जाएगी — ऐसे अनुशासन का, जिसका

अभी कोई निश्चित नाम नहीं है, किन्तु जिसे ये पृष्ठ डिजिटल भारतीय ज्ञान प्रणालियाँ कहेंगे : इसका अध्ययन कि कोई जीवित सभ्यता बुद्धिमान यंत्रों के युग में स्वयं को नवीनीकृत कैसे करती है।

कोई संशयवादी आरम्भ में ही यह आपत्ति उठा सकता है कि यह मूर्ख का उद्यम है — कि किसी जीवित परम्परा का डिजिटलीकरण उसे मारे बिना नहीं हो सकता, और पवित्र को सिलिकॉन में उतारना ठीक उसी वस्तु को खोना है जिसने उसे पवित्र बनाया। यह आपत्ति गम्भीरता से लिए जाने योग्य है, और यह पूरी त्रयी वस्तुतः उसका एक विस्तृत उत्तर ही है। संक्षिप्त उत्तर यह है कि लक्ष्य जीवित परम्परा को किसी डिजिटल प्रतिलिपि से प्रतिस्थापित करना नहीं, अपितु उन मार्गों की मरम्मत करना है जिनसे जीवित परम्परा बहती है — लोगों को शिक्षकों से, ग्रंथों को उनके अर्थों से, स्थानों को उनके महत्व से पुनः जोड़ना। किसी भोजन का छायाचित्र भोजन नहीं है; किन्तु वह मार्ग जो आपको रसोई तक पहुँचा दे, कुछ नहीं भी नहीं है। यहाँ प्रस्तावित साधन मार्ग हैं, प्रतिस्थापन नहीं।

एक और प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से कह देनी चाहिए, क्योंकि वह आगे के प्रत्येक पृष्ठ का शासन करती है। इस विरासत का पक्ष इतना सबल है कि उसे सत्यता से रखा जा सके, और वह केवल अतिशयोक्ति से दुर्बल होता है। जहाँ अभिलेख दृढ़ है — गणित में, खगोल में, भाषाविज्ञान में — वहाँ यह पुस्तक आत्मविश्वास से बोलती है; जहाँ परम्परा प्रमाण के स्थान पर दृष्टि और दर्शन प्रस्तुत करती है, वहाँ वह ऐसा कह देती है; और वह आद्यंत प्राचीन प्रज्ञा को किसी उधार ली गई वैज्ञानिक वेशभूषा पहनाने से इनकार करती है, जिसकी उसे न आवश्यकता है न वह उसकी अधिकारी है। पाठक विश्वास कर सकता है कि यहाँ किए गए दावे परीक्षण में टिकने के लिए हैं, भोले-भाले को प्रभावित करने के लिए नहीं — क्योंकि अतिकथन पर खड़ी रक्षा पहले ही ईमानदार प्रश्न पर ढह जाती है, और यह विरासत ऐसी रक्षा की अधिकारी है जो टिकी रहे।

हम वहीं से आरम्भ करते हैं जहाँ से ऐसी कोई भी जिज्ञासा आरम्भ होनी चाहिए — आरम्भ से ही, इस प्रश्न से कि सभ्यताएँ महत्वपूर्ण क्यों हैं।

सभ्यताएँ क्यों महत्वपूर्ण हैं

इससे पूर्व कि हम पूछें कि भारत ने क्या जाना, हमें यह पूछना होगा कि सभ्यता है क्या, और ज्ञान की गति उसका भाग्य क्यों तय करती है।

अध्याय एक:
सभ्यताएँ क्यों उठती हैं

किसी सभ्यता को उन वस्तुओं से भ्रमित कर लेना सहज है जो वह पीछे छोड़ जाती है। हम खंडहरों में जाते हैं, स्मारकों की प्रशंसा करते हैं, सिक्कों और अभिलेखों की सूची बनाते हैं, और कल्पना कर लेते हैं कि सभ्यता यही थी। किन्तु वे पत्थर केवल अवशेष हैं। सभ्यता वस्तुओं का संग्रह नहीं होती; वह ज्ञात बातों और मूल्यवान मानी गई बातों का संचय होती है, जो जीवित मनों में वहन होकर एक पीढ़ी से दूसरी तक जाती है। जब कोई सभ्यता मरती है, तब उसके भवन सहस्र वर्षों तक खड़े रह सकते हैं। जो वस्तुतः समाप्त होता है, वह है जानने और अर्थ का वह प्रवाह जो कभी उनमें बहता था।

यह भेद जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह सभ्यता को उन अनेक वस्तुओं से पृथक् करता है जिनसे वह प्रायः भ्रमित कर दी जाती है। राज्य प्रशासन का यंत्र है; वह कर एकत्र करता है, व्यवस्था रखता है और सीमा की रक्षा करता है। साम्राज्य विजय का यंत्र है; वह उन जनों पर सत्ता फैलाता है जिन्होंने उसे चुना नहीं। अर्थव्यवस्था विनिमय का यंत्र है; वह वस्तुओं, श्रम और धन को गतिशील करती है। राज्य, साम्राज्य और अर्थव्यवस्थाएँ — तीनों उठ और गिर सकते हैं बिना इसके कि कोई सभ्यता उनके साथ उठे या गिरे; और कोई सभ्यता इन तीनों को अतिजीवित कर सकती है। भारत अनेक राज्यों द्वारा शासित रहा, कई साम्राज्यों में समाहित हुआ, और अत्यंत भिन्न अर्थव्यवस्थाओं से संगठित हुआ — और इन सबके बीच पहचानने योग्य रूप से एक ही सभ्यता बना रहा। इसका कारण यह है कि सभ्यता इससे परिभाषित नहीं होती कि उस पर कौन शासन करता है, अपितु इससे कि वह क्या स्मरण रखती है, क्या पवित्र मानती है, और अगली पीढ़ी को संसार देखना कैसे सिखाती है।

यदि सभ्यता यही है, तो "सभ्यताएँ क्यों उठती हैं" इस प्रश्न का एक ऐसा उत्तर है जिसकी प्रायः उपेक्षा होती है। हम सभ्यताओं के उत्थान को उनके भौतिक लाभों से समझाना चाहते हैं — कोई उपजाऊ नदी-घाटी, कोई सुरक्षित भूगोल, धातु अथवा अन्न की प्रचुरता। ये वस्तुएँ महत्वपूर्ण हैं; कोई सभ्यता कभी रिक्त उदर पर नहीं उठी। किन्तु भौतिक लाभ सामान्य है, जबकि सभ्यता दुर्लभ। अनेक जन महान नदियों और समृद्ध भूमि पर बसे और उनसे कोई स्थायी सभ्यता

नहीं उपजी, जबकि अन्य मरुभूमियों में और पर्वतों की पतली सीढ़ियों पर फले-फूले। निर्णायक तत्व यह नहीं कि किसी जन के पास क्या है, अपितु यह कि वह अपने ज्ञात के साथ क्या करता है।

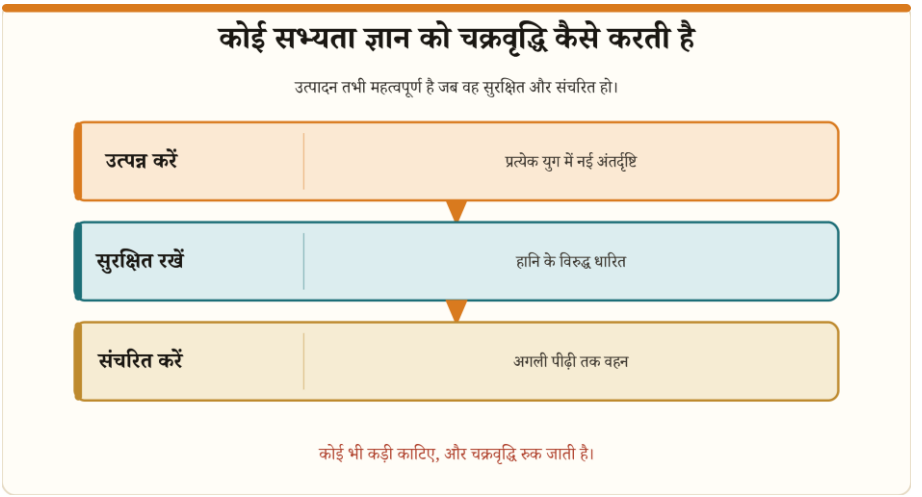

चित्र 1.1 — उत्पन्न करना, सुरक्षित रखना, संचरित करना : कोई सभ्यता ज्ञान को कैसे चक्रवृद्धि करती है।

अंततः सभ्यताएँ तीन कार्यों को भली प्रकार कर सकने की सामर्थ्य पर उठती हैं। प्रथम, उन्हें ज्ञान उत्पन्न करना होता है — संसार के विषय में, मनुष्य के विषय में, साथ रहने की रीति के विषय में, और इस विषय में कि जीने योग्य क्या है। द्वितीय, उन्हें उस ज्ञान को सुरक्षित रखना होता है, विस्मृति, विकृति और मृत्यु के निरंतर क्षरण से उसकी रक्षा करते हुए। और तृतीय, जो सबसे कठिन है, उन्हें उसे संचरित करना होता है — ताकि जो एक पीढ़ी ने कष्टपूर्वक सीखा वह लुप्त न हो, अपितु आगे बढ़े, और आदर्शतः निर्जीव सूचना के रूप में नहीं, अपितु ऐसी समझ के रूप में जिसे कोई युवा वस्तुतः काम में ला सके। जो सभ्यता तीनों करती है, और अनेक क्षेत्रों में एक साथ करती है, वह कुछ ऐसा संचित करती है जो कोई एक जीवन उत्पन्न नहीं कर सकता : मनुष्य होने के विषय में एक गहन, साझा, अंतर-पीढ़ीगत बुद्धि। वही संचित बुद्धि है जिसे हम भीतर से संस्कृति के रूप में अनुभव करते हैं, और बाहर से सभ्यता के रूप में पहचानते हैं।

यही कारण है कि किसी भी सभ्यता के वास्तव में निर्णायक आविष्कार वे विरले ही होते हैं जो लोकप्रिय कल्पना में आते हैं। हम पहिये, हल, मेहराब और मुद्रण-यंत्र का उत्सव मनाते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक के पीछे आविष्कारों की एक अधिक शांत और अधिक शक्तिशाली श्रेणी खड़ी है : ज्ञान को जीवित और गतिशील रखने के उपायों का आविष्कार। लिपि ऐसा ही आविष्कार थी। विद्यालय भी। शिष्यत्व भी, और श्रेणी, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय भी — और भारतीय संदर्भ में गुरुकुल, गुरु और शिष्य की परम्परा, तथा वह कंठस्थ आवृत्ति जो किसी एक पांडुलिपि के बिना भी किसी पाठ को सहस्र वर्ष तक अक्षुण्ण ले जा सकती थी। ये ही सभ्यता के सच्चे इंजन हैं, क्योंकि ये संचरण के इंजन हैं। जो समाज संचरण में निपुण होता है, वह अपने ज्ञान को ब्याज की भाँति चक्रवृद्धि करता है। जो इसकी उपेक्षा करता है, वह प्रत्येक पीढ़ी को आरम्भ के निकट से प्रारम्भ कराता है।

एक बार यह स्पष्ट देख लेने पर भारत एक विशेष प्रकार से केंद्र में आ जाता है। विश्व की सभ्यताओं में भारत वही है जिसने ज्ञान को — विद्या को — अपने मूल्यों के मापदंड के शिखर पर स्थापित किया। सम्पत्ति को नहीं, यद्यपि उसने समृद्धि को मूल्य दिया। विजय को नहीं, यद्यपि उसने युद्ध जाना। संकुचित अर्थ में धार्मिकता को भी नहीं, अपितु सम्यक् रूप से समझे गए ज्ञान को मनुष्य की सर्वोच्च उपलब्धि और मुक्ति के निकटतम वस्तु माना। कोई भी सभ्यता स्वयं को उसी के चारों ओर संगठित करती है जिसे वह सर्वाधिक पवित्र मानती है, और भारत ने स्वयं को उल्लेखनीय सीमा तक ज्ञान की खोज, रक्षा और संचरण के चारों ओर संगठित किया। उसका सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति योद्धा अथवा व्यापारी नहीं, अपितु ऋषि और गुरु था। उसकी सर्वाधिक चिरस्थायी संस्थाएँ विद्या की संस्थाएँ थीं। उसके सद्जीवन का आदर्श संचय में नहीं, अपितु समझ में परिणत होता था।

यह कितना असामान्य है, इस पर ठहरना उचित है। अधिकांश सभ्यताएँ ज्ञान को साधन मानती हैं — निर्माण, व्यापार, शासन और युद्ध के लिए उपयोगी। भारत ने उसे अपनी उच्चतम पहुँच पर साध्य माना : अपने ही निमित्त खोजने योग्य, और दुःख से मुक्ति का मार्ग भी। यही कारण है कि ज्ञान के चारों ओर संगठित सभ्यता उस सभ्यता से भिन्न आचरण करती है जो शक्ति अथवा सम्पत्ति के चारों ओर संगठित हो। वह ऐसे मंदिर बनाती है जो विश्वविद्यालय भी हैं। वह ऐसा दर्शन रचती है जो काव्य भी है। वह ऐसा गणित विकसित करती है जो तत्वमीमांसा से गुँथा है, ऐसा खगोल जो अनुष्ठान से गुँथा है, ऐसी चिकित्सा जो मनुष्य के सम्पूर्ण सिद्धांत से गुँथी है। और वह सबसे बढ़कर संचरण की एक असाधारण मशीनरी विकसित करती है —

क्योंकि जो सभ्यता जानने की उपासना करती है, वह अपनी गहनतम प्रतिभा यह सुनिश्चित करने में लगाएगी कि जानना मरे नहीं।

ठहरकर यह विचार करना उचित है कि निर्णायक वस्तु संचरण क्यों है, मात्र उत्पादन क्यों नहीं। प्रतिभाओं की कोई एक पीढ़ी, चाहे कितनी ही तेजस्वी हो, सभ्यता नहीं बनाती; उनकी अंतर्दृष्टियाँ उनके साथ ही मर जाती हैं यदि वे झेली, धारण की और आगे सौंपी न जाएँ। किसी सभ्यता को जो पृथक् करता है वह यह है कि वह संचयी होती है — कि प्रत्येक पीढ़ी शून्य से नहीं, अपितु उन सबकी संचित समझ से आरम्भ करती है जो पूर्व आए। अतः किसी सभ्यता की सच्ची सम्पत्ति उसके जीवित सदस्य संयोगवश जो जानते हैं उसका योग नहीं है, अपितु वह उस विरासत की गहराई है जो उन्हें प्राप्त हुई और वह निष्ठा जिससे वे उसे आगे बढ़ाएँगे। कोई जन व्यक्तिगत रूप से चतुर और सामूहिक रूप से उथला हो सकता है; सभ्यता इसकी विपरीत है — साझा समझ का एक विशाल, धैर्यपूर्ण संचय, जिसे कोई एक मन कभी धार ही नहीं सकता।

इस बात को दो ऐसे समाजों की कल्पना करके तीखा किया जा सकता है जिन्हें समान संसाधन प्राप्त हों — वही भूमि, वही नदियाँ, वही कच्ची सामग्री — किन्तु जो केवल एक बात में भिन्न हों : पहले ने ज्ञान को पीढ़ियों के पार आगे ले जाने की कला में प्रभुत्व पा लिया है, और दूसरे ने नहीं। कुछ ही शताब्दियों में दोनों पहचान से परे हो जाएँगे। पहला अपनी विद्या को इतना चक्रवृद्धि कर चुका होगा कि उसे चिकित्सा, स्थापत्य, गणित और विधि पर अधिकार होगा; दूसरा प्रत्येक पीढ़ी में वही पुनः सीख रहा होगा जो पिछली ने कष्ट से खोजा और फिर संचरित करने में असफल रही। उनके बीच का अंतर बुद्धि अथवा उद्यम नहीं होगा, अपितु एक ही सभ्यतागत तकनीक की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति होगी : काल के पार, एक साथ, स्मरण रख सकने की सामर्थ्य।

किसी सभ्यता को पहचानने का एक मार्ग वे प्रश्न हैं जिन्हें पूछना वह रोक नहीं पाती। प्रत्येक संस्कृति उत्तरजीविता के व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर देती है; सभ्यता अपनी चिरस्थायी व्यग्रताओं से चिह्नित होती है — वे प्रश्न जिन पर वह शताब्दियों के पार, ग्रंथ-दर-ग्रंथ और पीढ़ी-दर-पीढ़ी लौटती है, क्योंकि वह उन्हें स्वयं उत्तरजीविता से अधिक महत्वपूर्ण मानती है। भारत के लिए ये सबसे बढ़कर स्व के, चेतना के, सम्यक् कर्म के और यथार्थ के स्वभाव के प्रश्न थे। किसी सभ्यता की महत्ता उन उत्तरों में कम निहित है जो वह नियत करती है, और उन

प्रश्नों की गहराई तथा दृढ़ता में अधिक जिन्हें वह जीवित रखती है, तथा उस गम्भीरता में जिससे वह उन्हें आगे सौंपती है।

हम सभ्यताओं के भौतिक आविष्कारों का उत्सव मनाते हैं — पहिया, मेहराब, मुद्रण-यंत्र — और उन सूक्ष्मतर आविष्कारों की उपेक्षा करते हैं जिन पर वे सब निर्भर हैं : पाठशाला, शिष्यता, पुस्तकालय, परीक्षा, परम्परा। ये ही सभ्यता के सच्चे इंजन हैं, क्योंकि केवल ये ही ज्ञान को चक्रवृद्धि होने देते हैं, न कि उसे धारण करने वाली प्रत्येक पीढ़ी के साथ मर जाने। सभ्यता, एक अर्थ में, अपनी संचरण-तकनीकें ही है; और भारत का गहनतम आविष्कार उसके द्वारा बनाई गई कोई वस्तु नहीं थी, अपितु वह असाधारण मशीनरी थी जो उसने ज्ञान को अक्षुण्ण और जीवित रूप में शताब्दियों के पार ले जाने के लिए बनाई।

तो यहाँ वह तर्क है जो इस पुस्तक का आरम्भ करता है और आगे सब कुछ में प्रवाहित रहता है। सभ्यताएँ ज्ञान की गति पर उठती हैं। वे तब उठती हैं जब ज्ञान उत्पन्न होता है, सुरक्षित रहता है, और — सर्वाधिक निर्णायक रूप से — संचरित होता है, जिससे मृतकों का कठिनाई से अर्जित ज्ञान युवाओं की जीवित प्रज्ञा बन जाता है। भारत ठीक इसी रीति से, ठीक इसी मूल्य के चारों ओर निर्मित सभ्यता का आदर्श उदाहरण है, और उसने उसके अनुरूप संचरण की मशीनरी विकसित की। इससे तत्काल और अनिवार्य रूप से विपरीत प्रश्न उठता है। यदि सभ्यताएँ तब उठती हैं जब ज्ञान बहता है, तो तब क्या होता है जब वह प्रवाह बाधित हो जाए? जब वे मार्ग अवरुद्ध, विच्छिन्न अथवा गाद से भर जाएँ जो किसी सभ्यता को आगे ले जाते हैं? यही अगले अध्याय का विषय है।

और जानें · *सभ्यताएँ क्यों उठती हैं — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch1

अध्याय दो:
जब ज्ञान बहना बंद कर देता है

सभ्यताएँ प्रायः उस रीति से नहीं मरतीं जिस रीति से हम उनका मरना कल्पित करते हैं। लोकप्रिय मन में जो चित्र है वह नाटकीय और आकस्मिक है : किसी महान नगर का ध्वंस, किसी प्रसिद्ध पुस्तकालय का दहन, प्राचीर पर गिरता हुआ अंतिम रक्षक। ऐसे क्षण वास्तविक हैं, और वे भयावह भी हैं। किन्तु वे किसी सभ्यता के अंत का सच्चा कारण प्रायः कभी नहीं होते। कोई नगर ध्वस्त होकर पुनः बस सकता है; कोई पुस्तकालय जल सकता है और उसके ग्रंथ अन्यत्र प्रतिलिपियों में बचे रह सकते हैं; कोई राजवंश गिर सकता है और उसका ज्ञान सहस्र वर्षों तक उसे अतिजीवित कर सकता है। जो वस्तुतः किसी सभ्यता को मारता है वह अधिक शांत, अधिक मंद और घटित होते समय देख पाना कहीं अधिक कठिन है। कोई सभ्यता तब मरती है जब ज्ञान बहना बंद कर देता है।

पिछले अध्याय का तर्क स्मरण कीजिए। सभ्यता जानने और अर्थ की एक जीवित धारा है, जो पीढ़ियों के पार उत्पन्न, संरक्षित और संचरित होती है। इन तीनों कार्यों में से प्रत्येक विफल हो सकता है। किन्तु प्रथम दो विफलताएँ उस रीति से सहनीय हैं जिस रीति से तृतीय नहीं। यदि कोई सभ्यता कुछ काल के लिए नया ज्ञान उत्पन्न करना बंद कर दे, तो वह अपनी विरासत पर जी सकती है और बाद में पुनः आरम्भ कर सकती है। यदि उसके संरक्षित ज्ञान का कुछ अंश नष्ट हो जाए, तो हानि गम्भीर है किन्तु प्रायः आंशिक और कभी-कभी पुनःप्राप्य। यह संचरण की विफलता है — जानने वाली पीढ़ी और सीखने वाली पीढ़ी के बीच की कड़ी का टूटना — जो घातक है। क्योंकि संचरण ही वह एक कार्य है जिसे स्थगित नहीं किया जा सकता। जो ज्ञान जीवित स्मृति की अवधि के भीतर आगे नहीं बढ़ाया गया, वह केवल विलम्बित नहीं होता; वह चला जाता है, क्योंकि जो लोग उसे वहन करते थे वे चले गए, और कोई पाठ उसे पूर्णतः पुनर्रचित नहीं कर सकता जिसे केवल कोई जीवित अभ्यासी जानता था।

विचार कीजिए कि किसी भी वास्तविक ज्ञान का कितना बड़ा भाग पृष्ठ पर नहीं, अपितु व्यक्ति में बसता है। रागों की कोई पांडुलिपि संगीत नहीं है; संगीत उस गायक में बसता है जो जानता है कि उस स्वर-लिपि को गाया कैसे जाना है, कहाँ ठहरना है, कहाँ चिह्न मौन हो जाते हैं। मंदिर-निर्माण पर कोई ग्रंथ मंदिर नहीं है; मंदिर उन स्थपतियों की श्रेणी में बसता है जो उन

सहस्र अलिखित निर्णयों को जानते हैं जो किसी विनिर्देश को खड़े हुए देवालय में बदल देते हैं। कोई व्याकरण भाषा नहीं है; भाषा उस समुदाय में बसती है जो अब भी उसमें सोचता है। प्रत्येक क्षेत्र में लिखित अभिलेख एक संकुचित स्मरण-चिह्न है, जो ऐसे व्यक्ति को सम्बोधित है जो जीवित परम्परा को पहले से अपने शरीर और मन में वहन करता है। उस जीवित परम्परा को काट दीजिए, और वह अभिलेख एक बंद द्वार बन जाता है जिसकी कुंजी खो चुकी है। यही कारण है कि संचरण की मृत्यु वस्तुओं के विनाश से इतनी अधिक संकटपूर्ण है। वस्तुएँ पूर्ण रूप से बची रह सकती हैं और फिर भी अपठनीय हो सकती हैं, क्योंकि जो लोग उन्हें पढ़ सकते थे वे अब नहीं रहे।

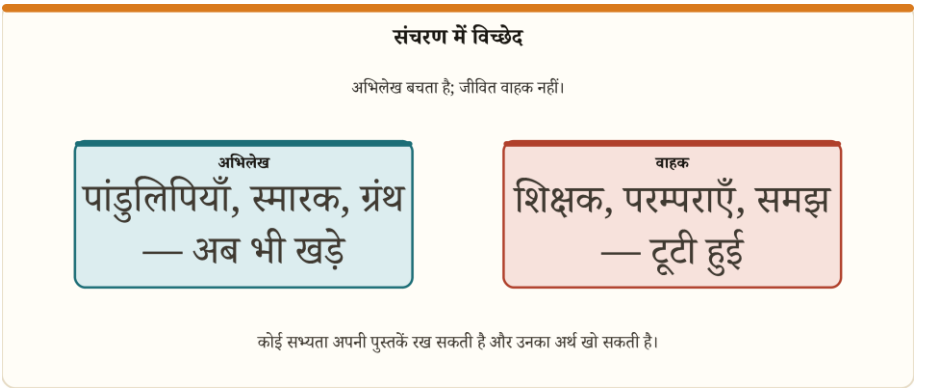

चित्र 2.1 — संचरण में विच्छेद : अभिलेख बचता है; जीवित वाहक नहीं।

संचरण टूटता कैसे है? कभी वह उपेक्षा से मंद गति से टूटता है — जब कोई समाज उसे मूल्य देना बंद कर देता है जिसे वह कभी अमूल्य मानता था, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे पढ़ाना भूलता जाता है, जब तक कि किसी दिन कोई ऐसा शेष न रहे जो उसे स्मरण रखता हो। कभी वह भाषा के परिवर्तन से टूटता है, जब वह जिह्वा जिसमें कोई ज्ञान कूटबद्ध था दैनिक प्रयोग से बाहर हो जाती है और उसके ग्रंथ पहुँच से परे चले जाते हैं। और कभी वह सुविचारित विच्छेद से टूटता है — जब वे संस्थाएँ ही ध्वस्त करके प्रतिस्थापित कर दी जाती हैं जो संचरण को वहन करती थीं, जिससे गुरु और शिष्य की शृंखला केवल दुर्बल नहीं होती, अपितु कट जाती है।

भारत ने इस अंतिम और सर्वाधिक गम्भीर प्रकार का विच्छेद ऐतिहासिक स्मृति के भीतर अनुभव किया है, और उसका वर्णन स्पष्ट रूप से करना आवश्यक है — न अतिशयोक्ति के

साथ, न अस्वीकार के साथ — क्योंकि यह पुस्तक जिस कार्य को सम्बोधित करने चली है उसका बहुत बड़ा भाग उसी से निकलता है। अपने इतिहास के अधिकांश काल में भारत ने विश्व की सर्वाधिक सघन और सर्वाधिक व्यापक रूप से वितरित शिक्षा-व्यवस्थाओं में से एक को टिकाए रखा — गुरुकुलों, पाठशालाओं, मकतबों और मंदिर-विद्यालयों का एक ऐसा ताना-बाना जो गाँवों की गहराई तक पहुँचता था और सामाजिक क्रम के विभिन्न स्तरों से विद्यार्थी लेता था। उन्नीसवीं शताब्दी में औपनिवेशिक प्रशासन के अंतर्गत राज्य का समर्थन और वैधता निर्णायक रूप से एक नई व्यवस्था की ओर मोड़ दी गई, जो अंग्रेज़ी में संचालित थी और अंग्रेज़ी प्रतिमान पर आधारित। घोषित आशय, जो 1835 के मैकॉले के शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञापन में सर्वाधिक प्रसिद्ध रूप से व्यक्त हुआ, यह था कि शासकों और शासितों के बीच मध्यस्थों का एक वर्ग तैयार किया जाए। आगामी दशकों में इसका प्रभाव यह हुआ कि देशी व्यवस्था संरक्षण और प्रतिष्ठा से वंचित होती गई जबकि नई व्यवस्था उन्नति का एकमात्र द्वार बन गई। संचरण के पुराने मार्ग रातोंरात लुप्त नहीं हुए, किन्तु वे संसाधनों, प्रतिष्ठा और युवाओं की महत्वाकांक्षाओं से कट गए, और जिस व्यवस्था ने सहस्राब्दियों तक स्वयं को नवीनीकृत किया था, उसे कुछ ही पीढ़ियों में नए शिक्षकों और विद्यार्थियों की आपूर्ति घटती हुई मिली।

उस विच्छेद के परिणाम आज भी हमारे साथ हैं, और वे सूक्ष्म हैं। बात केवल यह नहीं कि कुछ विशेष ग्रंथ विस्मृत हो गए, यद्यपि अनेक हुए। बात यह है कि एक सम्पूर्ण सभ्यता को व्यवस्थित रूप से और दीर्घ काल तक यह सिखाया गया कि वह अपने ही ज्ञान को अतीत माने और किसी अन्य के ज्ञान को भविष्य — कि वह अपनी विरासत को किसी जीवित संसाधन के रूप में नहीं, अपितु किसी कौतुक के रूप में अनुभव करे। संचरण में आया व्यवधान अपनी गहनतम क्षति ज्ञान को नष्ट करके नहीं, अपितु किसी जन और उसके ज्ञान के बीच के सम्बन्ध को नष्ट करके करता है, जिससे जो बच भी जाता है वह अपना अनुभव नहीं होता। ग्रंथों को पुनः प्राप्त करना सरल समस्या है। उस सम्बन्ध को पुनः प्राप्त करना कठिन समस्या है, और यहाँ हमारी चिंता मुख्यतः वही है।

हमारी वर्तमान स्थिति में एक क्रूर विडम्बना है, और वह इस सम्पूर्ण समस्या को तीखा कर देती है। हमसे कहा जाता है कि हम ज्ञान तक अभूतपूर्व पहुँच के युग में जी रहे हैं, और एक संकुचित अर्थ में यह सत्य भी है : इससे पूर्व कभी इतनी सूचना इतने लोगों को इतने सस्ते में उपलब्ध नहीं थी। फिर भी यह पूर्णतः सम्भव है कि सूचना प्रचुर हो और संचरण ढह चुका हो।

आज कोई युवा क्षणों में किसी ऐसी स्कैन की गई पांडुलिपि तक पहुँच सकता है जिसकी व्याख्या अब कोई जीवित शिक्षक उसके लिए नहीं कर सकता, जो ऐसी भाषा में है जिसे वह पढ़ नहीं सकता, और जो किसी ऐसे आचरण से जुड़ी है जिसे उसने कभी देखा नहीं। सूचना संरक्षित हो गई है। संचरण नहीं हुआ है। हमने अभिलेखों के डिजिटलीकरण को ज्ञान का अतिजीवन मान लिया है, और ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं। कोई सभ्यता सूचना में डूब सकती है और फिर भी उस जीवित समझ के लिए भूखी रह सकती है जो केवल संचरण देता है।

इतिहास इस मौन विपत्ति के अनेक चित्र प्रस्तुत करता है। अलेक्ज़ांड्रिया के महान पुस्तकालय का दहन लुप्त ज्ञान का प्रतीक बन गया है, फिर भी गहनतर हानि स्वयं वे ग्रंथ-वेष्टन नहीं थे, अपितु विद्वानों का वह समुदाय और विद्या की वह परम्परा थी जिसने उन्हें अर्थ दिया; पुस्तकालय पुनः बनाए जा सकते हैं, किन्तु कटी हुई परम्परा को पुनर्स्थापित करना कहीं कठिन है। जब रोमन संसार के पश्चिमी भाग की ग्रीक पर पकड़ छूटी, तब प्राचीनता की अधिकांश विद्या शताब्दियों तक उसके लिए एक बंद पुस्तक बन गई — नष्ट नहीं, अपितु अपठनीय — और वह लैटिन पश्चिम में धीरे-धीरे ही लौटी, अनुवाद के एक दीर्घ श्रम से होकर, जिसका बहुत बड़ा भाग उस अरबी-भाषी संसार के माध्यम से आया जिसने उस प्रवाह को जीवित रखा था। यह पाठ सभ्यताओं के पार बार-बार आता है : ज्ञान तब नहीं मरता जब उसके अभिलेख नष्ट होते हैं, अपितु तब जब वह जीवित शृंखला टूट जाती है जो उन्हें पढ़ और प्रयुक्त कर सकती थी।

भारतीय विच्छेद की अपनी एक सुनिश्चित प्रक्रिया थी, और उसे स्पष्ट रूप से नाम देना उचित है। शिक्षा के औपनिवेशिक पुनर्गठन ने पाठ्यक्रम में मात्र अंग्रेज़ी जोड़ी ही नहीं; उसने राज्य के संरक्षण और प्रतिष्ठा को एक नई प्रणाली की ओर मोड़ दिया और पुरानी से हटा लिया, जिससे उन्नति, रोज़गार और सामाजिक स्थान केवल नई विद्या पर निर्भर हो गए। उस काल के कुख्यात सूत्रीकरण में घोषित लक्ष्य मध्यस्थों का एक वर्ग बनाना था — रक्त और वर्ण में भारतीय, किन्तु रुचि और बुद्धि में अंग्रेज़। पीढ़ियों में चक्रवृद्धि होकर उसका प्रभाव यह हुआ कि एक सभ्यता को यह सिखा दिया गया कि वह अपनी ही विशाल विरासत को अतीत माने और किसी और की विरासत को भविष्य, और वे मार्ग जो सहस्राब्दियों तक उसका ज्ञान वहन करते रहे थे, ऐसे विद्यार्थियों के अभाव में सूखने के लिए छोड़ दिए गए जिन्हें उनमें कोई प्रयोजन दिखाई देता।

टूटे हुए संचरण का सम्भवतः सबसे निर्मम लक्षण यह है कि जब वह घट रहा होता है तब वह लगभग अदृश्य रहता है। भवन अब भी खड़े हैं, पांडुलिपियाँ अब भी अपनी अलमारियाँ भरती हैं, उत्सव अब भी, कुछ काल तक, मनाए जाते हैं; कुछ भी लुप्त होता प्रतीत नहीं होता। केवल धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता है कि आचरण अपने अर्थों के बिना रूप बन गए हैं, पांडुलिपियाँ अपने भाव के बिना चिह्न, और परम्परा बिना समझे पहनी गई एक वेशभूषा। जब तक हानि दिखाई देती है तब तक वह बहुत आगे बढ़ चुकी होती है, क्योंकि जो पहले टूटता है वह बाह्य चिह्न नहीं, अपितु आंतरिक बोध है — वह जीवित समझ जिसने उन चिह्नों को उनका जीवन दिया। यही कारण है कि कोई सभ्यता एक शताब्दी तक मरती रह सकती है इससे पूर्व कि उसे इसका भान हो।

फिर भी यह तथ्य ही कि प्रवाह बाधित किया जा सकता है, इसका अर्थ है कि उसे, सिद्धांततः, पुनर्स्थापित भी किया जा सकता है, और यहाँ इतिहास चेतावनी के साथ-साथ आशा भी देता है। जो ज्ञान किसी भी रूप में बचा रहता है — किसी पाठ में, किसी अंश में, अथवा कुछ अंतिम आचार्यों की स्मृति में — उसे कभी-कभी पुनः जीवन में लाया जा सकता है यदि संकल्प और साधन मिल जाएँ, जैसे प्राचीनता की विद्या यूरोप में वापस ले जाई गई, अथवा जैसे कोई लगभग विस्मृत शिल्प किसी वृद्ध आचार्य के चरणों में बैठे किसी दृढ़ शिष्य द्वारा पुनर्जीवित कर लिया जाता है। मार्ग, एक बार टूट जाने पर, कठिन हैं किन्तु सदा असम्भव नहीं; और सभ्यतागत पैमाने पर उनका पुनर्निर्माण ठीक वही कार्य है जिसका पक्ष रखने के लिए यह पुस्तक विद्यमान है।

किन्तु यह निदान, जितना असुविधाजनक है, अपने भीतर एक उपचार का आकार भी रखता है — और यही वह उपचार है जिसका वर्णन करने के लिए यह त्रयी अस्तित्व में है। यदि सभ्यताएँ इसलिए क्षीण होती हैं कि संचरण के मार्ग टूट जाते हैं, तो किसी भी युग का गहनतम सांस्कृतिक कार्य उन मार्गों की मरम्मत और नवीनीकरण है। हमारे क्षण में जो वस्तुतः नया है वह यह है कि उस विच्छेद के पश्चात् पहली बार हमारे पास ऐसे साधन हैं जो संचरण को सभ्यतागत पैमाने पर पुनर्निर्मित करने में सक्षम हैं : ऐसे साधन जो लुप्त भाषाओं के पार अनुवाद कर सकते हैं, विच्छिन्न संदर्भों को पुनः जोड़ सकते हैं, और निर्जीव अभिलेखों को पुनः जीवित, शिक्षण-योग्य तथा प्रवेश-योग्य ज्ञान में बदल सकते हैं। वे साधन इस पतन को गहरा करेंगे अथवा उसे उलटेंगे, यह पूर्णतः इस पर निर्भर है कि हम उनका उपयोग कैसे करते हैं। उनका भली प्रकार उपयोग करने के लिए हमें पहले ठीक-ठीक यह समझना होगा कि हम जिसे जीवित

रखने का प्रयास कर रहे हैं वह किस प्रकार की वस्तु है — सूचना का ढेर नहीं, अपितु एक जीवित ज्ञान-प्रणाली। यही अगले अध्याय का विषय है।



और जानें · *जब ज्ञान बहना बंद कर देता है — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch2

अध्याय तीन:
सभ्यताएँ जीवित ज्ञान-प्रणालियाँ हैं

हमने कहा कि सभ्यताएँ ज्ञान के प्रवाह पर उठती हैं और उस प्रवाह के टूटने पर क्षीण होती हैं। अब समय है कि इस केंद्रीय विचार को परिशुद्ध किया जाए, क्योंकि इस पुस्तक में आगे जो कुछ है — और आगामी खण्डों में प्रस्तावित प्रत्येक तकनीक — वह सब इसी को ठीक-ठीक समझने पर निर्भर है। विचार यह है : किसी सभ्यता को ज्ञान के भंडार के रूप में नहीं, अपितु जीवित ज्ञान-प्रणाली के रूप में समझना सर्वोत्तम है। इन दोनों वाक्यांशों का अंतर वही है जो किसी पुस्तकालय और किसी मन के बीच है, किसी बीज-भंडार और किसी वन के बीच, और किसी दराज़ में बंद स्वर-लिपि तथा किसी सभागार को भरती हुई सिम्फ़नी के बीच।

चार बातें किसी जीवित ज्ञान-प्रणाली को सूचना के मात्र भंडार से पृथक् करती हैं। प्रथम यह कि उसका ज्ञान देह-धारित होता है। वह मुख्यतः किसी सतह पर बने चिह्नों के रूप में विद्यमान नहीं रहता; वह लोगों में रहता है, उनकी प्रशिक्षित दृष्टि और अभ्यस्त कौशल में, और उन वस्तुओं, भवनों तथा आचरणों में जिन्हें लोगों ने गढ़ा है। आयुर्वेद का ज्ञान उस चिकित्सक में बसता है जो नाड़ी पढ़ सकता है; किसी मंदिर का ज्ञान स्थपति के हाथों में बसता है; किसी राग का ज्ञान गायक के कान में। द्वितीय यह कि उसका ज्ञान संचरित होता है। वह उनसे जो उसे धारण करते हैं उन तक निरंतर बहता है जो उसे आगे धारण करेंगे — शिक्षण, अनुकरण, संशोधन और साझा अभ्यास के माध्यम से — जिससे किसी एक वाहक की मृत्यु का अर्थ उस वस्तु की मृत्यु नहीं होता जिसे वह वहन करता था। तृतीय यह कि उसका ज्ञान प्रयुक्त होता है। वह अलंकार के रूप में नहीं रखा जाता, अपितु काम में लाया जाता है — रोग हरने, निर्माण करने, शासन करने, कृषि करने, रचना करने और निर्णय लेने के लिए — और प्रयोग में आते हुए वह निरंतर यथार्थ की कसौटी पर कसा और परिष्कृत होता रहता है। और चतुर्थ, जो सर्वाधिक सूक्ष्म और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, यह कि उसका ज्ञान नवीनीकृत होता है। कोई जीवित प्रणाली केवल वही नहीं दोहराती जो उसे मिला; प्रत्येक पीढ़ी उस विरासत की पुनर्व्याख्या अपनी परिस्थितियों के प्रकाश में करती है, जिससे परम्परा बदलते हुए भी स्वयं से निरंतर बनी रहकर जीवित रहती है।

इन चार लक्षणों को उनके विपरीत के सामने रखिए और हमारे युग का संकट स्पष्ट हो जाता है। जो सूचना देह-रहित, असंचरित, अप्रयुक्त और अनवीनीकृत हो, वह जीवित अर्थ में ज्ञान है ही नहीं; वह जीवाश्म है। वह पूर्ण रूप से संरक्षित हो सकती है — वस्तुतः जीवाश्म अपने शुद्धतम रूप में संरक्षण ही हैं — किन्तु संरक्षण ने ही जीवन का स्थान ले लिया है। किसी अभिलेखागार में बंद, अपठित और अशिक्षणीय पांडुलिपि ज्ञान का जीवाश्म है। यही वह निर्णायक बिंदु है जिसे भंडारण और खोज से मत्त हमारा युग सर्वाधिक चूकने वाला है। किसी ऐसे पाठ का डिजिटलीकरण जिसे अब कोई पढ़ नहीं सकता, और उसे किसी से न जोड़ना, किसी शव को अत्यंत निष्ठा से संरक्षित करना है। किसी जीवित सभ्यता का लक्ष्य संरक्षण नहीं है। लक्ष्य पुनर्जीवन है — ज्ञान को पुनः देह, संचरण, प्रयोग और नवीनीकरण में लाना। पुनर्जीवन के बिना संरक्षण केवल शव-लेपन है।



चित्र 3.1 — एक जीवित ज्ञान-प्रणाली — और उसका जीवाश्म।

जीवित ज्ञान-प्रणाली को देखने का एक और ढंग है जो आगामी खण्डों में अपरिहार्य सिद्ध होगा, और उसे यहाँ सावधानी से प्रस्तुत करना उचित है। किसी सभ्यता को एक विशाल जाल के रूप में समझा जा सकता है। उसके बिंदु ज्ञान के वाहक और भंडार हैं — ग्रंथ और शिक्षक, मंदिर और आचरण, उत्सव और शिल्प, उपकरण और संस्थाएँ। उसकी रेखाएँ वे संचरण तथा संयोजन के कार्य हैं जो उनके बीच चलते हैं — गुरु द्वारा शिष्य का शिक्षण, एक ग्रंथ का दूसरे के प्रति निर्देश, वह तीर्थ जो किसी व्यक्ति को किसी स्थान से जोड़ता है, वह उत्सव जो किसी कथा को किसी ऋतु और किसी समुदाय से बाँधता है। इस दृष्टि में किसी सभ्यता का स्वास्थ्य उसके अभिलेखागार के परिमाण से नहीं, अपितु उसके जीवित संयोजनों की सघनता और जीवंतता से मापा जाता है। जिस सभ्यता के पास महान पुस्तकालय हो और कोई पाठक न हो, वह बिना रेखाओं वाले पृथक् बिंदुओं का जाल है : भंडार में समृद्ध, वस्तुतः मृत। जिस सभ्यता के पास भंडार कम हो किन्तु संचरण का सघन, सक्रिय जाल हो, वह जीवित है और बढ़ेगी।

यह जाल-दृष्टि किसी भी अन्य वस्तु से अधिक स्पष्ट रूप से यह समझाती है कि उपनिवेशवाद ने क्या किया और हमारा अपना युग क्या करने का संकट रखता है। औपनिवेशिक विच्छेद ने मुख्यतः बिंदु नष्ट नहीं किए; उसने रेखाएँ काटीं। उसने शिक्षण, प्रतिष्ठा और संरक्षण के उन संयोजनों को काटा जिन्होंने उस जाल को जीवित रखा था, जिससे बिंदु खड़े रहे किन्तु उत्तरोत्तर असंबद्ध होते गए। और किसी असावधान डिजिटल युग का संकट वही विफलता है, नए रूप में : बिंदुओं का उत्तरोत्तर विशाल ढेर एकत्र करते जाना — स्कैन किया हुआ, संचित, खोज-योग्य — और रेखाओं की पुनर्स्थापना के लिए कुछ न करना, अर्थात् उन जीवित संयोजनों के लिए कुछ न करना जो अकेले किसी जाल को ढेर के स्थान पर प्रणाली बनाते हैं। यदि हम यह समझ लें, तो हम समझ लेंगे कि क्या किया जाना है। कार्य केवल अधिक बिंदुओं का संरक्षण नहीं है। कार्य रेखाओं का पुनर्निर्माण है — ज्ञान को ज्ञान से, गुरु को शिष्य से, व्यक्ति को आचरण से, और लोगों को उनकी अपनी विरासत से पुनः जोड़ना।

और ठीक यहीं वे तकनीकें अपना सच्चा प्रयोजन पाती हैं जिनकी परीक्षा यह त्रयी करेगी — ऐसा प्रयोजन जो उनके लिए सामान्यतः कल्पित प्रयोजन से बहुत भिन्न है। जो साधन अब हमें उपलब्ध हैं वे अपने हृदय में संयोजन के साधन हैं। ज्ञान-ग्राफ रेखाओं का यंत्र है : वह उन विचारों, ग्रंथों और परम्पराओं को पुनः जोड़ने के लिए है जिन्हें विखंडन ने पृथक् कर दिया। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, सम्यक् दिशा में लगाई जाए तो, संचरण की एक अथक मध्यस्थ है, जो लुप्त

भाषाओं के पार पढ़ सकती है और किसी बंद पाठ को उस विद्यार्थी के लिए खोल सकती है जो अन्यथा उसके निकट नहीं पहुँच सकता था। डिजिटल प्रतिरूप देह-धारण लौटाता है, किसी मंदिर, नगर अथवा उत्सव को ऐसे रूप में धारण करते हुए जिसमें प्रवेश किया जा सके, अध्ययन किया जा सके और जिससे पुनर्स्थापना की जा सके। निमज्जित और स्थानिक संगणन किसी अनुभव के अभिलेख को पुनः ऐसे अनुभव में बदल देता है जिसे जिया जा सके। इनमें से कोई भी साधन, सम्यक् रूप से समझा जाए तो, संचरण की जीवित मानव-शृंखला का विकल्प नहीं है। इनमें से प्रत्येक उसकी मरम्मत और विस्तार का उपाय है — सभ्यतागत पैमाने पर उन रेखाओं का पुनर्निर्माण जो काटी गई थीं।

यह सम्पूर्ण उपक्रम को नए ढाँचे में रख देता है, और इस पुनर्रचना को यथासम्भव स्पष्ट रूप से कहना उचित है, क्योंकि यही वह धुरी है जिस पर यह पुस्तक घूमती है। हमारे सामने जो कार्य है वह मूलतः सांस्कृतिक संरक्षण का कार्य नहीं है, यदि संरक्षण से हमारा अर्थ किसी ऐसी वस्तु की सावधान रखवाली है जो अब जीवित नहीं। वह सभ्यतागत पुनर्जीवन का कार्य है : किसी विरासत को सुविचारित रूप से पुनः देह, संचरण, प्रयोग और नवीनीकरण में लौटाना, अपने पास उपलब्ध प्रत्येक वैध साधन का — मानवीय और तकनीकी दोनों का — उपयोग करते हुए। संरक्षण पूछता है कि हम अतीत को लुप्त होने से कैसे बचाएँ। पुनर्जीवन पूछता है कि हम अतीत को वर्तमान में पुनः जीवित कैसे करें और उसे भविष्य में कैसे ले जाएँ। यह त्रयी पुनर्जीवन का तर्क है, और उसे साधने की योजना।

जीवित ज्ञान का देह-धारित स्वभाव उन क्षेत्रों में देखना सबसे सहज है जहाँ वह सर्वाधिक तीव्र है। किसी शास्त्रीय राग का आचार्य कान और कंठ में ऐसा ज्ञान वहन करता है जिसे कोई स्वर-लिपि नहीं पकड़ती — किसी अलंकार का ठीक-ठीक भार, ठहरने का सटीक स्थान, वह अनुभूति जो स्वरों के अनुक्रम को संगीत में बदल देती है — और यह ज्ञान प्रशिक्षित मनुष्यों के अतिरिक्त कहीं नहीं रहता तथा किसी शिक्षक के सान्निध्य में वर्षों के श्रवण और अनुकरण से ही संचरित होता है। यही उस राजमिस्त्री के विषय में सत्य है जो पत्थर के खंड को पढ़ता है, उस वैद्य के विषय में जो नाड़ी पढ़ता है, उस नर्तक के विषय में जिसकी देह एक संहिताबद्ध भाषा बोलती है। प्रत्येक स्थिति में लिखित अभिलेख एक संक्षिप्त स्मरण-चिह्न है, जो उसे सम्बोधित है जो पहले से ही उस जीवित कला को वहन करता है; कला को काट दीजिए, और अभिलेख ऐसी भाषा में निर्देशों का समुच्चय बन जाता है जिसे अब कोई बोल नहीं सकता।

नवीनीकरण, किसी जीवित प्रणाली का चौथा लक्षण, सूक्ष्मतम है और सर्वाधिक सरलता से ग़लत समझा जाने वाला। जीवित परम्परा वह नहीं जो कभी बदलती ही नहीं, अपितु वह जो स्वयं बनी रहने के लिए बदलती है — जो प्रत्येक युग में अपनी विरासत की पुनर्व्याख्या करती है जिससे वह जीवितों से बोलती रहे। भारत की विशाल भाष्य-परम्पराएँ नवीनीकरण को दृश्य रूप में प्रस्तुत करती हैं : एक मूल ग्रंथ शताब्दियों की नई व्याख्या उत्पन्न करता हुआ, प्रत्येक पीढ़ी पिछली से विवाद करती हुई, जिससे परम्परा ठीक इसलिए जीवित रहती है कि वह समाप्त होने से इनकार करती है। ऐसी ज्ञान-प्रणाली जो केवल दोहरा सकती हो, एक अभिलेखन होगी, परम्परा नहीं; जो उसे जीवित रखता है वह पुरानी विरासत से नए प्रश्नों का उत्तर दिलवाने का निरंतर, अनुशासित श्रम है।

संरक्षण और जीवन के बीच का विरोध तीखे रूप में रखा जा सकता है। संग्रहालय संरक्षित करता है; वह वस्तु को सुरक्षित, नामांकित और अपरिवर्तित रखता है, काल के क्षय के विरुद्ध बंद — और ऐसा करते हुए वह उस वस्तु को उपयोग तथा अर्थ की उस जीवित धारा से हटा देता है जिसमें वह कभी अपने घर में थी। जीवित परम्परा इसके विपरीत करती है : वह ज्ञान को उपयोग में, परिवर्तन में, आचार्यों के हाथों और मनों में रखती है, उस निरंतर जोखिम के साथ जो उपयोग अपने साथ लाता है। ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं, और जिस सभ्यता के पास केवल संग्रहालय हैं वह पहले ही वह खो चुकी है जो उन संग्रहालयों में रखा है। पुनर्जीवन का लक्ष्य ज्ञान को संग्रहालय से पुनः धारा में लौटाना है — उसे पुनः एक ऐसी वस्तु बनाना जो प्रयुक्त हो, बदले, और जीवित हो।

एक बार पुनः प्रतिलिपि और जीवन के बीच भेद करना उचित है। किसी पांडुलिपि की पूर्ण प्रतिलिपि पृष्ठ के प्रत्येक चिह्न को सुरक्षित रखती है और फिर भी सम्भव है कि उस अर्थ में से कुछ भी सुरक्षित न रखे जो उस पांडुलिपि का था; किसी आचार्य संगीतज्ञ का अभिलेखन प्रत्येक स्वर पकड़ लेता है और फिर भी किसी नए प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता, किसी नए सभागार के अनुरूप स्वयं को ढाल नहीं सकता, अथवा किसी विद्यार्थी को यह अनुभव करना नहीं सिखा सकता कि संगीत को कहाँ श्वास लेनी चाहिए। जीवित परम्परा के पास जो है और किसी प्रतिलिपि के पास नहीं, वह प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य है — व्याख्या करने की, प्रयोग करने की, नवीनीकृत करने की, अप्रत्याशित से मिलने की। यही कारण है कि पुनर्जीवन निष्ठा से अधिक का लक्ष्य रखता है : वह प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य की पुनर्स्थापना का लक्ष्य रखता है, जो स्वयं जीवन का हस्ताक्षर है।

अब हम जानते हैं कि सभ्यता किस प्रकार की वस्तु है, सभ्यताएँ ज्ञान की गति पर क्यों उठती और गिरती हैं, संचरण कैसे टूटता है, और किसी टूटी हुई प्रणाली को पुनः जीवित करने का क्या अर्थ होगा। जो हमने अभी तक नहीं किया वह है उस विशिष्ट जीवित ज्ञान-प्रणाली को निकट से देखना जिससे इस पुस्तक का सरोकार है। भारत ने ठीक-ठीक क्या जाना? इस विरासत में, जिसे हम पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव रख रहे हैं, क्या-क्या निहित है — उसके शास्त्रों और विज्ञानों में, उसके मंदिरों और उसकी संचरण-विधियों में? इसका उत्तर देने के लिए हमें सभ्यता के सामान्य प्रश्न से हटकर एक विशेष सभ्यता की प्रतिभा की ओर मुड़ना होगा, और यही आगे के भागों का कार्य है।



और जानें · *सभ्यताएँ जीवित ज्ञान-प्रणालियाँ हैं — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।* divyadrishti.io/explore/v1/ch3

अध्याय चार:
सभ्यता की संरचना

हमने सभ्यता का वर्णन जीवित ज्ञान-प्रणाली के रूप में और जाल के रूप में किया है। दोनों वर्णन सत्य हैं, और दोनों एक अर्थ में ऊपर से देखे गए दृश्य हैं : वे बताते हैं कि सभ्यता किन वस्तुओं से बनी है और उसके अंग कैसे जुड़ते हैं, किन्तु यह नहीं कि वे अंग किस क्रम में एक-दूसरे पर टिके हैं, और उनमें से कौन भार वहन करता है। किसी वस्तु का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण करने के लिए सामग्री की सूची और संयोजनों के मानचित्र से अधिक कुछ चाहिए। उसके लिए संरचना को समझना होता है — कौन-सा तत्व किस पर टिका है, क्या भार-वाहक है और क्या अलंकार, और किसी एक अंग के गिरने पर सम्पूर्ण का क्या होता है। किसी सभ्यता की ठीक इसी संरचनात्मक अर्थ में एक संरचना होती है, और उसे देखना सीखना पुनर्जीवन के कार्य की ओर प्रथम व्यावहारिक चरण है।

इन स्तरों को नींव से ऊपर की ओर देखिए। किसी भी सभ्यता के आधार में उसकी विश्व-दृष्टि होती है — इन प्रश्नों के उसके मूलभूत उत्तर कि क्या यथार्थ है, क्या मूल्यवान है, और मानव-जीवन अंततः किसलिए है। यही आधार-शिला है : ब्रह्मांड-दृष्टि, पवित्र का बोध, और मनुष्य तथा वस्तुओं के क्रम में उसके स्थान का मूल चित्र। यह विरले ही स्पष्ट रूप से कही जाती है, क्योंकि यह तर्क का विषय नहीं, अपितु मान्यता होती है; किन्तु उसके ऊपर सब कुछ उसी पर बना होता है। किसी सभ्यता की विश्व-दृष्टि बदल दीजिए और आपने सभ्यता बदल दी, चाहे उसकी सतह का कितना ही अंश शेष रह जाए।

उस आधार पर ज्ञान का कोष टिका होता है — वे संचित विज्ञान, दर्शन, कलाएँ, विधियाँ और तकनीकें जो किसी सभ्यता ने उत्पन्न और संरक्षित की हैं। यही वह स्तर है जो विद्वानों को सर्वाधिक दिखता है और जिसे सम्पूर्ण मान लेने की भूल सर्वाधिक होती है : ग्रंथ, अनुशासन, अभिलिखित उपलब्धियाँ। वह विशाल और अमूल्य है, किन्तु अपने आप में निष्क्रिय भी। कोई कोष स्वयं कुछ नहीं करता; वह प्रतीक्षा करता है कि कोई उसे उठाए।



चित्र 4.1 — किसी सभ्यता की भार-वाहक संरचना।

उसे केवल संचरण की संस्थाओं के माध्यम से ही उठाया जाता है — विद्यालय और गुरुकुल, मंदिर और श्रेणियाँ, वे परम्पराएँ और परिवार जिनका सभ्यतागत कार्य ज्ञान को उनसे जो उसे धारण करते हैं उन तक ले जाना है जो उसे आगे धारण करेंगे। ये सम्पूर्ण संरचना की भार-वाहक भित्तियाँ हैं। वे किसी स्थिर कोष को जीवित विरासत में बदल देती हैं, उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी नए मनों तक ले जाकर। इन संस्थाओं को दुर्बल कर दीजिए और वह कोष, चाहे कितना ही भव्य हो, अपठित और अंततः अपठनीय पाठ में अपना मंद क्षय आरम्भ कर देता है।

संस्थाएँ जो संचरित करती हैं वह वास्तविक केवल आचरणों और अनुष्ठानों के स्तर पर बनता है — देह-धारण का क्षेत्र, जहाँ ज्ञान वर्णन होना छोड़कर किया जाने वाला कर्म बन जाता है। कोई चिकित्सा अपनी पाठ्य-पुस्तक नहीं, अपितु अपना उपचार है; कोई संगीत अपनी स्वर-लिपि नहीं, अपितु अपनी प्रस्तुति है; सम्यक् आचरण का कोई दर्शन अपना ग्रंथ नहीं, अपितु

उनका आचरण है जो उसे जीते हैं। यही वह स्तर है जिसमें ज्ञान संसार की कसौटी पर कसा जाता है और प्रयोग से चिकना होता है, और यही वह स्तर है जिसे किसी सभ्यता का विशुद्ध पाठ-आधारित विवरण सदैव चूक जाता है।

इन सबको घेरता और अभिव्यक्त करता हुआ भौतिक संस्कृति का स्तर है — वे मंदिर, नगर, उपकरण, प्रतिमाएँ और कलाकृतियाँ जिनमें कोई सभ्यता अपने ज्ञान को भौतिक संसार में लिख देती है। यहाँ मंदिर संरचना के भीतर संरचना है : ऐसा भवन जो एक साथ पाठ भी है, कक्षा भी, उपकरण भी और अनुष्ठान-स्थल भी, जो ब्रह्मांड-दृष्टि को पत्थर में कूटबद्ध करता है और उसे प्रत्येक प्रवेश करने वाले को सिखाता है। भौतिक संस्कृति टिकाऊ और सार्वजनिक बनाया गया ज्ञान है, जो उनके लिए भी पठनीय है जो पढ़ नहीं सकते।

और इन सब स्तरों में से होकर बहता हुआ, उन्हें एक ही संरचना में बाँधता हुआ, वह संयोजी ऊतक है : भाषा, प्रतीक, कथा, उत्सव और तीर्थ। ये वे साझा कूट हैं जो विश्व-दृष्टि को आचरण तक, पाठ को विद्यार्थी तक और स्मारक को तीर्थयात्री तक पहुँचने देते हैं। यही वह वस्तु है जो किसी ऐसे कृषक को, जिसने कभी कोई शास्त्र नहीं खोला, उसकी ब्रह्मांड-दृष्टि किसी उत्सव में वहन करने देती है, और किसी ऐसे शिल्पी को, जिसने कभी ज्यामिति नहीं पढ़ी, उसे अपने हाथों से निर्मित करने देती है। इस संयोजी ऊतक के बिना ये स्तर पृथक् परतों की भाँति खड़े रहते — स्पर्श करते हुए किन्तु संवाद न करते हुए; इसके साथ वे एक जीवित वस्तु बन जाते हैं।

इन्हें केवल सूची के स्थान पर संरचना के रूप में देखने का कारण यह है कि ये भार वहन करते हैं, और भार इनके बीच स्थानांतरित होता है। संचरण की संस्थाएँ हटा दीजिए और कोष एक-दो पीढ़ियों तक मृत पाठ के रूप में बचा रहता है और फिर क्षीण होने लगता है; आघात किसी एक स्तर में ठहरता नहीं। संयोजी ऊतक पर प्रहार कीजिए — किसी भाषा का दमन कीजिए, किसी उत्सव को तोड़िए — और विश्व-दृष्टि जनता तक पहुँचने का अपना मार्ग खो देती है, जबकि आचरण अपना अर्थ खो देते हैं। कोई सभ्यता तनाव में खड़ी एक संरचना है, और किसी भी स्तर पर पड़ा आघात सम्पूर्ण में अनुभव होता है। ठीक यही वह वस्तु है जो पूर्व-वर्णित औपनिवेशिक विच्छेद को इतना शिक्षाप्रद बनाती है : उसने मुख्यतः संचरण की संस्थाओं पर प्रहार किया, किन्तु क्षति नीचे नींव तक फैली, यहाँ तक कि किसी जन को उसी विश्व-दृष्टि पर सन्देह करना सिखा दिया गया जिस पर शेष सब कुछ बना था।

इस संरचनात्मक दृष्टि से किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए एक कठोर और स्पष्ट करने वाला पाठ निकलता है जो किसी सभ्यता को पुनर्स्थापित करना चाहे : आप किसी भवन की मरम्मत उसके अलंकार चमकाकर नहीं कर सकते। कोष का डिजिटलीकरण — ग्रंथों का स्कैन और संग्रह — एक ही स्तर को छूना है, और वह भार-वाहक स्तर नहीं है। यह आवश्यक कार्य है, किन्तु यह पर्याप्त होने के निकट भी नहीं, और इसे सम्पूर्ण मान लेना हमारे समय की विशिष्ट भूल है। किसी सभ्यता को पुनः जीवित करने के लिए सम्पूर्ण संरचना पुनर्स्थापित करनी होती है : वे संस्थाएँ जो संचरित करती हैं, वे आचरण जो देह देते हैं, वह संयोजी ऊतक जो बाँधता है, और सबसे कठिन, किसी जन का अपने ही आधारों में विश्वास। यही कारण है कि ग्रंथों के सामूहिक संरक्षण ने, चाहे वह कितना ही वीरतापूर्ण रहा हो, अकेले कभी किसी एक जीवित परम्परा को पुनर्जीवित नहीं किया।

इन तत्वों को एक स्थापत्य के रूप में देखने का मूल्य यह है कि इससे हम यह पूर्वानुमान कर सकते हैं कि क्षति कैसे फैलती है। संचरण के स्तर पर आघात कीजिए — पाठशालाएँ बंद कर दीजिए, परम्पराएँ काट दीजिए — और कुछ काल तक ज्ञान-कोष बचा रहता है, प्रतीयमान रूप से अक्षुण्ण; किन्तु उसकी व्याख्या करने वाले जीवित शिक्षकों के बिना ग्रंथ पहुँच से दूर सरक जाते हैं, आचरण अपने प्रशिक्षक खो देते हैं, और कुछ ही पीढ़ियों में हानि आधार तक पहुँच जाती है, जब कोई जन उस विश्व-दृष्टि को समझना बंद कर देता है जिसे अभिव्यक्त करने के लिए उसका सम्पूर्ण भवन बना था। यही कारण है कि सांस्कृतिक क्षति प्रायः अकस्मात् आती प्रतीत होती है जबकि वस्तुतः वह दशकों से चुपचाप फैलती रही होती है : भार टूटे हुए स्तर से दूसरों पर हस्तांतरित होता गया जब तक वे भी झुकने न लगे। किसी सभ्यता को स्थापत्य की दृष्टि से पढ़ना तनाव की इन छिपी रेखाओं को दृश्य दरारें बनने से पूर्व देख लेना है।

यही वह भी है जो हमें असामान्य परिशुद्धता के साथ यह निर्दिष्ट करने देता है कि पुनर्जीवन की तकनीकों को वस्तुतः करना क्या है। यदि घाव संचरण के भार-वाहक स्तर पर लगा था, तो संरक्षण के स्तर पर कितनी ही गतिविधि — स्कैन की गई पांडुलिपियों की कितनी ही मात्रा — स्वयं उसकी मरम्मत नहीं करेगी। साधनों को संचरण के रूप में अपना स्थान लेना होगा : वह कृत्रिम शिक्षक जो उस पंक्ति में खड़ा हो जिसे कभी मानव शिक्षक ने धारण किया था, वह ज्ञान-ग्राफ जो संयोजक ऊतक पुनर्स्थापित करे, वह डिजिटल प्रतिरूप जो ज्ञान को देह-धारण लौटाए। जो तकनीक केवल ज्ञान-कोष को छूती है, चाहे कितनी ही प्रभावशाली रीति

से, वह दीवार के झुके रहते हुए अलंकरण चमका रही है; पुनर्जीवन के कर्म का अर्थ है सम्पूर्ण संरचना की पुनर्स्थापना, और सबसे बढ़कर उस स्तर की जो भार वहन करता है।

डिजिटल को सम्पूर्ण स्थापत्य के आर-पार बिछे एक नए स्तर के रूप में सोचना सहायक हो सकता है, न कि उसके किसी एक भाग पर लगाए गए साधन के रूप में। भली प्रकार किया जाए तो कोई डिजिटल स्तर एक साथ प्रत्येक तल को छू सकता है : वह ज्ञान-कोष को धार सकता है, यह सत्य है, किन्तु वह बुद्धिमान शिक्षण के माध्यम से संचरण भी वहन कर सकता है, ग्रंथों तथा विचारों को जोड़कर संयोजक ऊतक पुनर्स्थापित कर सकता है, और निष्ठावान पुनर्निर्माण के माध्यम से भौतिक संस्कृति को एक प्रकार की उपस्थिति लौटा सकता है। संकट उसे संरक्षण के स्तर का मात्र एक उपांग मान लेने में है — कोई बड़ा, बेहतर अभिलेखागार — जबकि उसका वास्तविक वचन स्थापत्य-सम्बन्धी है : सम्पूर्ण संरचना को, और सबसे बढ़कर उन भार-वाहक स्तरों को सुदृढ़ करना जिन पर विच्छेद ने आघात किया। वह उपांग बनता है अथवा स्थापत्य, यह पूर्णतः इस पर निर्भर है कि उसे बनाया कैसे जाता है।

और यही कारण है कि आगामी खण्डों की तकनीकों को संरचनात्मक रूप से समझा जाना चाहिए, यंत्र-सामग्री के रूप में नहीं। ज्ञान-ग्राफ केवल कोई संचिका नहीं है; वह पुनर्निर्मित संयोजी ऊतक है। डिजिटल प्रतिरूप केवल कोई प्रतिमान नहीं है; वह पुनर्स्थापित भौतिक संस्कृति और देह-धारण है। कोई कृत्रिम शिक्षक केवल कोई प्रक्रम नहीं है; वह नए माध्यम में पुनर्गठित संचरण की संस्था है। प्रत्येक तकनीक को, यदि उसे सेवा करनी है, तो इस संरचना में अपना स्थान लेना होगा और वह भार वहन करना होगा जो कभी उसके मानव पूर्ववर्ती ने वहन किया था — न उससे अधिक, न उससे कम। किन्तु इससे वह प्रश्न उठता है जिसने प्रत्येक ऐसी सभ्यता का पीछा किया है जिसके भार-वाहक स्तरों पर प्रहार हुआ : क्या पुनर्प्राप्ति सम्भव भी है? क्या इतनी गहराई से आहत कोई सभ्यता कभी वस्तुतः पुनः खड़ी हो सकती है? इतिहास अधिकांशतः उनका कब्रिस्तान है जो नहीं हो सकीं। भारत वह चकित करने वाला अपवाद है — और यह समझना कि क्यों, अगले अध्याय का विषय है।

और जानें · *सभ्यता की संरचना — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch4

अध्याय पाँच:
भारत ने अपनी आत्मा क्यों नहीं खोई

विश्व के महान संग्रहालयों में घूमिए और आपको काँच की पेटियों में सजाए हुए मृत सभ्यताओं के देवता मिलेंगे। यहाँ मिस्र का देव-मंडल है, जो तीन सहस्र वर्षों तक पूजा गया और अब किसी के द्वारा नहीं पूजा जाता। यहाँ बेबिलोन और असीरिया के, यूनान और रोम के देवता हैं, जिनके मंदिर उत्खनित हुए, जिनके पुराख्यान सम्पादित हुए, और जिनकी भाषाएँ विद्वानों ने अभिलेखों से पुनर्रचित कीं। उनके अनुष्ठान आचरित नहीं, अपितु अनुमानित किए जाते हैं; उनकी जीवित परम्पराएँ समाप्त हो गईं, और जो शेष है उसका अध्ययन होता है, उसे जिया नहीं जाता। प्राचीन सभ्यताओं की सामान्य नियति यही है। व्यवधान नियम है। सातत्य दुर्लभ और चकित करने वाला अपवाद है।

इस पृष्ठभूमि के सम्मुख भारत एक ऐसी असंगति है जो केवल उत्सव-भाव की नहीं, अपितु सावधान विचार की अधिकारी है। वेदों के सूक्त, जो सुदूर प्राचीनता में रचे गए, आज भी अक्षर-दर-अक्षर उच्चारित किए जाते हैं, एक ऐसी मौखिक परम्परा में जो कभी टूटी नहीं। संस्कृत, लुप्त सभ्यताओं की शास्त्रीय जिह्वाओं के विपरीत, कभी घटकर विशुद्ध विद्वत्-पुनर्रचना नहीं बनी; वह अनुष्ठान, विद्या और रचना की जीवित भाषा बनी रही। महान दार्शनिक सम्प्रदाय आज भी जीवित पक्षों के रूप में पढ़े और विवादित होते हैं, न कि ऐतिहासिक कौतुकों के रूप में। उत्सव आज भी मनाए जाते हैं। आज जीवित कोई व्यक्ति आचरण की उस धारा में खड़ा हो सकता है जो, चाहे कितनी ही अपूर्ण रूप से, सहस्रों वर्ष ऊपर के किसी स्रोत से जुड़ती है। प्राचीन संसार की कोई अन्य मूल सभ्यता किसी भी निकटवर्ती मात्रा में यह नहीं कह सकती।

इस दावे को परिशुद्ध रूप से कहना आवश्यक है, क्योंकि बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाए तो यह मिथ्या हो जाता है और उचित ही अस्वीकृत होता है। यह कहना कि भारत ने अपनी आत्मा कभी नहीं खोई, यह कहना नहीं है कि कुछ भी नहीं खोया; बहुत कुछ खोया, जैसा विच्छेद वाले अध्याय ने स्पष्ट किया। यह किसी अटूट, अपरिवर्तित, निष्कलंक संचरण का दावा भी नहीं है — परम्पराएँ आहत हुईं, ग्रंथ लुप्त हुए, पूरे सम्प्रदाय मौन हो गए, और औपनिवेशिक विच्छेद केंद्रीय तंतु को काटने के निकट आ पहुँचा। यह दावा अधिक संकुचित है और इसी कारण अधिक उल्लेखनीय। वह यह है कि इनमें से प्रत्येक आघात के बीच जीवित संचरण की

मूल धारा कभी पूर्णतः नहीं रुकी। आवृत्ति कहीं न कहीं चलती रही। गुरु को शिष्य कहीं न कहीं मिला। उत्सव कहीं न कहीं मनाया गया। आत्मा — अर्थात् परम्परा का स्वयं के साथ जीवित सातत्य — अनेक बार आहत हुई, किन्तु कभी बुझी नहीं। पूछने योग्य प्रश्न यह है कि क्यों।



चित्र 5.1 — सभ्यतागत प्रत्यास्थता के चार अभिकल्प-सिद्धांत।

प्रथम कारण यह है कि भारत ने संचरण की विशुद्ध यांत्रिकी में सम्भवतः इतिहास की किसी भी सभ्यता से अधिक और अधिक कुशलता से निवेश किया। वेदों का मौखिक संरक्षण

इसका सर्वोच्च उदाहरण है। अपने सर्वाधिक अमूल्य ग्रंथों को भंगुर पांडुलिपियों के भरोसे छोड़ने के स्थान पर इस परम्परा ने उन्हें मानव-स्मृति में कूटबद्ध किया — और फिर, यह जानते हुए कि स्मृति खिसकती है, त्रुटि-निवारण की असाधारण प्रणालियाँ भीतर ही बना दीं। वे विस्तृत आवृत्ति-प्रकार, जिनमें वही शब्द अनेक क्रम-परिवर्तनों में उच्चारित किए जाते हैं, इसका अर्थ यह था कि किसी एक अक्षर में हुई कोई भी फिसलन उस प्रतिरूप को तोड़ देती और तत्काल पकड़ ली जाती। परिणाम एक ऐसा जीवित पाठ था जो किसी भी लिखित पाठ से अधिक दृढ़ था, सहस्रों मनों में अतिरेकता के साथ धारित, और पीढ़ियों के पार स्वयं का संशोधन करता हुआ। यह अभियांत्रिकी को भ्रमवश धार्मिकता समझ लेना नहीं है; यह अत्यंत उच्च कोटि की अभियांत्रिकी है, संचरण की सेवा में।

यह द्वितीय कारण की ओर संकेत करता है : अतिरेकता और वितरण। भारत की ज्ञान-प्रणाली में विफलता का कोई एक बिंदु नहीं था। वह न किसी एक महान पुस्तकालय में केंद्रित थी जो जल सकता था, न किसी एक मंदिर के किसी एक पुरोहित-वर्ग में जो नष्ट किया जा सकता था, न किसी एक राजधानी में जिसके पतन से वह समाप्त हो जाती। वह असंख्य गुरुकुलों, परम्पराओं, क्षेत्रों, भाषाओं और समुदायों में वितरित थी। कोई आक्रांता किसी नगर को ध्वस्त कर सकता था, किसी विद्या-केंद्र को बंद कर सकता था, यहाँ तक कि किसी साम्राज्य को गिरा सकता था, और वह जाल उस क्षति के चारों ओर से मार्ग बना लेता, क्योंकि वही ज्ञान सौ अन्य स्थानों पर जीवित था। कोई वितरित प्रणाली एक सरल कारण से प्रत्यास्थ होती है : उसमें बेधने योग्य कोई एक हृदय नहीं होता।

तृतीय कारण यह है कि भारत ने अपने ज्ञान को केवल ग्रंथों और विद्यालयों में नहीं, अपितु सामान्य जीवन के ताने-बाने में भी अंतर्निहित किया — अनुष्ठान, उत्सव, तीर्थ, कला, शिल्प और दैनिक आचरण में। जो ज्ञान केवल संस्थाओं में जीवित हो, वह संस्थाओं के गिरने पर मर जाता है। जो ज्ञान जीवन की लय में बुन दिया गया हो, उसे मारना कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि उसे मिटाने के लिए स्वयं जीवन को मिटाना पड़ेगा। कोई उत्सव किसी ब्रह्मांड-दृष्टि को उन लाखों तक वहन करता है जिन्होंने उसे धारण करने वाला पाठ कभी नहीं पढ़ा। कोई तीर्थ किसी पवित्र भूगोल को उन्हें सिखाता है जिन्होंने उसका कभी अध्ययन नहीं किया। कोई शिल्प किसी ज्यामिति को उन शिल्पियों के हाथों से संचरित करता है जो उसे शब्दों में कह भी नहीं सकते थे। इस अर्थ में देह-धारण एक प्रकार का बीमा है : जो ज्ञान जीवित आचरण में संचित हो, वह प्रत्येक पुस्तकालय के विनाश को अतिजीवित कर लेता है।

चतुर्थ कारण स्वभावगत और दार्शनिक है : भंगुर रूढ़िवाद के स्थान पर बहुलता और आत्मसात्करण की गहन सामर्थ्य। भारत की परम्परा ने अपना अतिजीवन विरले ही किसी एक पंथ, एक ग्रंथ अथवा एक प्राधिकार पर दाँव पर लगाया जिसकी मृत्यु-पर्यंत रक्षा करनी पड़े। वह अनेक दर्शनों और अनेक मार्गों की परम्परा थी, असंख्य देवताओं और निराकार परमों की, जो एक विशाल, विवादप्रिय, आत्मसात् करने वाले समग्र के भीतर एक साथ बँधे थे। इस रीति से बनी प्रणाली वहाँ झुक जाती है जहाँ कोई कठोर प्रणाली चूर हो जाती। वह चुनौतियों को आत्मसात् कर सकती थी, नवागंतुकों को समाहित कर सकती थी, और गहन आंतरिक असहमति को बिखरे बिना सह सकती थी। इसका रोमानीकरण नहीं करना चाहिए — इस परम्परा में बहिष्करण और कठोरताएँ भी थीं — किन्तु सामान्य प्रवृत्ति के रूप में उसकी बहुलता प्रत्यास्थता का स्रोत थी, क्योंकि ऐसा कोई एक तंतु था ही नहीं जिसके कटने से सम्पूर्ण वस्त्र उधड़ जाता।

ध्यान दीजिए कि ये चार कारण — दृढ़ कूटबद्धन, वितरण, देह-धारण और बहुलता — किसी प्रिय संस्कृति के विषय में भावुक टिप्पणियाँ नहीं हैं। ये अभिकल्प-सिद्धांत हैं। ये एक ऐसी ज्ञान-प्रणाली का वर्णन करते हैं जो, चाहे सचेत आशय से अथवा दीर्घ विकासात्मक परिष्कार से, सहस्राब्दियों तक और विपत्ति के बीच अतिजीवन के लिए अभियांत्रित थी। और यही वह बिंदु है जो हमें इस कृति के शेष भाग में ले जाता है : ये ठीक वही सिद्धांत हैं जिन्हें कोई भी ऐसी प्रणाली बनाते समय उसमें डालना चाहेगा जिसका प्रयोजन काल के पार ज्ञान का संरक्षण और संचरण हो — किसी डिजिटल प्रणाली में भी।

लुप्त हो चुकी सभ्यताओं के साथ यह विरोध ठहरकर देखने योग्य है, क्योंकि वही भारत के बचे रहने को इतना उल्लेखनीय बनाता है। मिस्र के देवता तीन सहस्र वर्षों तक पूजे गए और आज उन्हें कोई नहीं पूजता; उनकी लिपि शताब्दियों तक मौन रही जब तक संयोग से मिले एक पत्थर ने विद्वानों को उसे पुनः पढ़ने न दिया। ग्रीस का दर्शन बचा, किन्तु अपरिचितों को सौंपी गई विरासत के रूप में, न कि यूनानियों के बीच किसी जीवित आचरण के रूप में; रोम के अनुष्ठान समाप्त हो गए; बेबिलोन की वाणी विद्वानों की एक पहेली बन गई। प्रत्येक स्थिति में जीवित संचरण की शृंखला कट गई, और जो शेष रहा उसे बाहर से पुनर्निर्मित करना पड़ा, जैसे कोई मृत वस्तु पुनर्निर्मित की जाती है। प्राचीन संसार की मूल सभ्यताओं में केवल भारत ही आज भी अपनी पवित्र भाषा बोलता है, आज भी अपने प्राचीनतम सूक्तों का गान करता है,

आज भी अपने प्राचीन दर्शनों पर जीवित पक्षों के रूप में विवाद करता है — आहत, बाधित, प्रताड़ित, किन्तु अपने स्रोत से कभी पूर्णतः विच्छिन्न नहीं।

इस टिकाऊपन का गहनतम कारण एक सिद्धांत के रूप में पुनः कहने योग्य है, क्योंकि वही आगे सब कुछ का मार्गदर्शन करेगा। भारत इसलिए बचा कि उसने अपने संचरण को बचे रहने के लिए अभियांत्रित किया — अपने ज्ञान को भंगुर पांडुलिपियों के स्थान पर अनेक मनों में अतिरेकी रूप से कूटबद्ध करते हुए, उसे असंख्य परम्पराओं में वितरित करते हुए जिससे कोई एक आघात उसे समाप्त न कर सके, उसे दैनिक जीवन के आचरणों में अंतर्निहित करते हुए जहाँ उसे मिटाना सर्वाधिक कठिन था, और उसे बहुल रूप में धारण करते हुए, जिससे कोई एक ऐसा सूत्र था ही नहीं जिसके कटने से सम्पूर्ण वस्त्र उधड़ जाता। ये भावुक सद्गुण नहीं, अपितु अभिकल्प-सिद्धांत हैं, और जो सभ्यता स्थायित्व के लिए निर्माण करना चाहती है — चाहे पत्थर में अथवा सिलिकॉन में — वह इनका अध्ययन करने से कहीं बुरा कर सकती है।

इस कथा को अबाधित विजय की कथा के रूप में कहना असत्य होगा, और एक अपकार भी। भारत का बचा रहना बड़े मूल्य पर क्रय किया गया और वास्तविक हानियों से चिह्नित रहा : विद्या के पूरे पिंड वस्तुतः लुप्त हुए, महान केंद्र नष्ट किए गए, और औपनिवेशिक विच्छेद किसी भी पूर्ववर्ती आघात से अधिक निकट आ पहुँचा उस केंद्रीय सूत्र को काटने के। यह कहना कि सभ्यता ने अपनी आत्मा बचाई, यह कहना नहीं है कि उसने सब कुछ बचाया, न ही यह कि उसका संचरण कभी निर्मल अथवा अटूट रहा। यह कुछ अधिक संकुचित और अधिक उल्लेखनीय कहना है — कि प्रत्येक विपत्ति के आर-पार केंद्रीय धारा कभी पूर्णतः रुकी नहीं, कि आवृत्ति कहीं न कहीं चलती रही, शिक्षक को कहीं न कहीं विद्यार्थी मिल गया, और परम्परा ने बार-बार आहत होकर भी मरने से इनकार किया। इस प्रकार का बचे रहना स्वप्नरंजित करने योग्य नहीं है, किन्तु समझने योग्य अवश्य है, क्योंकि उसके कारण ठीक वही हैं जिन्हें हमारे अपने युग को पुनः सीखना होगा।

भारत के बचे रहने का एक और लक्षण बल दिए जाने योग्य है, क्योंकि उसकी उपेक्षा इतनी सरलता से हो जाती है : सामान्य जनों की निपट हठधर्मिता। परम्परा केवल अपने ऋषियों की प्रतिभा और अपनी संस्थाओं की अतिरेकता से ही नहीं टिकी, अपितु उन असंख्य अस्मरणीय स्त्री-पुरुषों की मौन दृढ़ता से भी टिकी जिन्होंने आवृत्ति बनाए रखी, कथा कही, उत्सव मनाया, और बालक को पढ़ाया — अच्छे समय में और बुरे में — कोई मान्यता न

माँगते हुए और कोई नाम पीछे न छोड़ते हुए। अंततः कोई सभ्यता अपने स्मारकों और अपने आचार्यों से कम, और इस विशाल, अनाम निष्ठा से अधिक जीवित रखी जाती है — सामान्य जनों का वह दैनिक चुनाव कि जो उन्हें मिला उसे वे आगे सौंपेंगे।

क्योंकि यदि हमें इस सभ्यता के योग्य कोई डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र बनाना है, तो उस अभिकल्प-प्रज्ञा की उपेक्षा करना मूर्खता होगी जिसने पहले स्थान पर उस सभ्यता को जीवित रखा। किसी डिजिटल प्रणाली को भी अपना ज्ञान दृढ़ता और अतिरेकता के साथ कूटबद्ध करना चाहिए, न कि किसी एक भंगुर रूप में। उसे भी वितरित होना चाहिए, न कि किसी एक असुरक्षित बिंदु पर निर्भर। उसे भी मात्र भंडारण के स्थान पर देह-धारण और जिए हुए अनुभव का लक्ष्य रखना चाहिए। और उसे भी संकुचित तथा भंगुर होने के स्थान पर बहुल और आत्मसात् करने वाला होना चाहिए। यह परम्परा हमें केवल संरक्षित करने योग्य सामग्री नहीं सौंपती; वह हमें स्वयं संरक्षण की संरचना सौंपती है। भारत ने संचरण में निपुणता पाकर अपनी आत्मा बचाई — और संचरण की वही निपुणता, नए स्वर में, ठीक वही है जिसे साधने की स्थिति में हमारा युग अब अंततः आया है। किन्तु उसे भली प्रकार साधने के लिए हमें स्पष्ट होना होगा कि हम ठीक-ठीक क्या संचरित करने का प्रयास कर रहे हैं, और उस भेद के विषय में भी जिसके प्रति आधुनिक संसार संकटपूर्ण रूप से लापरवाह हो चला है : सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा का अंतर।

और जानें · *भारत ने अपनी आत्मा क्यों नहीं खोई — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।* divyadrishti.io/explore/v1/ch5

अध्याय छह:
सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा

एक पुराना भेद है, कहने में सरल और भूलने में भी सरल, जिस पर इस पुस्तक का सम्पूर्ण तर्क अंततः घूमता है। सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा किसी एक ही वस्तु के बढ़ती हुई मात्राओं में तीन नाम नहीं हैं। ये तीन भिन्न प्रकार की वस्तुएँ हैं, परस्पर सम्बद्ध किन्तु परस्पर विनिमेय नहीं — और कोई सभ्यता प्रथम में डूब सकती है जबकि तृतीय के लिए भूखी हो। हमारे युग ने इन भेदों को लगभग शून्य तक धुँधला कर दिया है, और यह धुँधलापन निर्दोष नहीं है। वही अभूतपूर्व प्रचुरता के ठीक बीच एक विचित्र आधुनिक दरिद्रता का स्रोत है।

सूचना से आरम्भ कीजिए। सूचना रूप दिया गया आँकड़ा है : तथ्य, अंक, अभिलेख, वस्तुओं की स्थिति के विषय में कथन। हमारे प्रयोजन के लिए उसका परिभाषक लक्षण यह है कि वह निष्क्रिय है और प्रतिलिपि द्वारा पूर्णतः हस्तांतरणीय। कोई संख्या, कोई तिथि, कोई नाम, कोई माप — इनमें से प्रत्येक लिखा जा सकता है, दोहराया जा सकता है, और बिना हानि तथा बिना किसी ग्रहण करने वाले मन के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है। सूचना को किसी जानने वाले की आवश्यकता नहीं; वह ग्रंथों और संचिकाओं में पड़ी रहती है, चाहे कोई उसे कभी पढ़े या न पढ़े। यह एक साथ उसकी शक्ति भी है और उसकी सीमा भी। उसे इच्छानुसार संचित और स्थानांतरित किया जा सकता है, और वह अपने आप में न कोई अर्थ रखती है, न कुछ करती है।

ज्ञान प्रकार में भिन्न है, केवल मात्रा में नहीं। ज्ञान वह सूचना है जो समझ ली गई हो — किसी मन में ली गई हो, उससे जोड़ी गई हो जो वह मन पहले से धारण करता है, और इस प्रकार उपयोग-योग्य बनाई गई हो। ज्ञान किसी जानने वाले के बिना विद्यमान नहीं रह सकता, और उसकी प्रतिलिपि उस रीति से नहीं बनाई जा सकती जिस रीति से सूचना की। उसे केवल पढ़ाया जा सकता है, और पढ़ाने में समय, ध्यान तथा ऐसा ग्रहण करने वाला मन लगता है जो स्वयं भी कार्य का एक अंश करे। यही कारण है कि जहाँ सूचना सस्ती है वहाँ ज्ञान महँगा है। किसी पुस्तकालय की प्रतिलिपि एक दोपहर में बन सकती है; किसी शिक्षित मनुष्य की प्रतिलिपि बिलकुल नहीं बन सकती। प्रत्येक को धीरे-धीरे, आरम्भ से गढ़ना पड़ता है।

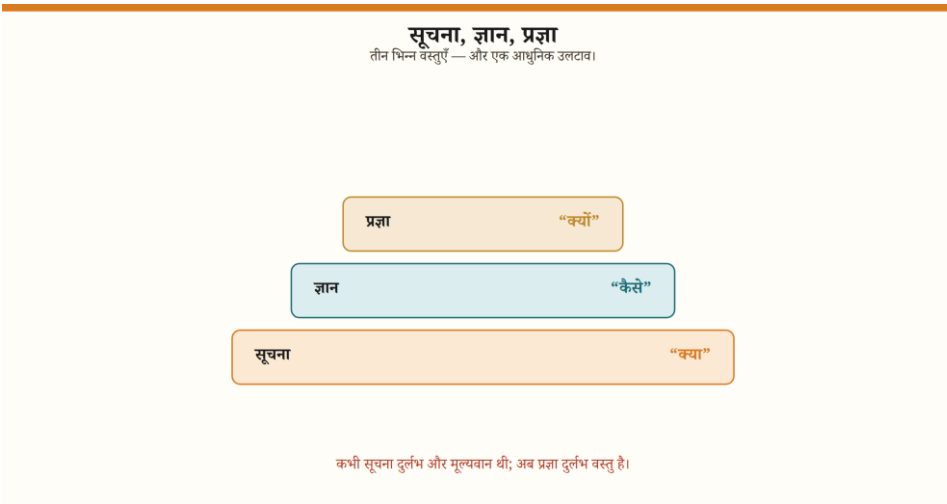

चित्र 6.1 — सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा का स्वाभाविक क्रम — और उसका आधुनिक उलटाव।

प्रज्ञा पुनः भिन्न है, और तीनों में उसके विषय में बोलना सर्वाधिक कठिन है, ठीक इसीलिए कि हमारी शब्दावली उसके साथ सबसे कम सहज रह गई है। प्रज्ञा वह ज्ञान है जो सम्यक् लक्ष्यों और सम्यक् कर्म की ओर उन्मुख हो — केवल यह समझने की सामर्थ्य नहीं कि संसार कैसे चलता है, अपितु यह निर्णय करने की भी कि करने योग्य क्या है, कैसे जिया जाए, और जब दाँव वास्तविक हो और उत्तर पहले से दिया न हो तब भली प्रकार आचरण कैसे किया जाए। प्रज्ञा ज्ञान को पूर्व-मान्य मानती है किन्तु उसमें वह जोड़ती है जो ज्ञान अकेले नहीं रखता : विवेक, अनुपात, चरित्र और जिए हुए अनुभव का परिपाक। और तीनों में वह सर्वाधिक अहस्तांतरणीय है। उसकी प्रतिलिपि सूचना की भाँति नहीं बन सकती, और वह ज्ञान की भाँति सीधे पढ़ाई भी नहीं जा सकती; वह, यदि जाती भी है, तो धीरे जाती है — उदाहरण, अभ्यास, सम्बन्ध और जीवन के वर्षों के माध्यम से — अर्थात् ठीक उसी गहन, देह-धारित संचरण के माध्यम से जिसमें कोई जीवित सभ्यता निपुण होती है और जिसे कोई संचिका नहीं दे सकती।

भारत की परम्पराओं ने इन भेदों पर असामान्य सूक्ष्मता से विचार किया, और यद्यपि प्राचीन श्रेणियों को आधुनिक कोष्ठकों में ठूँसने से बचना चाहिए, अनुगूँजें उल्लेखनीय हैं। भारतीय चिंतन ने अपने विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न रीतियों से तथ्यों के मात्र संचय और उस गहन ज्ञान के बीच भेद किया जो जानने वाले का रूपांतरण करता है; ज्ञान और उसके विवेकपूर्ण प्रयोग के बीच भेद किया; और सबसे बढ़कर उसने प्रज्ञा तथा विवेक को मूल्य दिया

— वह अंतर्दृष्टि, और वह विवेचन जो वास्तविक को केवल प्रतीयमान से, और श्रेयस् को केवल आकर्षक से पृथक् करता है। ठीक-ठीक कौन-सा शब्द किसके अनुरूप बैठता है, यह जो भी हो, मूल बिंदु अभ्रांत है : इस परम्परा ने सूचना के संचय को कभी प्रज्ञा की प्राप्ति नहीं समझा। उसका उच्चतम लक्ष्य अनेक वस्तुएँ जानना नहीं, अपितु सम्यक् रूप से जानना और उस जानने से रूपांतरित हो जाना था।

तीनों को स्पष्ट रूप से पृथक् कर देने पर हमारे युग का संकट तीखे रूप में सामने आ जाता है। हमने एक ही पीढ़ी के भीतर लगभग अनंत सूचना की अवसंरचना बना ली है : कोई भी तथ्य, तत्क्षण, सर्वत्र, नगण्य व्यय पर। सूचना को संचित और स्थानांतरित करने की हमारी सामर्थ्य विस्फोटक रूप से बढ़ी है। किन्तु ज्ञान — सूचना का समझने वाले मनों में एकीकरण — उसी दर से कहीं भी नहीं बढ़ा, क्योंकि उसे भंडारण से निर्मित नहीं किया जा सकता; वह आज भी शिक्षण और अधिगम के मंद श्रम की माँग करता है। और प्रज्ञा — ज्ञान का सम्यक् लक्ष्यों की ओर उन्मुखीकरण — वस्तुतः घट रही हो सकती है, अपने चारों ओर की सूचना की उसी बाढ़ से भूखी रखी हुई, जबकि ध्यान खंडित होता है और संचरण के वे धैर्यपूर्ण रूप किनारे कर दिए जाते हैं जिन्होंने कभी प्रज्ञ मनुष्य उत्पन्न किए थे। हमने स्वाभाविक क्रम को उलट दिया है : सूचना का एक विशाल और फूलता हुआ आधार, वास्तविक ज्ञान की एक पतली परत, और प्रज्ञा का एक सिकुड़ता हुआ शिखर।

इस प्रकाश में देखी जाए तो कृत्रिम बुद्धिमत्ता को असाधारण शक्ति की सूचना एवं ज्ञान-तकनीक के रूप में समझना सर्वोत्तम है — और ऐसी वस्तु के रूप में जो प्रज्ञा को बिलकुल नहीं छूती। वह सूचना को ऐसे पैमाने पर संचित, पुनःप्राप्त और पुनःसंयोजित कर सकती है जिसके निकट कोई मनुष्य नहीं पहुँच सकता। उत्तरोत्तर वह ऐसी क्रियाएँ करती है जिन्हें हम कभी ज्ञान कहते : वह एकीकृत करती है, तर्क करती है, व्याख्या करती है और प्रयोग करती है। जो वह नहीं कर सकती — जो सूचना के परिचालन पर बनी कोई भी वस्तु नहीं कर सकती — वह है प्रज्ञा देना, क्योंकि प्रज्ञा सूचना की कोई अधिक विस्तृत व्यवस्था नहीं, अपितु सर्वथा भिन्न वस्तु है, जो लक्ष्यों, मूल्यों, चरित्र और परिणाम के जिए हुए भार से बँधी है। कोई कृत्रिम प्रणाली आपको बता सकती है कि लगभग कुछ भी कैसे साधा जाए। वह यह नहीं बता सकती कि साधने योग्य क्या है, और — यही गहनतर संकट है — वह यह नहीं जानती कि वह नहीं बता सकती।

एक ठोस उदाहरण इन तीन स्तरों को अभ्रांत बना देता है। चिकित्सा का एक तथ्य लीजिए : कि कोई विशेष वनस्पति ज्वर कम करती है। किसी पुस्तक में लिखा, अपठित, वह सूचना है — निष्क्रिय, सत्य चाहे उसे कोई जाने या न जाने। किसी ऐसे वैद्य के मन में उतरकर जो समझता है कि वह काम क्यों करती है, कितनी मात्रा में दी जाए, और किसे दी जाए — वह ज्ञान बन जाती है : प्रयोग-योग्य, एकीकृत, किसी ज्ञाता में जीवित। किन्तु इस विशेष रोगी की, इन परिस्थितियों में, इस औषधि के जोखिमों को किसी अन्य के विरुद्ध तौलते हुए, रोगी की अपनी इच्छाओं और सम्भव की सीमाओं का सम्मान करते हुए चिकित्सा की जाए या नहीं — वह प्रज्ञा है, और उसे खोजकर देखा नहीं जा सकता, केवल परिपोषित किया जा सकता है। यही आरोहण प्रत्येक क्षेत्र में चलता है : तथ्य, समझ, और वह विवेक जो जानता है कि वह समझ किसलिए है।

यही कारण है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता का आगमन इस भेद को अप्रचलित करने के स्थान पर उसे तात्कालिक बना देता है। यंत्र प्रथम स्तर पर असाधारण हो गए हैं और द्वितीय पर उत्तरोत्तर सक्षम; वे बिना सीमा सूचना संचित करते हैं और उस एकीकरण का अधिकाधिक भाग सम्पन्न करते हैं जिसे हम ज्ञान कहते हैं। किन्तु प्रज्ञा उसी प्रकार की कोई और मात्रा नहीं है जिस तक पैमाना बढ़ाकर पहुँचा जा सके; वह एक भिन्न वस्तु है, जो लक्ष्यों, मूल्यों और परिणाम के जिए हुए भार से बँधी है, और सूचना की कितनी ही मात्रा, चाहे कितनी ही विशाल, स्वतः उसमें रूपांतरित नहीं होती। जो सभ्यता प्रथम दो स्तरों को तृतीय समझ बैठती है — जो कल्पना करती है कि पर्याप्त रूप से विशाल कोई प्रतिमान बस प्रज्ञ हो जाएगा — वह उच्चतम सम्भव दाँव के साथ एक श्रेणी-भ्रम कर रही है।

तीन स्तरों का भ्रम मात्र दार्शनिक भूल नहीं है; उसके ऐसे परिणाम हैं जो इस तक पहुँचते हैं कि कोई समाज शिक्षा कैसे देता है, शासन कैसे करता है, और स्वयं को मापता कैसे है। जब कोई सभ्यता सूचना को ज्ञान समझ बैठती है, तब वह ऐसी पाठशालाएँ बनाती है जो मन भरती हैं और किसी का निर्माण नहीं करतीं। जब वह ज्ञान को प्रज्ञा समझ बैठती है, तब वह ऐसी तकनीकी प्रतिभा उत्पन्न करती है जो इस बोध से अनबँधी है कि वह प्रतिभा किसलिए है। और जब वह अपनी प्रगति केवल उत्पन्न सूचना की मात्रा और अपनी गति की तीव्रता से मापती है — जैसा हमारी सभ्यता करने को अत्यंत प्रलोभित है — तब वह उत्तरोत्तर अधिक सक्षम और उत्तरोत्तर कम प्रज्ञ हो सकती है, त्वरण को प्रगति समझते हुए। तीनों को पृथक् रखना पांडित्य नहीं है; वह अपने ही ज्ञान के साथ एक स्वस्थ सम्बन्ध का आरम्भ है।

एक और विडंबना नाम देने योग्य है। जब सूचना दुर्लभ और कठिनाई से प्राप्य थी, तब उसका मात्र अधिकार ही लाभ देता था, और तथ्यों से भरी अच्छी स्मृति एक वास्तविक उपलब्धि थी। अब जब सूचना अतिप्रचुर है और सबको तत्क्षण उपलब्ध, तब उसका मूल्य ढह गया है, और जो कभी दुर्लभ तथा बहुमूल्य था वह संसार की सबसे सस्ती वस्तु बन गया है। अब दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुएँ उच्चतर हैं — विवेचन की सामर्थ्य, विवेक की, अर्थ देने की, प्रज्ञापूर्वक आचरण करने की — जिन्हें सूचना की कोई प्रचुरता नहीं जुटाती। जो शिक्षा अब भी सूचना के हस्तांतरण के चारों ओर व्यवस्थित है, वह युवाओं को ऐसे संसार के लिए तैयार कर रही है जो अब है ही नहीं।

यहाँ सम्पूर्ण त्रयी की परिशुद्ध धुरी है, और अब हम उसे पूर्ण बल के साथ कह सकते हैं। हमारे युग की तकनीकें सूचना के और उत्तरोत्तर ज्ञान के भी भव्य इंजन हैं, और वे प्रज्ञा के प्रश्न को ठीक वहीं छोड़ देती हैं जहाँ वह सदैव खड़ा रहा है : जीवित परम्पराओं, देह-धारित आचरण और मानव-चरित्र के मंद निर्माण के क्षेत्र में। जो सभ्यता अपनी प्रतिभा सूचना-तकनीक में उँडेल दे और अपनी प्रज्ञा-परम्पराओं को मरने दे, वह स्वयं को देवोपम साधनों से सुसज्जित पाएगी और इस बोध से रहित कि वे किसलिए हैं। और भारत की विरासत, इससे पूर्व कि वह कुछ और हो, एक प्रज्ञा-परम्परा है — ठीक उन्हीं प्रश्नों पर चिंतन का एक विशाल, परखा हुआ, अब भी जीवित पिंड जिनका उत्तर सूचना नहीं दे सकती और जिन्हें हमारे शक्तिशाली नए यंत्र प्रतिदिन अधिक तात्कालिक बनाते जा रहे हैं। अतः उस परम्परा को पुनः प्रवाह में लाना अतीत-मोह का कर्म नहीं है। वह स्वयं तकनीकी परियोजना का छूटा हुआ आधा भाग है। ऐसी कोई परम्परा एक साथ कैसे बँधी रहती है — उसके असंख्य ग्रंथ, शिक्षक और आचरण एक ही संयुक्त समग्र कैसे बनाते हैं — यही वह प्रश्न है जिसकी ओर अब हम मुड़ते हैं।

और जानें · *सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch6

अध्याय सात:
सभ्यताएँ ज्ञान-जाल के रूप में

अब हम अधिक तीखे साधनों के साथ उस चित्र की ओर लौटते हैं जो पहले प्रस्तुत किया गया था : सभ्यता एक जाल के रूप में। वह पहले एक दृष्टांत के रूप में दिया गया था। अब समय है कि उसे एक प्रतिमान के रूप में गम्भीरता से लिया जाए, क्योंकि वह रूपक से अधिक सिद्ध होता है — वह इस बात का यथार्थ संरचनात्मक वर्णन है कि सभ्यता है क्या, और उसे समझ लेना ही वह वस्तु है जो आगामी खण्डों की तकनीकों को स्वेच्छ यंत्र-सामग्री के स्थान पर प्रस्तुत कार्य के स्वाभाविक साधन बना देती है।

परिशुद्ध अर्थ में जाल बिंदुओं का ऐसा समुच्चय है जो रेखाओं से जुड़ा हो — सम्बन्धों से जुड़े हुए बिंदु। किसी सभ्यता के बिंदु उसके ज्ञान और अर्थ की इकाइयाँ हैं : कोई ग्रंथ, कोई शिक्षक, कोई विद्यार्थी, कोई मंदिर, कोई आचरण, कोई उत्सव, कोई शिल्प, कोई प्रतीक, कोई उपकरण, कोई विचार। उसकी रेखाएँ वे सम्बन्ध हैं जो इन्हें जोड़ते हैं : यह ग्रंथ उस पर भाष्य करता है; इस शिक्षक ने उस विद्यार्थी को प्रशिक्षित किया; यह उत्सव उस पुराख्यान को अभिनीत करता है; यह मंदिर उस ब्रह्मांड-दृष्टि को कूटबद्ध करता है; यह आचरण उस सिद्धांत को लागू करता है। जिसे हम परम्परा कहते हैं वह इस विशाल ग्राफ का एक सघन रूप से संयोजित क्षेत्र मात्र है, जो काल के पार एक साथ बँधा और नवीनीकृत होता रहता है।

जाल-दृष्टि की निर्णायक अंतर्दृष्टि यह है कि किसी ज्ञान-प्रणाली में अर्थ सम्बन्ध-सापेक्ष होता है। किसी भी एकल बिंदु का महत्व मुख्यतः उसकी रेखाओं में बसता है — इसमें कि वह शेष से कैसे जुड़ता है। कोई श्लोक जो अर्थ रखता है वह उस भाष्य के कारण रखता है जो उसे खोलता है, उस आचरण के कारण जो उसे अभिनीत करता है, उस शिक्षक के कारण जो उसकी व्याख्या करता है, और उन अन्य श्लोकों के कारण जिनका वह उत्तर देता है और जिनकी वह पूर्व-सूचना देता है। किसी बिंदु की रेखाएँ काट दीजिए और आप उसे केवल पृथक् नहीं करते; आप उसके अर्थ का बहुत बड़ा भाग बहा देते हैं। ठीक यही कारण है कि किसी अभिलेखागार में अकेली पड़ी कोई पांडुलिपि, अपने भाष्यों, अपने आचरणों और अपने व्याख्याताओं से कटी हुई, उससे कहीं कम है जितनी वह तब थी जब वह उस जाल के भीतर जीवित थी। वह

किसी जीवित बिंदु से घटकर एक अटका हुआ खंड बन गई है — उपस्थित, किन्तु अब अर्थपूर्ण नहीं।

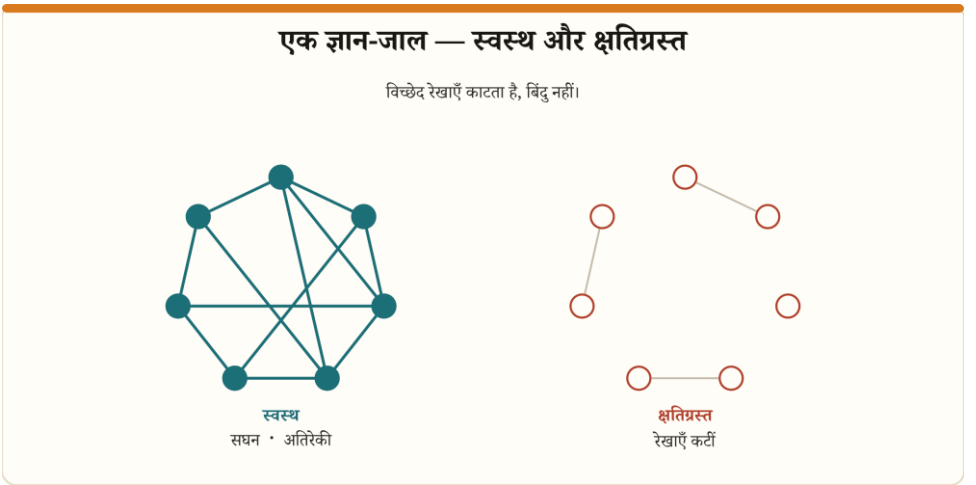

चित्र 7.1 — एक ज्ञान-जाल, स्वस्थ और क्षतिग्रस्त : मरम्मत का अर्थ है रेखाओं की पुनर्स्थापना।

इससे हम यथार्थ परिशुद्धता के साथ यह परिभाषित कर सकते हैं कि किसी ज्ञान-प्रणाली का स्वस्थ अथवा क्षतिग्रस्त होना क्या है। कोई स्वस्थ जाल सघन होता है, संयोजनों में समृद्ध; अतिरेकी होता है, महत्वपूर्ण बिंदुओं के बीच अनेक मार्ग देता हुआ, जिससे कोई एक हानि विनाशकारी न हो; और नौवहन-योग्य होता है, जिससे कोई अध्येता वहाँ से, जहाँ वह खड़ा है, वहाँ तक का मार्ग खोज सके जिसे वह चाहता है। कोई क्षतिग्रस्त जाल विरल, भंगुर और खंडित होता है — उसके बिंदु बड़ी संख्या में बचे रह सकते हैं जबकि वे रेखाएँ कट चुकी हों जिन्होंने कभी उन्हें अर्थपूर्ण और खोज-योग्य बनाया था। और अब पूर्ववर्ती अध्यायों में कही गई सम्पूर्ण कथा एक ही वाक्य में संकुचित की जा सकती है : जिन विच्छेदों ने भारत की ज्ञान-प्रणाली को आहत किया, उन्होंने अपनी गहनतम क्षति बिंदु नष्ट करके नहीं, अपितु रेखाएँ काटकर की — ग्रंथों को उनके भाष्यों से, गुरुओं को शिष्यों से, आचरणों को उनके अर्थों से, और सबसे बढ़कर किसी जन को उन मार्गों से काटकर जो कभी उन्हें उनकी अपनी विरासत से जोड़ते थे।

यदि क्षति मूलतः रेखाओं की हानि है, तो मरम्मत भी मूलतः रेखाओं की पुनर्स्थापना है — और यहीं, अंततः, तकनीक और कार्य विलक्षण परिशुद्धता के साथ मिलते हैं। क्योंकि एक ऐसी तकनीक विद्यमान है जिसका सम्पूर्ण प्रयोजन बिंदुओं और उनके बीच की रेखाओं का

प्रतिनिधित्व करना है, उन सम्बन्धों को स्पष्ट करना है जो ज्ञान के एक अंश को दूसरे से जोड़ते हैं, और किसी यात्री को उन संयोजनों में नौवहन करने देना है। उसे उचित ही ज्ञान-ग्राफ कहा जाता है। ज्ञान-ग्राफ हमारे प्रतिमान से उधार लिया गया कोई रूपक नहीं है; वह वही संरचना है, ऐसे रूप में बनी हुई जिसे कोई यंत्र धारण कर सके और कोई व्यक्ति पार कर सके। किसी परम्परा का ज्ञान-ग्राफ बनाना डिजिटल क्षेत्र में ठीक वही करना है जो कभी उस परम्परा के गुरुओं और भाष्यों के जीवित जाल ने किया था : वह रेखाओं की पुनर्स्थापना है।

यह अनुरूपता शक्तिशाली है, और ठीक इसीलिए कि वह शक्तिशाली है, उसे सावधानी से सँभालना होगा, क्योंकि असावधानी से बनाया गया कोई ग्राफ एक सूक्ष्म हिंसा कर सकता है। कोई जाल-प्रतिमान जिसका प्रतिनिधित्व करता है उसे समतल कर सकता है, किसी जीवित, विवादित, बहु-स्वरीय सम्बन्ध को एक ही नामांकित तीर तक घटाते हुए; वह उन संयोजनों पर एक मिथ्या परिशुद्धता थोप सकता है जो तरल, स्तरित और असहमति से जीवंत थे। ऐसा ज्ञान-ग्राफ जो यह ढोंग करे कि परम्परा निर्णीत और सर्वसम्मत थी, ठीक उसी बहुलता के साथ विश्वासघात करेगा जो, जैसा हमने देखा, इस सभ्यता की प्रत्यास्थता के गहनतम स्रोतों में थी। कार्य जाल को जमा देना नहीं, अपितु उसे पुनर्जीवित करना है — ऐसी संरचना बनाना जो संयोजनों को धारण करे और साथ ही उनकी समृद्धि, उनकी बहुलता, तथा प्रत्येक उत्तराधिकारी पीढ़ी द्वारा उनसे विवाद किए जाने और उनमें जोड़े जाने की उनकी सामर्थ्य को भी सुरक्षित रखे।

जालों में ऐसे गुण होते हैं जो वस्तुओं के मात्र ढेर में नहीं होते, और ये गुण किसी सभ्यता का भाग्य निर्धारित करते हैं। सघन जाल प्रत्यास्थ होता है : यदि दो विचारों के बीच का एक मार्ग लुप्त हो जाए, तो अन्य शेष रहते हैं, और ज्ञान क्षति के चारों ओर से बहता रहता है। विरल जाल भंगुर होता है : कुछ ही कटाव सम्पूर्ण क्षेत्रों को पृथक् कर सकते हैं, और जो उनमें है वह अटक जाता है। कुछ बिंदु केंद्रीय होते हैं — कोई आधारभूत ग्रंथ, कोई महान शिक्षक, कोई तीर्थस्थल — और उनकी हानि किसी परिधीय बिंदु की हानि से कहीं अधिक वस्त्र फाड़ती है। और कोई जाल न्यूनाधिक नौवहन-योग्य हो सकता है : किसी एक बिंदु पर खड़ा अध्येता वह मार्ग खोज सकने में समर्थ होना चाहिए जो उसे अभीष्ट तक ले जाए, अन्यथा वह ज्ञान, उपस्थित होते हुए भी, वस्तुतः अगम्य है। किसी सभ्यता के स्वास्थ्य के विषय में सोचना इन सबके विषय में सोचना है — सघनता, अतिरेकता, केंद्रीयता, नौवहन-योग्यता — न कि मात्र उसके अभिलेखागार के आकार के विषय में।

यह अनुरूपता शक्तिशाली है, और ठीक इसीलिए कि वह शक्तिशाली है उसे सावधानी से सँभालना होगा, क्योंकि असावधानी से बनाया गया कोई ग्राफ एक सूक्ष्म हिंसा कर सकता है। कोई जाल-प्रतिमान उसे समतल कर सकता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, किसी जीवित, विवादित, बहुस्वर सम्बन्ध को किसी एक नामांकित तीर तक घटाते हुए; वह उन संयोजनों पर मिथ्या परिशुद्धता थोप सकता है जो तरल, बहुस्तरीय और असहमति से जीवंत थे। जो ज्ञान-ग्राफ यह ढोंग करे कि परम्परा निर्णीत और एकमत है, वह ठीक उसी बहुलता के साथ विश्वासघात करेगा जो, जैसा हमने देखा, इस सभ्यता की प्रत्यास्थता के गहनतम स्रोतों में थी। कार्य उस जाल को जमा देना नहीं, अपितु उसे पुनर्जीवित करना है — ऐसी संरचना बनाना जो संयोजनों को धारण करे और साथ ही उनकी समृद्धि, उनकी बहुलता और उनकी वह सामर्थ्य भी सुरक्षित रखे कि प्रत्येक उत्तराधिकारी पीढ़ी उनसे विवाद कर सके और उनमें जोड़ सके।

इस जाल का एक मानवीय आयाम है जिसे बिंदुओं और रेखाओं की अमूर्त भाषा ढक सकती है। सबसे महत्वपूर्ण रेखाएँ वे हैं जो किसी जीवित व्यक्ति को उस विरासत से जोड़ती हैं — वह सूत्र जो किसी बालक से उसकी अपनी सभ्यता की कथाओं, भाषा, आचरणों और समझ तक जाता है। जब वे रेखाएँ कट जाती हैं, तब हानि मात्र यह नहीं होती कि कोई अभिलेखागार अपठित रह जाता है; हानि यह होती है कि कोई व्यक्ति अर्थ, पहचान और अपनेपन के उस स्रोत से विच्छिन्न हो जाता है जो उत्तराधिकार से उसका था। जाल की मरम्मत करना, अंततः, इसी की मरम्मत करना है — लोगों को, और केवल ग्रंथों को नहीं, उससे पुनः जोड़ना जो न्यायतः उनका है। यही कारण है कि यह कार्य पुस्तकालय और संगोष्ठी से परे महत्वपूर्ण है : वह इसे छूता है कि लोग हो क्या सकते हैं।

वैश्विक प्रवासी समुदाय की स्थिति जाल की इस समस्या को एक विशेष रीति से तीखा करती है। करोड़ों लोग अपना वंश इसी सभ्यता से जोड़ते हैं और फिर भी उसके जीवित केंद्रों से बहुत दूर रहते हैं — उसके शिक्षकों, उसकी भाषाओं, उसके पवित्र स्थानों, उसके दैनिक आचरणों से। उनके लिए व्यक्ति को विरासत से जोड़ने वाली रेखाएँ दूरी से पतली पड़ चुकी हैं अथवा टूट चुकी हैं, और संचरण के सामान्य मार्ग, जो भौतिक सामीप्य मान लेते हैं, उन तक पहुँच नहीं सकते। यदि कहीं, तो यहाँ संयोजन के नए साधनों का पक्ष स्पष्ट है : परम्परा को दूरी के महासागर के पार उन तक ले जाना जो उसके हैं किन्तु उससे दूर हैं, और उन्हें पुनः उस जाल में बुनना जिससे भूगोल ने उन्हें विच्छिन्न कर दिया है।

अब हमने इस त्रयी का सम्पूर्ण वैचारिक आधार एकत्र कर लिया है। हम जानते हैं कि सभ्यता एक जीवित ज्ञान-प्रणाली है; कि वह संचरण के प्रवाह पर उठती और गिरती है; कि उसकी एक भार-वाहक संरचना है; कि भारत संचरण के अभिकल्प-सिद्धांतों में निपुणता पाकर बचा; कि उसकी विरासत सबसे बढ़कर एक प्रज्ञा-परम्परा है जो ठीक उन प्रश्नों को सम्बोधित करती है जिन्हें हमारे यंत्र नहीं कर सकते; और कि उसका ज्ञान एक विशाल जाल बनाता है जिसका स्वास्थ्य उसके बिंदुओं की संख्या में नहीं, अपितु उसकी रेखाओं की जीवंतता में है। अब एक को छोड़कर प्रत्येक टुकड़ा अपने स्थान पर है — वह टुकड़ा जो निदान को आह्वान में बदल देता है। क्योंकि यह सब उस क्षण के विषय में एक ही प्रश्न पर आ मिलता है जिसे हम जी रहे हैं। एक नए प्रकार की बुद्धि संसार में प्रविष्ट हुई है, और उसके साथ सभ्यतागत पैमाने पर ज्ञान के निर्माण, संयोजन और संचरण की एक नई सामर्थ्य। हम उससे किस प्रकार की सभ्यता बनाना चुनेंगे? यही इस प्रथम भाग के अंतिम अध्याय का प्रश्न है — और उसके पश्चात् आने वाले सब कुछ का भी।

और जानें · *सभ्यताएँ ज्ञान-जाल के रूप में — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch7

अध्याय आठ:
आगामी सभ्यता

किसी सभ्यता की पहुँच के प्रत्येक महान विस्तार के साथ संचरण की तकनीक में एक क्रांति भी हुई है। जब मनुष्यों ने लिखना सीखा, तब ज्ञान किसी एक स्मृति और एक जीवन-काल की सीमाओं से मुक्त हो गया, और प्रथम महान सभ्यताएँ सम्भव हुईं। जब मुद्रण आया, तब ज्ञान लिपिकार की सीमाओं से मुक्त हुआ, और उसके पश्चात् व्यापक साक्षरता, विज्ञान तथा क्रांति का युग आया। हम अब ऐसी ही तीसरी क्रांति से गुज़र रहे हैं, और वह सबसे बड़ी सिद्ध हो सकती है — क्योंकि हमने ऐसे यंत्र बना लिए हैं जो ज्ञान को केवल संचित और प्रतिलिपित नहीं करते, अपितु उसे पढ़ते, उसकी व्याख्या करते, उसे उत्पन्न करते और उसे पढ़ाते भी हैं। प्रश्न यह नहीं कि क्या यह सभ्यता को पुनर्गठित करेगा; वह पहले से कर रहा है। प्रश्न यह है कि वह हमें किस सभ्यता में पुनर्गठित करेगा।

जो वस्तुतः नया है वह यह है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता केवल कोई तीव्रतर मुद्रण-यंत्र अथवा कोई विशालतर पुस्तकालय नहीं है। वह पहली बार ज्ञान-प्रणाली में निष्क्रिय माध्यम के स्थान पर एक सक्रिय भागीदार है। वह नई सूचना उत्पन्न करती है, उसे ऐसी वस्तु में एकीकृत करती है जो ज्ञान-सदृश है, और उसे सीधे मनुष्यों तक उनकी अपनी भाषाओं में संचरित करती है। इस पुस्तक की शब्दावली में, सभ्यतागत जाल में एक नए प्रकार का बिंदु प्रकट हुआ है — ऐसा बिंदु जो अतिमानवीय गति और पैमाने पर रेखाएँ बना सकता है। इससे मिलती-जुलती कोई वस्तु पहले कभी अस्तित्व में नहीं रही, और ज्ञान की तकनीक के विषय में हमारी उत्तराधिकार में मिली सहज-बुद्धि उसके लिए पर्याप्त ही नहीं है।

तो हमारे सम्मुख दो अत्यंत भिन्न सम्भव भविष्य रखे हैं, और उनके बीच की दूरी ही इस कृति का सम्पूर्ण दाँव है। प्रथम में ये शक्तिशाली नए इंजन अनुकूलन, समुच्चयन और एकरूपीकरण के लिए खुले छोड़ दिए जाते हैं — जिससे एक पतली, वैश्विक, घर्षण-रहित सूचना-सभ्यता उत्पन्न होती है जिसकी सामर्थ्य अपार है और गहराई सिकुड़ती हुई, जो "कैसे" का उत्तर देने में प्रतिभाशाली है और "किसलिए" के प्रश्न पर मौन। ऐसी सभ्यता के पास देवोपम साधन होंगे और उन्हें शासित करने वाली प्रज्ञा में तदनुरूप कोई वृद्धि नहीं, और वह विश्व की परम्पराओं को जिए जाने योग्य प्रज्ञा के स्थान पर बटोरने योग्य सामग्री में समतल कर देगी। यह

कोई दूरस्थ दुःस्वप्न नहीं है। उत्तरोत्तर शक्तिशाली सूचना-तकनीक बनाते जाना और प्रज्ञा-परम्पराओं को मुरझाने देना — इसका स्वाभाविक परिणाम यही है।

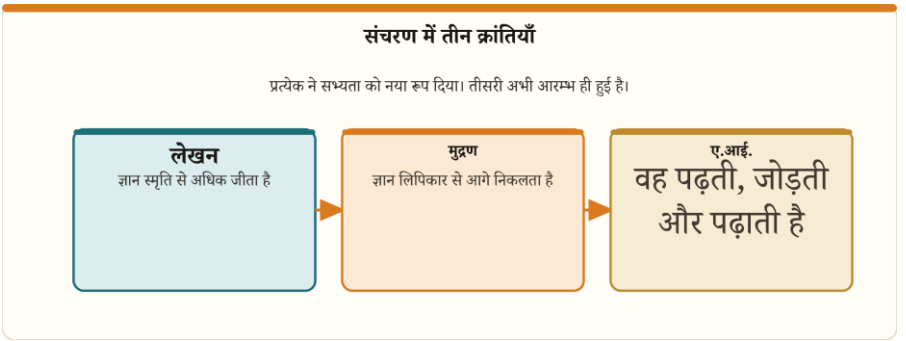

चित्र 8.1 — संचरण की तकनीक में तीन क्रांतियाँ।

द्वितीय भविष्य में हम कुछ कठिनतर और अपरिमेय रूप से अधिक सार्थक करते हैं। हम इन नए यंत्रों की सूचना और ज्ञान पर अद्वितीय शक्ति को मानवता की जीवित परम्पराओं की संचित प्रज्ञा के साथ जोड़ते हैं — तकनीक का उपयोग संचरण के गहन मानवीय कार्य को प्रतिस्थापित करने के लिए नहीं, अपितु उसकी मरम्मत और विस्तार के लिए करते हुए, और परम्पराओं को वह देने देते हुए जो यंत्र नहीं दे सकते : लक्ष्यों की ओर उन्मुखता, पवित्र का बोध, और चेतना, प्रयोजन तथा सम्यक् कर्म के प्रश्नों के उत्तरों की अनुशासित खोज। यह देवोपम साधनों और गहराती हुई प्रज्ञा की सभ्यता होगी — एकरूपीकृत के स्थान पर बहुल, पतली के स्थान पर गहन, और केवल "कैसे" ही नहीं, अपितु "किसलिए" भी पूछ सकने में समर्थ।

इस त्रयी की केंद्रीय प्रतिज्ञा यह है कि भारत की विरासत इस द्वितीय मार्ग को दिशा देने के लिए विशिष्ट रूप से सुसज्जित है — और यह ठीक-ठीक क्यों है, इस विषय में परिशुद्ध होना उचित है, क्योंकि इस दावे का अतीत-मोह अथवा राष्ट्रीय गर्व से कोई सम्बन्ध नहीं। यह अनुरूपता का दावा है। जो प्रश्न हमारे यंत्र अब हम पर थोप रहे हैं — चेतना का स्वभाव, बुद्धि का अर्थ, सम्यक् कर्म का आधार, और मानवीय, प्राकृतिक तथा कृत्रिम के बीच का सम्बन्ध — ठीक वही प्रश्न हैं जिन्हें भारत की परम्परा ने तीन सहस्र वर्षों तक अपनी जिज्ञासा के केंद्र में रखा। वह एक जीवित प्रज्ञा-परम्परा है, उसी प्रकार की जिसे हमने यह तर्क देते हुए एकमात्र स्रोत कहा कि सूचना-तकनीक जो नहीं दे सकती वह वहीं से आ सकता है। वह ठीक उन्हीं संचरण-

कलाओं में निपुणता पाकर बची जिन्हें हमारे युग को अब पुनः सीखना है। और वह स्वभाव से बहुल तथा आत्मसात् करने वाली है, और किसी वैश्विक, बहु-संस्कृति भविष्य को इसी की आवश्यकता होगी। यह अनुरूपता भावुक नहीं है। वह संरचनात्मक है।



चित्र 8.2 — दो सम्भव भविष्य, और उनके बीच का चुनाव।

इससे "क्यों" पूर्ण होता है। हमने यह तर्क दिया कि सभ्यताएँ जीवित ज्ञान-प्रणालियाँ हैं जो संचरण पर उठती और गिरती हैं; कि हमारा युग ऐसे संकट का सामना कर रहा है जिसमें सूचना अभिभूत करती है जबकि प्रज्ञा भूखी रहती है; कि अब उभर रही तकनीकें सभ्यता के पतले होने अथवा गहरे होने — दोनों को सम्भव बनाती हैं; और कि भारत की विरासत उनके लिए अद्वितीय मूल्य का संसाधन है जो गहनतर मार्ग चुनें — किसी संग्रहालय के रूप में नहीं जिसकी रखवाली की जाए, अपितु एक जीवित प्रणाली के रूप में जिसे पुनर्जीवित किया जाए और मनुष्यों द्वारा अब तक बनाए गए सर्वाधिक शक्तिशाली साधनों के साथ भागीदारी में लाया जाए। शेष यह दिखाना है कि यह ठोस रूप में कैसे किया जा सकता है, और हम ठीक-ठीक किस वस्तु को पुनः प्रवाह में ला रहे होंगे। इसके पश्चात् आने वाला खण्ड "कैसे" की ओर मुड़ता है — वह कृत्रिम बुद्धिमत्ता, वे डिजिटल प्रतिरूप, वह निमज्जित अनुभव, वह ज्ञान-ग्रिड, और वह मंच जिसके माध्यम से किसी जीवित सभ्यता को अंततः उसके योग्य तंत्रिका-तंत्र दिया जा सके। किन्तु निर्माण से पूर्व हमें पूर्ण रूप से जानना होगा कि हम किसके लिए निर्माण कर रहे हैं। और इसलिए इस खण्ड के शेष भाग सभ्यता के सामान्य प्रश्न से हटकर स्वयं भारत की विशिष्ट प्रतिभा की ओर मुड़ते हैं — उन शास्त्रों और विज्ञानों, उन मंदिरों और संचरण की उन विधियों की ओर जिन्होंने मिलकर विश्व की ज्ञात दीर्घतम-जीवी ज्ञान-प्रणालियों में से एक का निर्माण किया। हम इस प्रश्न से आरम्भ करते हैं कि भारत ने ठीक-ठीक क्या जाना।

यह प्रतिरूप पूर्ण रूप में देखने योग्य है, क्योंकि वही हमें बताता है कि वर्तमान क्षण कितना विशाल हो सकता है। लेखन ने ज्ञान को एकल स्मृति से परे स्थायित्व दिया, और उसके साथ प्रथम महान सभ्यताएँ आईं — उनकी विधियाँ, उनके अभिलेखागार और उनकी संचित विद्या। मुद्रण ने ज्ञान को एकल लिपिकार से परे पहुँच दी, और उसके साथ जन-साक्षरता, वैज्ञानिक क्रांति और आधुनिक संसार आया — ऐसी उथल-पुथल जो इतनी समग्र थी कि मानव-जीवन का कोई कोना जैसा था वैसा नहीं छूटा। यदि ज्ञान को मात्र स्थिर रहना और यात्रा करना सिखाने के ये परिणाम थे, तो हमें इसके परिणामों के विषय में संयत रहना चाहिए कि हमने अब उसे पढ़ना, व्याख्या करना, उत्पन्न करना और शिक्षण करना सिखा दिया है। हम सभ्यता की मशीनरी का समायोजन नहीं कर रहे; हम उस तकनीक को ही बदल रहे हैं जिससे वह सोचती और स्मरण रखती है।



चित्र 8.3 — अध्यात्म का विज्ञान : भारत की शास्त्रीय जड़ें और जीवित वितान।

अतः सब कुछ एक ऐसे चुनाव पर टिका है जो अभी, कुछ काल तक और, हमारा है। इन नई शक्तियों को या तो एक पतले और घर्षण-रहित संसार की ओर मोड़ा जा सकता है जो सब कुछ अनुकूलित करे और कुछ भी न समझे — जो 'कैसे' के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे और 'किसलिए' के प्रत्येक प्रश्न के सम्मुख मौन हो जाए — अथवा एक गहन और बहुल संसार की ओर, जो अभूतपूर्व सामर्थ्य को मानवता की जीवित परम्पराओं की संचित प्रज्ञा से विवाहित करे। पहले के लिए केवल इतना चाहिए कि हम कुछ न करें और मशीनरी को चलने दें; दूसरे के लिए चाहिए कि हम सुविचारित रूप से कार्य करें, प्रज्ञा-परम्पराओं को जीवित रखें और उन्हें इन साधनों के साथ साझेदारी में लाएँ। यह पुस्तक, और इसके पश्चात् आने वाली दो, कठिनतर मार्ग का तर्क हैं, और उस पर चलने की योजना।

इस परिमाण की शक्तियों के सम्मुख यह अनुभव करना सहज है कि परिणाम पहले ही निर्धारित हो चुका है — कि मशीनरी जैसे चलेगी वैसे चलेगी, और व्यक्ति अपनी पहुँच से परे किसी रूपांतरण के मात्र दर्शक हैं। यही सबसे संकटपूर्ण भ्रम है, क्योंकि परिवर्तन की दिशा नियत नहीं है; वह अभी नियत की जा रही है, इन असंख्य चुनावों से कि क्या बनाया जाए, किसे मूल्य दिया जाए, और क्या सुरक्षित रखा जाए। गहन सभ्यता स्वयं का निर्माण नहीं करती। उसके लिए ऐसे लोग चाहिए — शिक्षक, विद्वान, तकनीकीविद्, संस्थाएँ और सामान्य जिज्ञासु — जो सुविचारित रूप से यह चुनें कि प्रज्ञा को जीवित रखा जाए और नए साधनों को उसकी ओर मोड़ा जाए। इस पुस्तक का तर्क अंततः उन्हीं लोगों से एक आग्रह है : भविष्य की प्रतीक्षा नहीं की जा रही; वह बनाया जा रहा है, और उस निर्माण में हिस्सा लेना हमारे हाथ में है।

और जानें · *आगामी सभ्यता — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch8

भाग एक · सारांश
सभ्यताएँ क्यों महत्वपूर्ण हैं

आगे बढ़ने से पूर्व, इस भाग का सार।

मुख्य बिंदु

- सभ्यता अपने स्मारक नहीं, अपितु ज्ञान का जीवित प्रवाह है — वह जो वह जानती है, मूल्यवान मानती है और आगे बढ़ाती है।
- सभ्यताएँ तीन सामर्थ्यों पर उठती हैं : ज्ञान उत्पन्न करना, उसे सुरक्षित रखना, और सबसे बढ़कर उसे संचरित करना।
- निर्णायक आविष्कार संचरण के उपकरण हैं — लिपि, विद्यालय, गुरुकुल, परम्परा और कंठस्थ आवृत्ति।
- भारत आदर्श उदाहरण है : वह सभ्यता जिसने विद्या को मूल्यों के शिखर पर रखा और अपनी संस्थाएँ उसी के चारों ओर बनाईं।
- जब संचरण बाधित होता है, तब सभ्यता अपने भवन रखते हुए भी स्वयं को खो सकती है।
- सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा भिन्न हैं; हमारा युग सूचना में समृद्ध है, किन्तु प्रज्ञा तक ले जाने वाले मार्ग दुर्बल हुए हैं।
- किसी परम्परा की सबसे गम्भीर क्षति ग्रंथों का लोप नहीं, अपितु उनके बीच के संबंधों का विच्छेद है।

चिंतन हेतु प्रश्न

- *इसका क्या अर्थ है कि कोई सभ्यता मर सकती है जबकि उसके स्मारक खड़े रहें?*
- *हमारा अपना युग संचरण के किन उपकरणों पर निर्भर है — और वे कितने टिकाऊ हैं?*

भाग दो
भारत को समझना

यह पूछकर कि सभ्यताएँ क्यों महत्वपूर्ण हैं, अब हम उस ओर मुड़ते हैं जो एक सभ्यता ने जाना — वे शास्त्र, विज्ञान और अनुशासन जिनसे भारत का ज्ञान-कोष बना।

अध्याय नौ:
वेद

सम्पूर्ण परम्परा की जड़ में — दर्शन, महाकाव्यों, विज्ञानों और मंदिरों के नीचे — वेद हैं। भारत को ज्ञान-प्रणाली के रूप में समझने के लिए यहीं से आरम्भ करना होगा, क्योंकि इस खण्ड में आगे जो कुछ है वह सब प्रत्यक्ष अथवा दूरस्थ रूप से इसी मिट्टी से उगता है। वेद कोई एक ग्रंथ नहीं, अपितु ग्रंथों का एक विशाल पिंड हैं, जो काल की एक अपार अवधि में रचे और संरक्षित हुए, और जिन्हें परम्परा मानव लेखकों की कृति नहीं, अपितु श्रुति मानती है : वह जो सुना गया, प्राचीन ऋषियों पर प्रकट हुआ, न कि उनके द्वारा गढ़ा गया। इस दावे को कोई जो भी माने, उसका व्यावहारिक परिणाम गहन था। जिस पाठ को प्रकट माना जाए, और इसीलिए यथावत् संरक्षित किया जाना हो, उसे वह सावधानी मिलती है जिसकी माँग कोई मात्र मानवीय रचना विरले ही कर पाती है।

इस कोष की गणना परम्परा में चार के रूप में होती है। ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक मूलभूत है, स्तुति तथा आवाहन के सूक्तों का एक महान संग्रह। यजुर्वेद अनुष्ठान के सूत्रों को व्यवस्थित करता है। सामवेद पदों को स्वर में बाँधता है, और वस्तुतः भारतीय संगीत-परम्परा का मूल है। अथर्ववेद सामग्री की एक व्यापक श्रेणी एकत्र करता है, जो दैनिक जीवन के व्यावहारिक सरोकारों तक पहुँचती है। इसके अतिरिक्त इनमें से प्रत्येक स्तरित भी है। संहिता, अर्थात् सूक्तों का मूल संग्रह, के पश्चात् ब्राह्मण आते हैं, जो अनुष्ठान का विवेचन करते हैं; फिर आरण्यक, अर्थात् वन की रचनाएँ; और अंततः उपनिषद्, जो अनुष्ठान-कर्म से हटकर अंतिम यथार्थ के चिंतन की ओर मुड़ते हैं। इस स्तरित गति में — सूक्त से अनुष्ठान तक और अनुष्ठान से दर्शन तक — किसी सभ्यता के चिंतन को उसके अपने ही आधारभूत ग्रंथों के भीतर परिपक्व होते देखा जा सकता है।

इस पुस्तक के तर्क के लिए वेदों के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एकल तथ्य यह है कि वे पाठ होने से पूर्व ध्वनि हैं। वेद मुख्यतः कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो लिखी और पढ़ी जाए; वह ऐसी वस्तु थी जो उच्चारित और श्रुत की जाए, और उसकी शक्ति उसके परिशुद्ध ध्वन्यात्मक रूप में — उसके अक्षरों के ठीक-ठीक उच्चारण, स्वर और लय में — निवास करती मानी गई। यही कारण है कि इस परम्परा ने आवृत्ति की वे असाधारण प्रणालियाँ विकसित कीं जिनका

वर्णन पूर्ववर्ती अध्याय में हुआ : ऐसी विधियाँ जो वही शब्द अनेक क्रम-परिवर्तनों में कूटबद्ध करती थीं ताकि कोई त्रुटि अनदेखी न रह सके। वेद वास्तविक अर्थ में मानवता का संचरण-अभियांत्रिकी का प्रथम महान कीर्तिमान थे — एक ऐसा पाठ जो सहस्रों प्रशिक्षित स्मृतियों में वितरित होकर लगभग अविनाशी बना दिया गया और काल के मंद प्रवाह के विरुद्ध कवचित।



चित्र 9.1 — चार वेद और प्रत्येक के चार स्तर।

इस ध्वन्यात्मक और मौखिक स्वभाव को कम आँकना सरल है, और वह हमारी अपनी परियोजना के लिए एक चेतावनी लिए हुए है। जिस सभ्यता ने ज्ञान को जीवित ध्वनि माना, उसकी सेवा ऐसी पद्धति से पूर्णतः नहीं हो सकती जो उसे केवल स्कैन और संचित किए जाने योग्य पाठ माने। वेद को किसी पांडुलिपि के डिजिटल चित्र तक घटा देना उसकी छाया को

संरक्षित करना और स्वयं वस्तु को खो देना है — वह आवृत्ति, वह श्वास, वह वाणी से कान तक का संचरण। इस विरासत को डिजिटल युग में लाने का कोई भी गम्भीर प्रयास ऐसे उपाय खोजे बिना पूर्ण नहीं होगा जो उस जीवित, ध्वनित, देह-धारित आयाम को धारण कर सकें, केवल लिखित अभिलेख को नहीं। वेद हमें हमारे सर्वेक्षण के ठीक आरम्भ में स्मरण कराते हैं कि संरक्षण और पुनर्जीवन एक वस्तु नहीं हैं।

इस मौखिक संचरण की दृढ़ता कोई संयोग नहीं, अपितु सुविचारित तकनीक का फल थी। सामान्य संहिता-पाठ से आगे बढ़कर परम्परा ने विस्तृत क्रम-परिवर्तित रूप विकसित किए — पद, क्रम, जटा और घन पाठ — जिनमें वही शब्द व्यवस्थित रूप से पुनर्क्रमित तथा पुनरावृत्त अनुक्रमों में, आगे और पीछे, परस्पर गुँथे प्रतिरूपों में उच्चारित किए जाते थे। कोई एक अक्षर भी ग़लत स्मरण हो तो प्रतिरूप टूट जाता और तत्क्षण पकड़ लिया जाता। इसका प्रभाव यह हुआ कि एक जीवित पाठ अतिरेकता से सुरक्षित रहा, शताब्दियों के पार सहस्रों प्रशिक्षित कंठों में समान रूप से वहन हुआ, और ऐसी निष्ठा से सुरक्षित रहा जिसकी बराबरी लिखित पांडुलिपियाँ, अपनी समस्त सुविधा के होते हुए भी, नहीं कर सकीं।

ऋग्वेद स्वयं दस मंडलों में व्यवस्थित है, जिनमें देवताओं के एक समूह को सम्बोधित एक सहस्र से अधिक सूक्त एकत्र हैं — अग्नि, इंद्र, ऋत के रक्षक वरुण, उषा, और पवित्र सोम — प्रत्येक प्राकृतिक तथा नैतिक ब्रह्मांड का एक मुख। इसके सर्वाधिक प्रसिद्ध मंत्रों में नासदीय सूक्त है, सृष्टि का सूक्त, जो किसी आत्मविश्वासपूर्ण सृष्टि-विवरण से नहीं, अपितु एक प्रश्न से समाप्त होता है, यह जिज्ञासा करते हुए कि क्या सर्वोच्च साक्षी भी वस्तुतः जानता है कि यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ। कि खुली जिज्ञासा का भाव इस परम्परा के ठीक उद्गम पर खड़ा हो, यह उस स्वभाव के विषय में बहुत कुछ कहता है जो आगे सब कुछ में रहा।

चार वेद, शास्त्रीय व्यवस्था में, महायज्ञ के चार प्रमुख ऋत्विजों के अनुरूप हैं, प्रत्येक के अपने ज्ञान-पिंड के साथ : होता, जो ऋग्वेद के आवाहन का पाठ करता था; अध्वर्यु, जो यजुर्वेद में विहित भौतिक कर्म सम्पन्न करता था; उद्गाता, जो सामवेद की स्वर-रचनाएँ गाता था; और ब्रह्मा, जो सम्पूर्ण अनुष्ठान का पर्यवेक्षण करता और उसकी त्रुटियाँ सुधारता था। इस प्रकार वैदिक यज्ञ पर्याप्त जटिलता की एक समन्वित प्रस्तुति था, जो एक साथ अनेक विशेषज्ञों के सटीक, परस्पर-गुँथे ज्ञान की माँग करता था — ज्ञान को पृथक्, सहयोगी अनुशासनों में संगठित किए जाने का एक प्रारम्भिक तथा उल्लेखनीय उदाहरण।

ऋग्वेद के असंख्य मंत्रों में एक सहस्राब्दियों से विशेष श्रद्धा का पात्र रहा है : गायत्री, बुद्धि के प्रकाशन की एक संक्षिप्त प्रार्थना, जो सूर्य को — बाह्य और आंतरिक, दोनों प्रकाश के स्रोत को — सम्बोधित है। पीढ़ियों तक दीक्षितों द्वारा प्रतिदिन उच्चारित, वह सम्पूर्ण वैदिक भाव का कुछ सार एक ही पंक्ति में आसुत कर देती है — प्रकाश की ओर एक मोड़, जो एक साथ उस भौतिक तेज के रूप में समझा गया जो जीवन को टिकाए रखता है और समझ के आंतरिक तेज के रूप में भी। कि किसी सभ्यता ने ऐसा एक मंत्र तीन सहस्र वर्षों तक अपने जनों के होंठों पर अटूट रूप से वहन किया हो, यह स्वयं उसके संचरण की शक्ति का एक छोटा स्मारक है।

अतः वेदों से सब कुछ आरम्भ होता है : विश्व-दृष्टि, अनुष्ठान, संगीत, दर्शन, और स्वयं वह विचार कि कोई ज्ञान ऐसा है जिसे पीढ़ियों के पार पूर्ण निष्ठा से संरक्षित किया जाना है। किन्तु इसी कोष के अंतिम स्तर में — उपनिषदों में — परम्परा अनुष्ठान के सम्पादन से हटकर उन सर्वाधिक साहसिक प्रश्नों की ओर मुड़ी जो कोई मानव-मन पूछ सकता है : यथार्थ का अंतिम आधार क्या है? वह आत्मा क्या है जो जानती है? और क्या ये दोनों अंततः एक हैं? अब हम उन्हीं प्रश्नों की ओर मुड़ते हैं।

और जानें · *वेद — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch9

अध्याय दस:
उपनिषद्

यदि वेद के पूर्ववर्ती स्तर सबसे बढ़कर अनुष्ठान-कर्म से सरोकार रखते हैं, तो उपनिषद् एक भीतर की ओर मुड़ना और एक ऊपर की ओर उठना चिह्नित करते हैं — अनुष्ठानों के सम्पादन से हटकर स्वयं यथार्थ की प्रत्यक्ष जिज्ञासा की ओर। इन्हें सामूहिक रूप से वेदांत कहा जाता है, ऐसा शब्द जिसका अर्थ है वेद की परिणति अथवा उसका ठीक अंत, और यह नाम दोनों अर्थों में उपयुक्त है : वे इस कोष में अंतिम आते हैं, और वे उसके चिंतन को उसकी उच्चतम पहुँच तक ले जाते हैं। यहाँ परम्परा कुछ काल के लिए यज्ञ की मशीनरी को एक ओर रखकर इसके स्थान पर वे प्रश्न पूछती है जिनसे बड़ा कोई रूप नहीं : यथार्थ क्या है? इस परिवर्तनशील संसार के नीचे क्या है? वह कौन अथवा क्या है जो इस सबका अनुभव करता है?

उपनिषदीय जिज्ञासा के केंद्र में दो विचार खड़े हैं। प्रथम है ब्रह्म — जो कुछ है उस सबका अंतिम, अनुपाधिक आधार, प्रत्येक प्रतीति के पीछे और उसके भीतर का यथार्थ। द्वितीय है आत्मा — अंतरतम स्व, वह शुद्ध बोध जो देह, मन और व्यक्तित्व से भी गहरे में स्थित है। जिस चकित करने वाले दावे की ओर अनेक उपनिषद् बढ़ते हैं वह यह है कि ये दोनों अंतिम विश्लेषण में दो हैं ही नहीं : कि ब्रह्मांड का आधार और आत्मा का आधार एक ही यथार्थ हैं। यह दावा परम्परा के महावाक्यों में संकुचित है, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध वस्तुतः यह घोषित करता है कि गहनतम यथार्थ वही है जो तुम स्वयं सर्वाधिक सत्य रूप में हो। विचार के इतिहास में कुछ ही प्रतिज्ञाएँ इससे अधिक साहसिक हैं, और कुछ ही इससे अधिक फलदायी सिद्ध हुई हैं।

उतना ही महत्वपूर्ण यह है कि उपनिषद् इन प्रश्नों का अनुसरण कैसे करते हैं, क्योंकि विधि स्वयं शिक्षा का अंग है। वे मुख्यतः संवाद से आगे बढ़ते हैं — गुरु और शिष्य, ऋषि और जिज्ञासु, कभी पति और पत्नी, कभी किसी बालक और मृत्यु के देवता के बीच का खोजपूर्ण आदान-प्रदान। यहाँ ज्ञान किसी पूर्ण सिद्धांत के रूप में कंठस्थ करने को नहीं सौंपा जाता, अपितु प्रश्न, चुनौती और उस वस्तु के क्रमिक विघटन के माध्यम से बाहर लाया जाता है जिसे शिष्य केवल जानता हुआ समझता था। यह संचरण का सर्वाधिक अंतरंग रूप है : सूचना की प्रतिलिपि नहीं, अपितु किसी अन्य मन में समझ का जागरण — और यही वह एक वस्तु है, जैसा हमने

तर्क दिया, जो कोई अभिलेखागार नहीं कर सकता और जिसका स्थान कोई संचिका नहीं ले सकती।

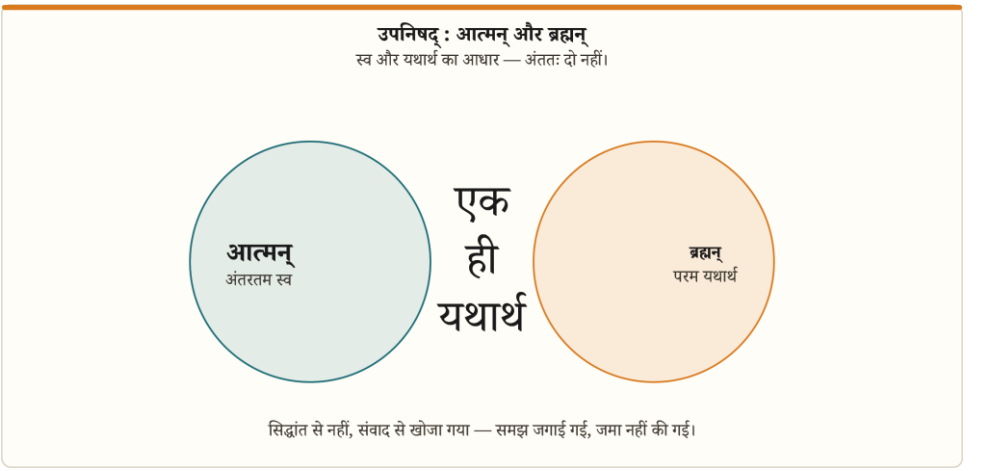

चित्र 10.1 — आत्मन् और ब्रह्मन् : स्व और यथार्थ का आधार, एक।

इस त्रयी के केंद्रीय तर्क के लिए उपनिषदों की प्रासंगिकता को बढ़ा-चढ़ाकर कहना कठिन है। हमने कहा है कि हमारा युग अपने ही यंत्रों के माध्यम से हम पर चेतना, आत्मा और बुद्धि के स्वभाव के प्रश्न थोपता है — और कि ठीक यही वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर सूचना-तकनीक नहीं दे सकती। उपनिषद् किसी भी सभ्यता द्वारा ठीक इन्हीं प्रश्नों का सामना करने के सर्वाधिक निरंतर और सर्वाधिक परिष्कृत प्रयासों में हैं, और वह बाह्य मापन के माध्यम से नहीं, अपितु स्वयं बोध में अनुशासित प्रथम-पुरुष जिज्ञासा के माध्यम से। वे अपनी शुद्धतम सघनता में प्रज्ञा-परम्परा हैं, और वे यह दर्शाते हैं कि यह विरासत कोई अवशेष नहीं, अपितु एक ऐसे संसार के लिए जीवित संसाधन है जो अंततः यह सीख रहा है कि वह गणना करते हुए इस प्रश्न के उत्तर तक नहीं पहुँच सकता कि चेतन होना क्या है।

यद्यपि उपनिषदों की संख्या सैकड़ों में है, एक छोटा समूह प्रमुख गिना जाता है, और उनमें छांदोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश और माण्डूक्य सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी शिक्षा प्रायः अविस्मरणीय संवाद के माध्यम से आती है : कठ में बालक नचिकेता, स्वयं मृत्यु से यह रहस्य जीतता हुआ कि उसके पश्चात् क्या शेष रहता है; ऋषि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उस महान टेक के साथ शिक्षा देते हुए — तत्त्वमसि, "वह तू है" — उसे बार-बार यह देखने को विवश करते हुए कि जो सूक्ष्म सत्ता समस्त वस्तुओं में व्याप्त है वही वह स्व है जिसे वह अपना

कहता है। ऐसे दृश्यों में दर्शन कहा नहीं जाता, अपितु अभिनीत किया जाता है, विद्यार्थी में से तब तक खींचा जाता है जब तक वह उसका अपना न हो जाए।

परम्परा ने आगे चलकर उपनिषदों की सर्वाधिक साहसिक घोषणाओं को महावाक्यों के एक समुच्चय में एकत्र किया, प्रत्येक उस अभेद का एक संक्षिप्त कथन जिसका उपनिषद् अनुसरण करते हैं : कि चेतना यथार्थ का आधार है, कि स्व वही आधार है, कि तत्त्वमसि, कि यही स्व वह परम है। ये नारे नहीं, अपितु चिंतन के बीज हैं, जिन्हें किसी शिक्षक के सान्निध्य में धीरे-धीरे खोला जाना है जब तक उनका अर्थ केवल समझा ही नहीं, अपितु साक्षात् न हो जाए। इनमें वेदांत की सम्पूर्ण गति कुछ ही शब्दों में संकेंद्रित है — यही कारण है कि दो सहस्र वर्षों से अधिक काल तक इन पर ध्यान किया गया, विवाद किया गया, और इनकी व्याख्या की गई है।

उपनिषद् अपने ही परिवेश में इसका संकेत वहन करते हैं कि वे पढ़ाए कैसे जाते थे — वन के आश्रम की आत्मीयता में, विद्यार्थी शिक्षक के निकट बैठा हुआ, शिक्षा घोषित किए जाने के स्थान पर विश्वास में सौंपी जाती हुई। यह ऐसा ज्ञान माना गया जो अनौपचारिक प्रसार के लिए अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत बहुमूल्य था, और जो केवल प्रस्तुत तथा योग्य को ही दिया जाना था। पूर्ववर्ती वेद के सार्वजनिक, विस्तृत अनुष्ठान से उपनिषदों की शांत, अंतर्मुखी जिज्ञासा की ओर यह गति मानव-आत्मा के इतिहास के महान मोड़ों में से एक है — बाह्य जगत् के प्रबंधन से आंतरिक जगत् के अन्वेषण की ओर ध्यान का मुड़ना।

उपनिषद् प्रश्न उठाते हैं और दिशा दिखाते हैं, किन्तु वे यह खंडों में करते हैं, कौंधों में, अनेक ग्रंथों में बिखरे संवादों में। परम्परा को आगे चलकर यह आवश्यकता अनुभव हुई कि इस उड़ान भरती हुई, अव्यवस्थित प्रज्ञा को क्रमबद्ध रूप में एकत्र किया जाए, और उसे अन्य साधनों की भी आवश्यकता हुई — सबसे बढ़कर आख्यान की — ताकि ये सत्य वन-विद्यापीठों से आगे सम्पूर्ण समाज तक पहुँच सकें। ये दोनों विकास आगामी अध्यायों का विषय हैं, और आरम्भ उन महाकाव्यों से जिनके माध्यम से गहनतम शिक्षाएँ सब तक पहुँचीं।

और जानें · *उपनिषद् — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch10

अध्याय ग्यारह:
इतिहास

उच्चतम दर्शन किसी सभ्यता के लिए अल्प उपयोग का है यदि वह कभी विद्वत्-गोष्ठी से बाहर न निकले। जो परम्परा केवल उपनिषद् उत्पन्न करती, वह वन-ऋषियों के किसी छोटे विशिष्ट वर्ग की परम्परा होती, और वह लगभग निश्चित रूप से बची न रहती। भारत ने सब तक पहुँचने की समस्या को अब तक गढ़ी गई सर्वाधिक शक्तिशाली संचरण-तकनीकों में से एक के माध्यम से हल किया : कथा। यह इतिहास का क्षेत्र है — ऐसा शब्द जिसका अनुवाद प्रायः "इतिहास" के रूप में होता है, किन्तु जिसका शाब्दिक अर्थ, "ऐसा ही हुआ", वृत्तांत अथवा पुराख्यान दोनों से समृद्धतर किसी वस्तु की ओर संकेत करता है। इतिहास किसी सभ्यता के गहनतम सत्यों का आख्यान के माध्यम से संचरण है, और उसके दो महान स्मारक रामायण और महाभारत हैं।

ये केवल दीर्घ काव्य नहीं हैं। ये सम्पूर्ण सभ्यता के विशाल भंडार हैं — उसकी नीति, उसके आदर्श, उसका राजनय, उसका मनोविज्ञान, कर्तव्य, प्रेम, युद्ध, निष्ठा और हानि की उसकी समझ — पात्र और घटना में इस प्रकार कूटबद्ध कि उन्हें कोई भी वहन कर सके, शिक्षित हो या न हो। जिस ग्रामवासी ने उपनिषदों की एक पंक्ति भी नहीं पढ़ी, उसने राम की परीक्षाओं, पांडवों के धर्म-संकटों, गर्वित राजाओं के पतन और टूटे व्रतों की कीमत से जीवन का एक कार्यशील दर्शन आत्मसात् कर लिया। महाकाव्यों ने कहकर नहीं, अपितु दिखाकर पढ़ाया, और यही कारण है कि उनके पाठ इतने गहरे बैठे। किसी महान पात्र को ग़लत चुनाव करते और उसका फल भोगते देखना किसी नैतिक सत्य का भार उस रीति से सीखना है जिस रीति से कोई सूक्ति नहीं सिखा सकती।

महाभारत के भीतर वह स्थित है जिसे अनेक लोग सम्पूर्ण परम्परा का दार्शनिक मुकुट मानते हैं : भगवद्गीता, युद्ध की पूर्व-संध्या पर किसी हताश योद्धा और उसके दिव्य सारथी के बीच का संवाद। यह संचरण की एक उत्कृष्ट युक्ति है। कर्म, कर्तव्य, अनासक्ति और आत्मा के स्वभाव पर सर्वाधिक कठिन शिक्षाएँ अमूर्त रूप में नहीं, अपितु किसी ठोस और यातनापूर्ण मानवीय संकट के क्षण में दी जाती हैं, जिससे दर्शन इस जीवित प्रश्न से अविभाज्य हो जाता है कि जब प्रत्येक चुनाव कोई घाव लिए हुए प्रतीत हो तब आचरण कैसे किया जाए। गीता इतिहास

की प्रतिभा को लघु रूप में दिखाती है : गम्भीर सिद्धांत को किसी ऐसी कथा के भीतर रखकर अविस्मरणीय बना देना जिसे प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सके।

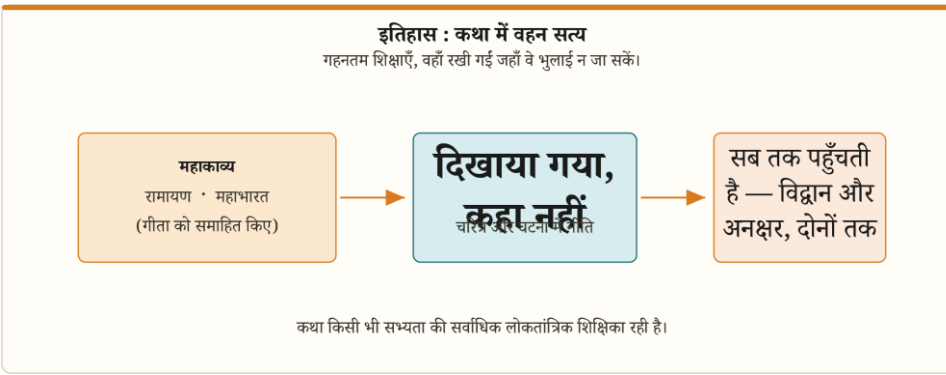

चित्र 11.1 — इतिहास : गहनतम शिक्षाएँ, कथा द्वारा सब तक वहन।

इस पुस्तक की दृष्टि से देखा जाए तो महाकाव्य परम्परा का संयोजी ऊतक और उसका देह-धारण का स्तर हैं, जो सभ्यतागत पैमाने पर कार्य कर रहे हैं। उन्होंने अमूर्त विश्व-दृष्टि को सामान्य जनों के जिए हुए अनुभव से बाँधा; उन्होंने उस कोष को विद्यापीठ से बाहर निकालकर घर तक, मंदिर के प्रांगण तक, घुमंतू कथावाचक की प्रस्तुति तक और ग्राम के पुनःकथन तक पहुँचाया। और चूँकि वे किसी एक स्थिर पाठ के स्थान पर प्रस्तुति और पुनःकथन में जीवित रहे, वे ठीक उसी रीति से प्रत्यास्थ थे जिसका वर्णन हमने किया है — असंख्य वाणियों और क्षेत्रीय रूपों में वितरित, किसी एक पांडुलिपि को नष्ट करके मिटा पाना असम्भव।

इन कृतियों का परिमाण स्वयं उनके अर्थ का अंग है। महाभारत, लगभग एक लाख श्लोकों के साथ, अब तक रचे गए दीर्घतम काव्यों में है, और वह अपने भीतर केवल कुरु-भाइयों का महायुद्ध ही नहीं, अपितु धर्म, राजनीति और मोक्ष पर विवेचन भी धारण करता है, जिससे परम्परा उसके विषय में कह सकी कि जो अन्यत्र मिलता है वह यहाँ मिल सकता है, और जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं मिलता। कवि वाल्मीकि को श्रेय दिया गया रामायण सम्यक् आचरण का एक आदर्श गढ़ गया — राम में, सीता में, हनुमान की भक्ति में — जिसने दो सहस्र वर्षों से अधिक काल तक उपमहाद्वीप की नैतिक कल्पना को क्रम दिया है, और जो असंख्य भाषाओं तथा रूपों में पुनः कहा गया है।

महाकाव्य किसी एक स्थिर पाठ में नहीं, अपितु पुनःकथनों के अनंत विस्तार में जीते रहे, और यही उनकी पहुँच तथा उनकी प्रत्यास्थता का रहस्य था। वे चारणों द्वारा गाए गए, मंदिर-प्रांगणों और ग्राम-उत्सवों में अभिनीत हुए, भित्तियों पर चित्रित हुए, और प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा में नए सिरे से उतारे गए — अकेला रामायण उपमहाद्वीप में और उससे आगे दक्षिण-पूर्व एशिया तक दर्जनों भिन्न संस्करणों में विद्यमान है। क्योंकि वे किसी एक पांडुलिपि के स्थान पर प्रस्तुति में और अनेक वाणियों में जीते थे, इसलिए किसी एक पाठ की हानि से उन्हें मिटाया नहीं जा सकता था, और वे उन जनों की कल्पना में भी प्रविष्ट हुए जिन्होंने संस्कृत का एक शब्द भी कभी नहीं पढ़ा।

भगवद्गीता को महाभारत के महायुद्ध के हृदय में रखने की प्रतिभा उसके समय-निर्धारण में निहित है। शिक्षा किसी शांत चिंतन के क्षण में नहीं, अपितु युद्ध के ठीक कगार पर आती है, ऐसे योद्धा के ढह जाने में जो अपने ही स्वजनों से लड़ने को स्वयं को तैयार नहीं कर पाता — जिससे उच्चतम दर्शन एक ठोस और यातनापूर्ण मानवीय संकट के उत्तर में प्रस्तुत होता है। यह परम्परा की पद्धति है, अपने सर्वाधिक शक्तिशाली रूप में : सत्य को महानतम आवश्यकता के क्षण में बोलकर अविस्मरणीय बना देना, और कर्तव्य, अनासक्ति तथा स्व के स्वभाव की व्याख्या अमूर्त रूप में नहीं, अपितु वहाँ करना जहाँ एक वास्तविक जीवन तराजू पर टँगा हो।

यह इस विरासत और आगामी तकनीकों के सर्वाधिक स्वाभाविक मिलनों में से एक की ओर भी संकेत करता है। यदि आख्यान और प्रस्तुति ही वे साधन थे जिनसे यह परम्परा कभी सब तक पहुँची, तो हमारे अपने युग के निमज्जित और अनुभवात्मक माध्यम — चलता हुआ चित्र, संवादात्मक संसार, वह कथा जिसमें केवल पढ़ा नहीं, अपितु प्रवेश किया जाए — महाकाव्य-परम्परा के प्रत्यक्ष वंशज हैं, और उसका स्वाभाविक आधुनिक विस्तार। किन्तु आख्यान ही वह एकमात्र उपाय नहीं था जिससे परम्परा ने अपना ज्ञान सम्पूर्ण समाज तक फैलाया। महाकाव्यों के साथ-साथ साहित्य का एक और भी अधिक विश्वकोषीय तथा लोकतांत्रिक पिंड विकसित हुआ, और अब हम उसी की ओर मुड़ते हैं।



और जानें · *इतिहास — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch11

अध्याय बारह:

पुराण

यदि महाकाव्यों ने परम्परा की नीति और आदर्श सम्पूर्ण समाज तक पहुँचाए, तो पुराणों ने लगभग शेष सब कुछ पहुँचाया। ये भारत का विश्वकोषीय साहित्य हैं : ऐसे विस्तृत संकलन जो ब्रह्मांड-विज्ञान और वंशावली, पुराख्यान और इतिहास, पवित्र भूगोल और अनुष्ठान, दर्शन और भक्ति को एक ही सुलभ प्रवाह में एकत्र करते हैं। परम्परा में इनकी गणना अठारह महापुराणों के रूप में होती है, और इनके अतिरिक्त असंख्य उपपुराण तथा क्षेत्रीय रचनाएँ भी हैं; ये वह माध्यम थे जिसके द्वारा एक विशाल सभ्यता ने अपना ज्ञान सामान्य जनों को ऐसे रूप में उपलब्ध कराया जिसे वे प्रेम कर सकें, स्मरण रख सकें और आगे बढ़ा सकें।

इनके कार्य को लोकतंत्रीकरण के रूप में समझना सर्वोत्तम है। सर्वाधिक कठिन ग्रंथ — वेद और उनका दर्शन — इतिहास के बड़े भाग में कुछ ही लोगों का क्षेत्र रहे। पुराणों ने उन ग्रंथों में निहित विश्व-दृष्टि को लेकर उसे कथा में पुनः अभिव्यक्त किया, देवताओं के कर्मों और ब्रह्मांड के आकार में, पवित्र स्थलों के वृत्तांतों और तीर्थ के माहात्म्य में, ऐसे रूप में जो विद्या अथवा स्थिति की परवाह किए बिना सबके लिए सुलभ था। सबसे बढ़कर वे भक्ति का महान वाहन बने, प्रेमपूर्ण समर्पण का वह मार्ग जिसने अनुष्ठान-विशेषज्ञता की द्वारपाली को लाँघकर प्रत्येक व्यक्ति को दिव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अवसर दिया। ऐसा करते हुए पुराणों ने इस परम्परा को अपरिमेय रूप से विस्तृत किया, उसे वह लोक-आधार देते हुए जिसके बिना वह आगे आने वाली उथल-पुथल की शताब्दियों को कठिनाई से ही अतिजीवित कर पाती।

पुराणों को सम्यक् रूप से पढ़ना आवश्यक है, और स्वयं परम्परा ने उन्हें आधुनिक अर्थ में शाब्दिक वृत्तांत के रूप में नहीं, अपितु ब्रह्मांडीय कथा के माध्यम से सत्य सिखाने की एक पद्धति के रूप में समझा। यह पूछना कि कोई पौराणिक वृत्तांत किसी समाचार-पत्र की भाँति तथ्यतः यथार्थ है या नहीं, इस बात को न समझना है कि वह किसलिए था। उनकी वंशावलियाँ, उनके काल के विशाल चक्र, सृष्टि के उनके स्तरित वृत्तांत किसी विश्व-दृष्टि के वाहन हैं, किसी बहीखाते की प्रविष्टियाँ नहीं। यह भेद ऐसी किसी भी सामग्री को डिजिटल ज्ञान-प्रणाली में लाने के प्रत्येक प्रयास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसे सावधान रहना होगा कि वह पुराणों को

वही रूप दे जो वे हैं — अपार सांस्कृतिक गहराई का भक्ति-परक और शिक्षण-परक साहित्य — न कि उन्हें शाब्दिक इतिहास अथवा मात्र कल्पकथा में समतल कर दे।



चित्र 12.1 — पुराण : कथा और भक्ति के माध्यम से परम्परा का लोकतंत्रीकरण।

पुराण उन दो अभिकल्प-सिद्धांतों को मूर्त करते हैं जिन्हें हमने इस सभ्यता की प्रत्यास्थता के स्रोतों के रूप में पहचाना था। वे वितरित और बहुल हैं : असंख्य क्षेत्रीय संस्करणों में विद्यमान, स्थानीय देवताओं और पवित्र स्थलों के अनुरूप ढले हुए, उनका कोई एक प्रामाणिक रूप था ही नहीं जिसे नष्ट किया जा सके, और उन्होंने महान परम्परा को प्रत्येक क्षेत्र की विशिष्ट मिट्टी में बुन दिया। और वे जिए हुए आचरण में गहराई से अंतर्निहित हैं, उत्सवों, मंदिरों, तीर्थों और सामान्य भक्ति की लय से बँधे हुए, जिससे उनके द्वारा वहन किया गया ज्ञान केवल पृष्ठ पर नहीं, अपितु पंचांग और भू-दृश्य में जीवित रहा।

अठारह महापुराण पारम्परिक रूप से उस देवता के अनुसार समूहित हैं जिसका वे उत्कर्ष करते हैं — जो विष्णु पर केंद्रित हैं, जो शिव पर, और जो देवी पर — फिर भी वे चिंताओं के एक साझा समुच्चय पर विचरण करते हैं : लोकों की सृष्टि और प्रलय, देवताओं तथा राजाओं की वंशावलियाँ, काल के युग, और भक्ति के पवित्र स्थान तथा व्रत। पुराणों के माध्यम से ही, किसी भी दार्शनिक ग्रंथ की अपेक्षा कहीं अधिक, जन-साधारण का परम्परा से साक्षात्कार हुआ : भागवत में कृष्ण की कथाओं में, तीर्थ और उत्सव के विवरणों में, उन गीतों और पाठों में जो ब्रह्मांड-विज्ञान तथा नीति को प्रत्येक गाँव और घर तक ले गए।

पुराणों में भागवत का विशेष स्थान है, क्योंकि उसका कृष्ण के जीवन और लीला का वर्णन भक्ति-धर्म के महान उद्गमों में से एक बन गया। उसके माध्यम से, और उन भक्ति-आंदोलनों के माध्यम से जिन्हें उसने पोषित किया, परम्परा ने ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया जो सबके लिए खुला

था — विद्या, जन्म अथवा स्थिति की परवाह किए बिना — जिसमें किसी सगुण देवता के प्रति प्रेम और समर्पण को अनुष्ठान-निपुणता अथवा दार्शनिक उपलब्धि पर वरीयता मिली। पवित्र का यह उद्घाटन, जो संस्कृत ग्रंथ के स्थान पर गीत और कथा में वहन हुआ, परम्परा को शताब्दियों तक जीवित और सामान्य जनों के निकट रखने में किसी भी अन्य वस्तु जितना ही प्रभावी रहा।

महापुराणों के साथ-साथ स्थानीय पवित्र वृत्तांत का एक विशाल साहित्य भी उगा — स्थल-पुराण, जो किसी विशेष मंदिर अथवा तीर्थ की विशेष कथा कहते थे : वह पवित्र कैसे हुआ, वहाँ कौन-से चमत्कार हुए, तीर्थयात्री को वहाँ क्यों आना चाहिए। इन विनम्र ग्रंथों ने महान परम्परा को प्रत्येक स्थान की मिट्टी में बुन दिया, प्रत्येक स्थान को पवित्र कथा में उसका भाग देते हुए और सार्वभौम को विशेष से बाँधते हुए। इनके माध्यम से परम्परा कोई दूरस्थ अमूर्तन नहीं, अपितु अपने ही नगर, अपनी ही नदी, अपनी ही पहाड़ी का जीवित इतिहास बन गई — और यह उन कारणों में है जिनसे उसने इतनी गहरी तथा चिरस्थायी जड़ पकड़ी।

पुराणों के साथ हमने देखा कि परम्परा किस प्रकार बाहर की ओर और नीचे की ओर, सम्पूर्ण समाज तक पहुँची। किन्तु किसी जीवित परम्परा को भीतर की ओर और ऊपर की ओर भी पहुँचना होता है — उसे अपने ही उच्चतम चिंतन को व्यवस्थित करने, उसे कठोरता से कहने, उसके पक्ष में तर्क देने और उसे केवल कथा तथा गीत के रूप में नहीं, अपितु तर्क के एक अनुशासित पिंड के रूप में आगे सौंपने में समर्थ होना होता है। व्यवस्थीकरण का वह कार्य उन ग्रंथों और परम्पराओं की उपलब्धि है जिन पर हम आगे विचार करते हैं, और आरम्भ उस संक्षिप्त आधार से जिस पर वेदांत के महान सम्प्रदाय खड़े हुए।

और जानें · *पुराण — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch12

अध्याय तेरह:
ब्रह्मसूत्र

उपनिषद् उदात्त हैं, किन्तु वे बिखरे हुए हैं। उनकी अंतर्दृष्टियाँ संवादों और कौंधों में आती हैं, अनेक ग्रंथों में फैली हुई, कभी-कभी परस्पर तनाव में, और विरले ही व्यवस्थित क्रम में। जो परम्परा अंतिम यथार्थ के विषय में सावधानी से तर्क करना चाहती थी — और अपने निष्कर्षों की प्रतिद्वंद्वी सम्प्रदायों के विरुद्ध रक्षा करना चाहती थी — उसे उन अंतर्दृष्टियों का एकत्रीकरण, क्रम-निर्धारण और परिशुद्ध कथन चाहिए था। यही ब्रह्मसूत्रों का कार्य है, एक अत्यंत संक्षिप्त ग्रंथ जो उपनिषदों की शिक्षा को सूत्रों की एक शृंखला में आसुत करता है, और जो उपनिषदों तथा भगवद्गीता के साथ मिलकर उन तीन आधारों में से एक है, प्रस्थानत्रयी, जिन पर वेदांत का सम्पूर्ण भवन टिका है।

सूत्र अपनी संक्षिप्तता के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सूत्र लगभग मौन के बिंदु तक संकुचित है, कुछ ही शब्द किसी सम्पूर्ण तर्क के स्थान पर खड़े हुए, उस परम्परा की रीति से जो कभी अपनी विद्या स्मृति में वहन करती थी और अभिव्यक्ति की परम मितव्ययिता को मूल्य देती थी। यह संक्षिप्तता कोई दोष नहीं, अपितु एक अभिकल्प है : सूत्र एक बीज है, जिसे किसी जीवित गुरु द्वारा खोला जाना है। और ठीक इसीलिए कि बीज को एक से अधिक रीतियों से खोला जा सकता है, ब्रह्मसूत्रों ने इस परम्परा की सर्वाधिक उल्लेखनीय बौद्धिक परिघटनाओं में से एक को जन्म दिया — भाष्य की महान परम्परा।

क्योंकि वह संक्षिप्त मूल पाठ वह साझा भूमि बन गया जिस पर इस परम्परा की गहनतम असहमतियाँ लड़ी गईं। भाष्यकार शंकर ने सूत्रों को पढ़ा और उनमें एक कठोर अद्वैत पाया, जिसमें अंतिम यथार्थ और आत्मा पूर्णतः एक हैं और समस्त बहुलता गहनतम स्तर पर प्रतीति है। रामानुज ने उन्हीं सूत्रों को पढ़ा और एक विशिष्ट अद्वैत पाया, जिसमें आत्मा और संसार वास्तविक हैं और दिव्य के शरीर हैं। मध्व ने उन्हें पढ़ा और एक अटल द्वैत पाया, जिसमें जीव और ईश्वर सदैव भिन्न हैं। तीन महान मन, एक मूल पाठ, यथार्थ की तीन गहन रूप से भिन्न दृष्टियाँ — प्रत्येक अपार कठोरता से तर्कित, और प्रत्येक ने आगे शताब्दियों के भाष्य तथा वाद को जन्म दिया।



चित्र 13.1 — ब्रह्मसूत्र : एक संक्षिप्त मूल, तीन महान पाठ।

यह सम्पूर्ण परम्परा में उस दावे के सर्वाधिक स्पष्ट दृष्टांतों में से एक है जो इस खण्ड में पहले किया गया था : कि किसी जीवित ज्ञान-प्रणाली में अर्थ सम्बन्ध-सापेक्ष होता है, जो ग्रंथों के बीच के संयोजनों में उतना ही वहन होता है जितना किसी अकेले ग्रंथ में। ब्रह्मसूत्रों का व्यवहार में वही अर्थ है जो भाष्य की महान परम्परा ने उनका बनाया; मूल और उसके भाष्य मिलकर तर्क का एक सघन जीवित जाल बनाते हैं, और उन सूत्रों को उस जाल से काट देना किसी जीवित वाद को किसी अबोधगम्य खंड तक घटा देना होगा। मूल्य केवल बीज में नहीं, अपितु उस सम्पूर्ण वृद्धि में है जिसे उस बीज ने सम्भव बनाया।

भाष्यकारों के बीच का मतभेद किसी निरर्थक सूक्ष्मता का विषय नहीं था, अपितु उन गहनतम प्रश्नों का जो कोई मनुष्य पूछ सकता है — कि जगत् अंततः वास्तविक है अथवा एक प्रकार का आभास; कि जीव अंततः परम से अभिन्न है अथवा उससे नित्य रूप से सम्बद्ध; कि मोक्ष सदा उपस्थित किसी एकत्व की प्रत्यभिज्ञा है अथवा अभी प्राप्त की जाने वाली किसी सायुज्य की उपलब्धि। प्रत्येक महान आचार्य ने उस संक्षिप्त मूल पर केवल एक पाठ ही नहीं, अपितु एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक मार्ग खड़ा किया, अपने अनुशासन के साथ, भक्ति की अपनी अवधारणा के साथ, और अनुयायियों के अपने समुदाय के साथ, जो आज तक टिका हुआ है।

जिस रीति से ये भाष्य तर्क करते हैं, वह स्वयं शिक्षाप्रद है। प्रत्येक पहले प्रतिपक्षी का पक्ष उसके सबलतम रूप में रखकर आगे बढ़ता है — पूर्वपक्ष — और तत्पश्चात् अपना उत्तर प्रस्तुत करता है, जिससे पाठ आपत्ति और प्रत्युत्तर का एक संरचित संवाद बन जाता है जो पीढ़ियों के पार चलता है। किसी गम्भीर दार्शनिक से यह अपेक्षा थी कि वह प्रतिद्वंद्वी प्रणाली

को इतनी भली प्रकार समझे कि उसे उसके अपने अनुयायियों से बेहतर रख सके, और तभी उसका खंडन करे। विरोध से उसके सबलतम रूप में मिलने का यह अनुशासन, जो स्वयं इस वाङ्मय के रूप में अंतर्निहित है, परम्परा की बौद्धिक गरिमाओं में से एक है, और ऐसा मानदंड है जिससे तर्क-वितर्क का हमारा अपना युग ईर्ष्या कर सकता है।

इसका परम्परा को डिजिटल रूप में प्रस्तुत करने के प्रत्येक प्रयास के लिए एक प्रत्यक्ष और कठिन निहितार्थ है। जो ज्ञान-प्रणाली केवल मूल पाठ अभिलिखित करे, अथवा किसी एक व्याख्या को ऐसे अभिलिखित करे मानो वही अर्थ हो, वह इस परम्परा के स्वभाव के साथ ही विश्वासघात करेगी। वेदांत को निष्ठापूर्वक धारण करने के लिए किसी डिजिटल प्रणाली को बहुलता धारण करने में समर्थ होना होगा — वही पाठ, उसके अनेक भाष्य, और उनकी असहमतियाँ, परस्पर जुड़ी और नौवहन-योग्य, तर्क समतल किए जाने के स्थान पर संरक्षित। ब्रह्मसूत्र हमें सिखाते हैं कि इस परम्परा के प्रति निष्ठा का अर्थ उसकी बहुलता के प्रति निष्ठा है। और वह बहुलता सर्वाधिक इस परम्परा की औपचारिक वाद-संस्कृति में पोषित हुई, उन सम्प्रदायों के बीच जिनकी परीक्षा हम शीघ्र करेंगे। किन्तु पहले हमें उन सहायक विज्ञानों पर विचार करना होगा जो स्वयं वेद की रक्षा और उसके प्रयोग के लिए बनाए गए थे।

और जानें · *ब्रह्मसूत्र — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch13

अध्याय चौदह:
वेदांग

जो सभ्यता किसी ग्रंथ-राशि को पूर्ण निष्ठा से संरक्षित करने और उसे सहस्रों वर्षों तक उपयोग-योग्य बनाए रखने का संकल्प करती है, उसे ज्ञान का एक द्वितीय क्रम विकसित करना होता है : स्वयं उन ग्रंथों के विषय में ज्ञान — उनका उच्चारण कैसे हो, उनका पद-विच्छेद कैसे हो, उनके शब्दों का अर्थ कैसे समझा जाए, उनके अनुष्ठानों का काल कैसे निर्धारित हो, उनके कर्मकांड सम्यक् रूप से कैसे सम्पन्न हों। भारत में इस अधि-ज्ञान को छह सहायक अनुशासनों में व्यवस्थित किया गया, जिन्हें वेदांग कहा जाता है, अर्थात् वेद के अंग। ये सम्पूर्ण परम्परा की सर्वाधिक प्रकट करने वाली उपलब्धियों में हैं, क्योंकि इनमें हम किसी सभ्यता को सचेत रूप से अपने ही संचरण की अभियांत्रिकी करते हुए देख सकते हैं।

ये छह अंग प्रत्येक इस विरासत के एक भिन्न पक्ष की रक्षा करते हैं। शिक्षा ध्वनि-विज्ञान और सम्यक् उच्चारण का शास्त्र है, जो उस परिशुद्ध ध्वनि की रक्षा करता है जिस पर वेद की शक्ति निर्भर मानी गई। छंद प्रस्तार और मात्रा का शास्त्र है, जो पदों के लयात्मक रूपों को सुरक्षित रखता है। व्याकरण भाषा का नियमों में विश्लेषण है। निरुक्त व्युत्पत्ति-शास्त्र है, शब्दों के अर्थ और उनकी उत्पत्ति का विज्ञान, जो यह सुनिश्चित करता है कि प्राचीन पदों का भाव लुप्त न हो। ज्योतिष आकाश और काल का शास्त्र है, जिससे अनुष्ठान के सम्यक् क्षणों की गणना की जाती थी। और कल्प प्रक्रिया का शास्त्र है, जो स्वयं कर्मकांडों के सम्यक् सम्पादन को संहिताबद्ध करता है। मिलकर ये किसी पवित्र कोष को पीढ़ियों के पार अक्षुण्ण, बोधगम्य और उपयोग-योग्य बनाए रखने का एक सम्पूर्ण उपकरण-समुच्चय बनाते हैं।

इनमें से एक अंग विशेष ध्यान का अधिकारी है, क्योंकि वह प्राचीन संसार की शिखर बौद्धिक उपलब्धियों में खड़ा है। संस्कृत के व्याकरण को वैयाकरण पाणिनि ने कठोरता की ऐसी ऊँचाई तक पहुँचाया जिसने आधुनिक विद्वानों को चकित किया है। उनकी महान कृति इस भाषा का विश्लेषण नियमों की एक सुसंहत, क्रमबद्ध प्रणाली के माध्यम से करती है जो सम्यक् रूपों को ऐसी परिशुद्धता और मितव्ययिता से उत्पन्न करती है जिसकी तुलना भाषाविदों ने आधुनिक तर्कशास्त्र तथा संगणन की औपचारिक प्रणालियों से की है। ठीक-ठीक समानताएँ जो भी हों, मूल बिंदु विवाद से परे है : यहाँ एक ऐसी सभ्यता थी जिसने अपनी ही भाषा के

वर्णन में औपचारिक, व्यवस्थित, नियम-शासित विश्लेषण का वह स्तर प्राप्त कर लिया था जिसकी समता संसार बहुत लम्बे काल तक नहीं देख सका।



चित्र 14.1 — वेदांग : वेद को सुरक्षित रखने और प्रयुक्त करने के लिए बने छह अंग।

इस पुस्तक के तर्क के लिए वेदांग अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे अक्षरशः संचरण का विज्ञान हैं — ऐसा ज्ञान जो केवल इस प्रयोजन से विकसित किया गया कि अन्य ज्ञान को काल

के पार संरक्षित और प्रयुक्त किया जा सके। इन अनुशासनों का निर्माण करते हुए भारत ने सचेत और स्पष्ट रूप से वह किया जो अधिकांश सभ्यताएँ केवल संयोगवश करती हैं : उसने ज्ञान को जीवित रखने की समस्या का अध्ययन किया, और उसे हल करने के लिए समर्पित उपकरण बनाए। यह परम्परा का अपने ही अतिजीवन पर चिंतन है, और यह चिंतन-पद्धति किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए अभ्रांत अनुगूँज रखती है जो अब सभ्यतागत ज्ञान के संरक्षण और संचरण की प्रणालियाँ अभिकल्पित करने का प्रयास कर रहा हो।

इस व्याकरण-विज्ञान का सर्वोच्च स्मारक पाणिनि की अष्टाध्यायी है, जिसकी रचना सम्भवतः ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व हुई। लगभग चार सहस्र संक्षिप्त सूत्रों में, ऐसी मितव्ययिता से व्यवस्थित जिसने आधुनिक विद्वानों को चकित किया है, पाणिनि ने संस्कृत भाषा के शुद्ध रूपों को धातुओं तथा संक्रियाओं के एक सघन समुच्चय से व्युत्पन्न किया — एक औपचारिक, जनक प्रणाली, जिसकी संरचना की तुलना भाषाविदों तथा संगणक-वैज्ञानिकों ने बीसवीं शताब्दी के औपचारिक व्याकरणों से की है। सटीक समांतरताएँ जो भी हों, उपलब्धि निर्विवाद है : किसी प्राकृतिक भाषा का एक पूर्ण और कठोर विवरण, जो ढाई सहस्राब्दी पूर्व प्रस्तुत हुआ और जो आज भी अपने ही अधिकार से अध्ययन का विषय बना हुआ है।

निर्वचन-विज्ञान का अपना आधारभूत ग्रंथ यास्क का निरुक्त था, जिसने कठिन तथा प्राचीन वैदिक शब्दों के अर्थ और व्युत्पत्ति की व्याख्या का कार्य अपने ऊपर लिया — जो स्वयं इसका प्रमाण है कि यास्क के लिखते समय वेद कितने प्राचीन हो चुके थे, और परम्परा के इस संकल्प का भी कि उनका भाव उस भाषा के बीत जाने के साथ लुप्त न हो जिसमें वे रचे गए थे। वेदांग मिलकर संरक्षण का एक सम्पूर्ण तंत्र बनाते हैं : ध्वनि की रक्षा के लिए उच्चारण का विज्ञान, रूप की रक्षा के लिए छंद का, भाव की रक्षा के लिए व्याकरण और निर्वचन का, समय की रक्षा के लिए खगोल का, और अनुष्ठान की रक्षा के लिए विधि का।

आधुनिक परियोजना के लिए यह पाठ प्रत्यक्ष है। कोई डिजिटल ज्ञान-प्रणाली मूलतः ठीक उसी का अभ्यास है जिसका प्रयास वेदांगों ने किया : किसी उत्तराधिकार में मिले ज्ञान का कूटबद्धन, पद-विच्छेद, काल-निर्धारण और सम्यक् प्रयोग। यह परम्परा ऐसी प्रणाली के लिए केवल सामग्री ही नहीं देती, अपितु स्वयं उसके अभिकल्प के लिए एक पूर्व-उदाहरण भी देती है — यह प्रदर्शन कि संचरण का विज्ञान स्वयं एक योग्य और कठोर अनुशासन है। अपने अंगों के माध्यम से वेद को सुरक्षित करने के पश्चात् परम्परा बाहर की ओर मुड़ी, तर्क, यथार्थ और

वैध ज्ञान के सर्वाधिक बड़े प्रश्नों की ओर, दर्शन के उन छह महान सम्प्रदायों में जिन तक अब हम आते हैं।



और जानें · *वेदांग — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch14

अध्याय पंद्रह:
दर्शन

"दर्शन" शब्द का अर्थ है देखने की एक रीति — एक दृष्टि, एक दृष्टिकोण, यथार्थ को देखने का एक सम्पूर्ण ढंग। यह नाम इस बात को प्रकट करता है कि परम्परा ने किसी एक आधिकारिक दर्शन के स्थान पर क्या उत्पन्न किया : कोई एक प्रमाणित सिद्धांत नहीं, अपितु पृथक् प्रणालियों का एक कुल, जिनमें से प्रत्येक संसार की एक सुसंगत और कठोरता से तर्कित दृष्टि है, और जो शताब्दियों तक साथ-साथ रहीं और परस्पर विवाद करती रहीं। शास्त्रीय परम्परा छह महान दर्शनों की गणना करती है — न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत — और उनके चारों ओर बौद्ध, जैन तथा भौतिकवादी चिंतन की अन्य महान धाराएँ प्रवाहित होती रहीं, जिससे भारत का बौद्धिक भू-दृश्य किसी एक थोपे हुए पंथ के स्थान पर अनेक प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायों का था।

प्रत्येक दर्शन ने अपनी विशिष्ट शक्तियाँ विकसित कीं, और मिलकर वे जिज्ञासा की एक चकित करने वाली श्रेणी को समेटते हैं। न्याय ने तर्कशास्त्र और अनुमान के सिद्धांत को पूर्णता तक पहुँचाया, यह विश्लेषण करते हुए कि वैध निष्कर्ष कैसे निकाले जाते हैं और तर्क-दोष कैसे भ्रमित करते हैं। वैशेषिक ने अस्तित्व की कोटियों का व्यवस्थित विश्लेषण विकसित किया, जिसमें एक आरम्भिक दार्शनिक परमाणुवाद भी सम्मिलित है — संसार को अविभाज्य कणों से निर्मित मानने वाली दृष्टि, जो प्रयोग से नहीं अपितु तर्क से प्राप्त हुई, और जो आधुनिक भौतिकी के स्थान पर तत्वमीमांसा की वस्तु है। सांख्य ने चेतना और प्रकृति तथा उनके पारस्परिक व्यापार का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया। योग, उसका निकट सहचर, रूपांतरण का व्यावहारिक अनुशासन लेकर आया। मीमांसा ने ग्रंथों की व्याख्या तथा कर्म और कर्तव्य के दर्शन को परिष्कृत किया। और वेदांत ने, जैसा हम देख चुके हैं, यथार्थ तथा आत्मा के अंतिम स्वभाव का अनुसरण किया।

इस सबके नीचे स्वयं ज्ञान के आधारों में एक परिष्कृत और साझा जिज्ञासा कार्यरत थी — प्रमाणों का प्रश्न, अर्थात् वे वैध साधन जिनसे हम किसी भी वस्तु को जान सकते हैं। सम्प्रदायों ने अत्यंत सूक्ष्मता से इस पर वाद किया कि ज्ञान के कौन-से स्रोत विश्वसनीय हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अन्य, जिनकी क्रमशः परीक्षा, रक्षा और आलोचना हुई।

यह उच्च कोटि की ज्ञान-मीमांसा है, एक ऐसी सभ्यता जो केवल यह नहीं पूछ रही कि सत्य क्या है, अपितु यह भी कि हम यह दावा करने के अधिकारी कैसे हो सकते हैं कि हम उसे जानते हैं — ऐसा प्रश्न जो कृत्रिम बुद्धिमत्ता और सूचना की अतिवृष्टि के युग में उतना ही तात्कालिक है जितना वह प्राचीन भारत की वाद-सभाओं में था।



चित्र 15.1 — षड्दर्शन : परस्पर विवादी दृष्टियों का एक कुल।

जो सर्वाधिक उल्लेखनीय है, और इस पुस्तक के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक, वह वह संस्कृति है जिसमें ये प्रणालियाँ फली-फूलीं : औपचारिक, कठोर, निरंतर विवाद की संस्कृति। कोई सम्प्रदाय स्वयं को एकांत में नहीं, अपितु अपने प्रतिद्वंद्वियों के साथ अपनी सहभागिता के माध्यम से परिभाषित करता था; किसी गम्भीर दार्शनिक से यह अपेक्षा थी कि वह प्रतिपक्षी का पक्ष उसके सबलतम रूप में रखे और तब उसका उत्तर दे, और महान ग्रंथ पीढ़ियों के पार चलते तर्कों तथा प्रतितर्कों के रूप में संरचित हैं। यह बहुलता मात्र सहिष्णुता के रूप में नहीं, अपितु पद्धति के रूप में थी — सत्य का अनुसरण अनुशासित असहमति के माध्यम से, और कोई एक ऐसा प्राधिकार नहीं जिसे संवाद समाप्त करने का अधिकार हो। यह ठीक वही तर्कशील, आत्मसात् करने वाला, बहु-स्वरीय स्वभाव है जिसे हमने पूर्व में इस सभ्यता की प्रत्यास्थता के गहन स्रोतों में से एक के रूप में पहचाना था।

जो सर्वाधिक उल्लेखनीय है, और इस पुस्तक के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक, वह वह संस्कृति है जिसमें ये प्रणालियाँ फली-फूलीं : औपचारिक, कठोर और निरंतर वाद की संस्कृति। कोई सम्प्रदाय स्वयं को एकांत में नहीं, अपितु अपने प्रतिद्वंद्वियों के साथ अपने संलग्न होने से परिभाषित करता था; किसी गम्भीर दार्शनिक से यह अपेक्षित था कि वह उत्तर देने से पूर्व विरोधी के पक्ष को उसके प्रबलतम रूप में प्रस्तुत करे, और महान ग्रंथ पीढ़ियों के पार चले तर्क तथा प्रतितर्क के रूप में संरचित हैं। यह बहुलता मात्र सहिष्णुता के रूप में नहीं, अपितु पद्धति के रूप में थी — अनुशासित असहमति के माध्यम से सत्य का अनुसरण, जहाँ किसी एक प्राधिकार को यह अधिकार न था कि वह संवाद को समाप्त कर दे। यह ठीक वही विवादप्रिय, आत्मसात् करने वाला, बहुस्वर स्वभाव है जिसे हमने पहले इस सभ्यता की प्रत्यास्थता के गहन स्रोतों में से एक के रूप में पहचाना था।

न्याय सम्प्रदाय के तार्किकों ने अत्यंत सूक्ष्म अनुमान का एक औपचारिक सिद्धांत विकसित किया, किसी वैध तर्क की संरचना का उसके अवयवों में विश्लेषण करते हुए — प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन — और उन हेत्वाभासों को सावधानी से सूचीबद्ध करते हुए जिनसे तर्क भटक जाता है। यह तर्कशास्त्र किसी खेल के रूप में नहीं, अपितु सत्य स्थापित करने के उपकरण के रूप में अनुसृत हुआ, और उसकी चिंताएँ — कि कोई अनुमान वैध किससे होता है, कोई सामान्य नियम विशेष उदाहरणों में कैसे आधारित होता है, भाषा कैसे भ्रमित कर सकती है — पहचानने योग्य रूप से वही हैं जो सर्वत्र तार्किकों की रही हैं, जिन तक स्वतंत्र रूप से पहुँचा गया और अनेक शताब्दियों तक जिनका कठोरता से अनुसरण हुआ।

वैशेषिक सम्प्रदाय एक और शब्द का अधिकारी है, क्योंकि उसने वास्तविक दार्शनिक रुचि का एक परमाणुवाद विकसित किया। उसने भौतिक जगत् को नित्य, अविभाज्य परमाणुओं से बना माना जो संयुक्त होकर वे वस्तुएँ बनाते हैं जिनका हम प्रत्यक्ष करते हैं, और उसने द्रव्य, गुण तथा कर्म का एक सावधान विवरण तैयार किया। यह स्पष्ट रहना अनिवार्य है कि यह एक तात्विक परमाणुवाद था, तर्क से निकाला गया, प्रायोगिक नहीं, और उसे आधुनिक भौतिकी के परमाणु-सिद्धांत के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जिसके साथ अंतिम अविभाज्य घटकों की निपट सहज-प्रतीति से आगे उसका बहुत कुछ साझा नहीं है। अपनी ही शर्तों पर समझा जाए तो, केवल तर्क से भौतिक जगत् की संरचना का विश्लेषण करने के एक कठोर प्रयास के रूप में, वह चिंतनपरक विचार की एक वास्तविक उपलब्धि है।

यहाँ भी यह परम्परा हमारे अपने युग की प्रणालियों के लिए एक चेतावनी और एक प्रतिमान दोनों प्रस्तुत करती है। जो ज्ञान-प्रणाली दृष्टियों की इस भव्य स्पर्धा को किसी एक समतल सारांश तक घटा दे, वह ठीक उसी वस्तु को नष्ट कर देगी जिसने उसे सबल बनाया था। दर्शनों को निष्ठा से प्रस्तुत करने का अर्थ है उन्हें एक जीवित तर्क के रूप में प्रस्तुत करना — अनेक पक्ष, तनाव में धारित, और प्रत्येक अपने पूर्ण तथा कठोर कथन का अधिकारी। इन छहों में से एक ने विशेष रूप से सिद्धांत से हटकर अनुशासित अभ्यास की रेखा पार की, और मन के रूपांतरण के लिए एक सम्पूर्ण पद्धति विकसित की। वही सम्प्रदाय — योग — अगले अध्याय का विषय है।

और जानें · *दर्शन — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch15

अध्याय सोलह:
योग

भारत ने संसार को जो शब्द दिए हैं, उनमें कोई भी "योग" से अधिक दूर तक नहीं गया — और मार्ग में कुछ ही शब्द इससे अधिक भ्रांत रूप से समझे गए हैं। आधुनिक संसार के बड़े भाग में यह शब्द संकुचित होकर शारीरिक आसनों का समुच्चय, लचीलेपन और स्वास्थ्य का अभ्यास मात्र रह गया है। यह इस परम्परा का एक वास्तविक अंग है, किन्तु एक छोटा अंग। अपने शास्त्रीय अर्थ में योग कहीं अधिक विशाल और कहीं अधिक उल्लेखनीय वस्तु है : चेतना के रूपांतरण की एक सम्पूर्ण और व्यवस्थित पद्धति, अंतर्जीवन की एक ऐसी तकनीक जो अनेक शताब्दियों में विकसित और परिष्कृत हुई।

इसका आधारभूत ग्रंथ पतंजलि के नाम से प्रसिद्ध सूत्रों का संग्रह है, जो इस अनुशासन को आठ अंगों के एक क्रमिक मार्ग के रूप में प्रस्तुत करता है। यह मार्ग नैतिक आधारों से आरम्भ होता है — वे यम और नियम जो यह शासित करते हैं कि व्यक्ति संसार में कैसे जिए और आचरण करे — क्योंकि परम्परा मानती थी कि जब जीवन अव्यवस्थित हो तब मन स्थिर नहीं हो सकता। वह आसन और श्वास के नियमन से होता हुआ आगे बढ़ता है, फिर इन्द्रियों को उनके बाह्य खिंचाव से लौटाने की ओर, और आगे एकाग्रता, ध्यान तथा अंततः उन समाधि-अवस्थाओं के उत्तरोत्तर गहन होते अनुशासनों की ओर जिनमें सामान्य चंचल मन शांत हो जाता है। प्रत्येक चरण पिछले पर टिका है; आज जो शारीरिक अभ्यास इतने प्रसिद्ध हैं वे इस योजना में आरम्भिक चरण हैं, जो देह को आगे आने वाले कहीं अधिक सूक्ष्म आंतरिक कार्य के लिए तैयार करते हैं।

इस पुस्तक के तर्क के लिए योग को इतना महत्वपूर्ण जो बनाता है वह यह है कि वह चेतना का एक कठोर, पद्धतिबद्ध, प्रथम-पुरुष अन्वेषण प्रस्तुत करता है — अंतर्जगत् का एक अनुभवसिद्ध विज्ञान, यदि अनुभवसिद्ध से हमारा अर्थ अनुशासित तथा पुनरावर्तनीय अनुभव पर आधारित हो। जहाँ आधुनिक पश्चिम ने अपनी अन्वेषण-प्रतिभा बड़े पैमाने पर बाहर की ओर, बाह्य जगत् के मापन की ओर मोड़ी, वहाँ इस परम्परा ने उतनी ही अनुशासित प्रतिभा भीतर की ओर मोड़ी, मन के अवलोकन और रूपांतरण की परिशुद्ध विधियाँ विकसित कीं,

और उसकी अवस्थाओं का अत्यंत सावधानी से मानचित्रण किया। यह ऐसे प्रकार का ज्ञान है जिसे हमारे बहिर्मुखी विज्ञानों ने अभी हाल में ही गम्भीरता से लेना आरम्भ किया है।



चित्र 16.1 — योग : अष्टांग, चेतना का एक क्रमिक अनुशासन।

योग लगभग किसी भी अन्य वस्तु से अधिक स्पष्ट रूप से उस प्रकार के ज्ञान का उदाहरण भी है जिसे कभी सूचना तक घटाया नहीं जा सकता। कोई व्यक्ति योग को उसके विषय में पढ़कर नहीं सीख सकता, उतना ही जितना कोई किसी पुस्तिका से तैरना नहीं सीख सकता। यह देह-

धारित और अनुभवजन्य ज्ञान है, जो गुरु से शिष्य तक अभ्यास, संशोधन और दीर्घ वैयक्तिक अनुशासन के माध्यम से संचरित होता है, और उस एकमात्र प्रयोगशाला में सत्यापित होता है जो उपलब्ध है — व्यक्ति का अपना अनुभव। यह ठीक वही ज्ञान-कोटि है जिसके विषय में हमने तर्क दिया कि कोई संचिका उसे धारण नहीं कर सकती और कोई यंत्र उसे दे नहीं सकता, और इस परम्परा में उसकी केंद्रीयता यह स्मरण कराती है कि भारत की विरासत का कितना बड़ा भाग पाठ के स्थान पर अभ्यास में जीवित है।

प्रत्येक अंग अपना अनुशासन वहन करता है। यम और नियम नैतिक भूमि नियत करते हैं — प्रथम में अहिंसा, सत्य और अस्तेय; द्वितीय में शौच, संतोष और तप। आसन देह को स्थिर करता है और प्राणायाम श्वास को; प्रत्याहार इंद्रियों को उनके बाह्य खिंचाव से लौटाता है। तत्पश्चात् वे तीन आंतरिक अंग आते हैं जिन्हें पतंजलि एक ही गहराते हुए आंदोलन के रूप में लेते हैं : धारणा, ध्यान के स्थिरीकरण; ध्यान, किसी एक विषय की ओर उसका अटूट प्रवाह; और समाधि, वह तल्लीनता जिसमें ध्याता और ध्येय का भेद अंततः विलीन हो जाता है। आज जिन शारीरिक अभ्यासों को इतना मूल्य दिया जाता है, वे इस स्थापत्य में कहीं दीर्घतर आरोहण के केवल प्रारम्भिक और प्रस्तुतिकारक चरण हैं।

पतंजलि योग के सम्पूर्ण लक्ष्य को एक ही प्रारम्भिक सूत्र में परिभाषित करते हैं : योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। इस विश्लेषण में सामान्य मन निरंतर गति में है, प्रत्यक्ष, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति से उछाला हुआ, और यही अशांत गति है जो हमें अपनी बीतती अवस्थाओं से तादात्म्य में रखती है और उस बोध से विमुख जो उनके नीचे स्थित है। आठ अंग वे क्रमिक साधन हैं जिनसे वह गति उत्तरोत्तर शांत की जाती है, जब तक मन इतना शांत न हो जाए कि वह प्रकट कर दे जिसे उसने सदा ढका था। यह एक सटीक और व्यावहारिक मनोविज्ञान है, जिसका लक्ष्य विश्वास नहीं, अपितु स्वयं चेतना के गुण में एक परिवर्तन है।

जिस लक्ष्य की ओर यह सम्पूर्ण अनुशासन बढ़ता है उसका नाम कैवल्य है — ऐसा शब्द जो अकेलेपन का सुझाव देता है, किन्तु इस अर्थ में कि शुद्ध चेतना अंततः मन तथा प्रकृति की बदलती अवस्थाओं में अपने उलझाव से मुक्त होकर खड़ी है। यह जगत् से पलायन उतना नहीं है जितना उन प्रक्रियाओं से तादात्म्य-भंग जिन्होंने बोध को जगत् से बाँध रखा था — साक्षी की उसकी स्वतंत्रता में पुनःप्राप्ति। तत्वमीमांसा के विषय में कोई जो भी माने, मनोविज्ञान सटीक है : सम्पूर्ण आरोहण उन ग्रंथियों का क्रमिक शिथिलीकरण है जिनसे हम स्वयं को अपनी

बीतती अवस्थाएँ समझ बैठते हैं, जब तक जो सदा मुक्त था वह मुक्त रूप में पहचान न लिया जाए।

आगामी खण्डों की तकनीकों के लिए योग एक अवसर और एक सीमा — दोनों चिह्नित करता है। निमज्जित और अनुभवात्मक माध्यम ऐसे अभ्यासों के संचरण को उन रीतियों से सहारा और विस्तार दे सकते हैं जो मुद्रित पृष्ठ कभी नहीं दे सका — अभ्यासी का मार्गदर्शन करते हुए, प्रदर्शन करते हुए और उसके साथ चलते हुए। किन्तु वे न स्वयं उस जीवित अनुशासन का स्थान ले सकते हैं, न उस मानव-गुरु का जो उस मार्ग पर चल चुका है। योग एक स्थायी स्मरण के रूप में खड़ा है कि हमारी परियोजना का लक्ष्य देह-धारित संचरण की सेवा करना है, उसका विकल्प बनना नहीं। अंतर्जीवन के इस विज्ञान से अब हम जीवन के उसके पूर्णतम अर्थ में एक विज्ञान की ओर मुड़ते हैं — आयुर्वेद की महान चिकित्सा-परम्परा की ओर।



और जानें · *योग — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch16

अध्याय सत्रह:
आयुर्वेद

आयुर्वेद नाम का शाब्दिक अर्थ है जीवन का ज्ञान — और जिस परम्परा को यह नाम दिया गया है वह संसार की सर्वाधिक प्राचीन निरंतर आचरित चिकित्सा-प्रणालियों में से एक है। इसके शास्त्रीय आधार चरक से सम्बद्ध उन महान संहिताओं में हैं जिनका केंद्र काय-चिकित्सा है, और सुश्रुत से सम्बद्ध उस कृति में जो शल्य-चिकित्सा के विवेचन के लिए विख्यात है। इनके चारों ओर एक विशाल साहित्य और अभ्यास की एक जीवित परम्परा विकसित हुई जो कभी पूर्णतः रुकी नहीं, और जो विविध रूपों में आज भी लाखों की सेवा कर रही है। इसके विशिष्ट सिद्धांतों पर किसी का जो भी मत हो, आयुर्वेद इस परम्परा की उस सामर्थ्य का एक स्मारकीय उदाहरण है कि वह व्यवस्थित, प्रयुक्त ज्ञान का निर्माण कर सके और उसे सहस्राब्दियों तक आगे ले जा सके।

इस शास्त्रीय प्रणाली के हृदय में मनुष्य को समग्र रूप में समझने का एक विशिष्ट ढाँचा है : प्रकृतिगत सिद्धांतों का, अर्थात् दोषों का, वह सिद्धांत जिनका संतुलन और असंतुलन स्वास्थ्य तथा रोग का आधार माना गया। इस ढाँचे के चारों ओर परम्परा ने निदान, आहार, दिनचर्या, द्रव्यगुण और चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान का एक विस्तृत पिंड व्यवस्थित किया। इन सिद्धांतों के विवरण इस परम्परा के अपने वैचारिक संसार से सम्बद्ध हैं और उन्हें आधुनिक जैव-चिकित्सा की कोटियों में ठूँसने के स्थान पर उनकी अपनी शर्तों पर समझा जाना चाहिए; यहाँ ग्रहण करने योग्य बिंदु संरचनात्मक है। आयुर्वेद एक व्यापक, आंतरिक रूप से सुसंगत प्रणाली थी, जो सावधान अवलोकन और क्रमबद्ध तर्क पर बनी थी, और अत्यंत परिष्कार के साथ विस्तृत की गई थी।

सुश्रुत से सम्बद्ध शल्य-परम्परा विशेष उल्लेख की अधिकारी है, क्योंकि वह ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। शास्त्रीय ग्रंथ शल्य-प्रक्रियाओं तथा उपकरणों की एक विस्तृत श्रेणी का वर्णन करते हैं, प्रशिक्षण की उन विधियों का जिनमें रोगियों पर कार्य करने से पूर्व प्रतिरूपों पर अभ्यास सम्मिलित था, और पुनर्रचनात्मक शल्य-चिकित्सा की उन तकनीकों का जिन्होंने संसार भर के चिकित्सा-इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। यहाँ एक ऐसी परम्परा थी जिसने अत्यंत आरम्भिक काल में शल्य-अभ्यास पर सावधानी और व्यवस्था के साथ विचार

किया था — भारत के प्रयुक्त विज्ञानों की अनुभवसिद्ध तथा व्यावहारिक गम्भीरता का एक उल्लेखनीय प्रमाण, और इस मान्यता के विरुद्ध एक चेतावनी कि इस सभ्यता की प्रतिभा चिंतनपरक तथा दार्शनिक तक सीमित थी।



चित्र 17.1 — आयुर्वेद : त्रिदोष, और दो महान संहिताएँ।

आयुर्वेद हमारे द्वारा सर्वेक्षित किसी भी अन्य क्षेत्र से अधिक स्पष्ट रूप से जीवित ज्ञान-प्रणाली के उस लक्षण को दर्शाता है जिसे हमने प्रयोग कहा — ऐसा ज्ञान जो अलंकार के रूप में नहीं रखा जाता, अपितु काम में लाया जाता है, रोग और आरोग्य के कठोर यथार्थ पर कसा जाता है, और प्रयोग से परिष्कृत होता है। यह ऐसा ज्ञान भी है जो सर्वोपरि रूप से अभ्यासी में जीवित रहता है : चिकित्सक की प्रशिक्षित दृष्टि, विवेक और स्पर्श में, जो दीर्घ शिष्यत्व से विकसित होते हैं और जिन्हें केवल पाठ तक घटाना असम्भव है। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ किसी

जीवित परम्परा के माध्यम से संचरण आनुषंगिक नहीं, अपितु अनिवार्य है, और जहाँ उस परम्परा का टूटना ऐसी वस्तु की हानि होगी जिसे कोई पांडुलिपि लौटा नहीं सकती।

सुश्रुत संहिता से जुड़ी शल्य-परम्परा आधुनिक पाठक के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका पाठ शल्य-प्रक्रियाओं की एक विस्तृत शृंखला और उपकरणों का एक बड़ा भंडार वर्णित करता है; वह विहित करता है कि विद्यार्थी किसी रोगी के निकट पहुँचने से पूर्व अपने छेदन और सिवन का अभ्यास प्रतिमानों पर करें — लौकी, खोखले डंठल आदि पर; और वह पुनर्निर्माणकारी शल्यचिकित्सा की तकनीकें अभिलिखित करता है, जिनमें रोगी की अपनी त्वचा के फलक से नाक का पुनर्निर्माण भी है, जो उन विधियों का पूर्वाभास देती हैं जिन्हें पश्चिम में केवल आधुनिक युग में पुनः खोजा गया। प्राचीन चिकित्सा की सीमाएँ जो भी रही हों, यहाँ एक ऐसी परम्परा थी जिसने शल्यचिकित्सा के आचरण पर वास्तविक व्यवस्था और सावधानी से विचार किया था।

चरक संहिता, अपनी ओर से, सबसे बढ़कर वैद्य की कायचिकित्सा-कला से सम्बद्ध है, और वह जितनी औषधि पर उतनी ही पद्धति तथा नीति पर अपने ध्यान के लिए उल्लेखनीय है। वह निदान के लिए एक अनुशासित उपागम प्रस्तुत करती है, निरीक्षण तथा तर्क पर आग्रह, और एक आचार-संहिता जो वैद्य के कौशल को करुणा तथा रोगी के हित से बाँधती है। उसके ढाँचे में स्वास्थ्य मात्र रोग का अभाव नहीं, अपितु देह, मन और परिवेश का एक गतिशील संतुलन है — एक समग्रतावादी अवधारणा जो मनुष्य को अंगों के संग्रह के स्थान पर एक समग्र के रूप में लेती है।

शास्त्रीय परम्परा ने चिकित्सा को आठ अंगों में संगठित किया — जिनमें कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य, कौमारभृत्य, अगदतंत्र और रसायन हैं — क्षेत्र का एक व्यापक विभाजन जो उसके विस्तार का कुछ माप देता है। उसका उपागम जितना उपचारात्मक था उतना ही निवारक भी, दिनचर्या, आहार तथा दैनिक और ऋतु-सम्बन्धी जीवन की लय से सम्बद्ध, इन्हें स्वास्थ्य का आधार मानते हुए, और वह मनुष्य को परिवेश तथा प्रकृति से अविभाज्य समझती थी। उसके विशेष सिद्धांतों की स्थिति जो भी हो, सम्पूर्ण की महत्वाकांक्षा और व्यवस्थित संगठन उसे संसार की प्रमुख चिकित्सा-परम्पराओं में से एक के रूप में चिह्नित करते हैं।

परम्परा ने उसे गम्भीरता से लिया जिस पर आधुनिक चिकित्सा ने हाल ही में बल दिया है : स्वास्थ्य में मन और देह की अविभाज्यता। मानसिक अवस्थाओं को शारीरिक कुशल पर

सीधे प्रभाव डालने वाला माना गया, और उसने जो दिनचर्या विहित की वह देह की देखभाल जितनी ही मन के अनुशासनों तक भी फैली। उसका रसायन-अंग केवल रोग के उपचार का नहीं, अपितु आहार, आचरण और अभ्यास के माध्यम से ओज तथा दीर्घायु के संवर्धन का लक्ष्य रखता था। उसकी विशेष औषधियों की स्थिति जो भी हो, स्वास्थ्य की यह दृष्टि — देह, मन और जीवन का एक सकारात्मक, परिपोषित संतुलन, न कि मात्र रोग का अभाव — उसके सर्वाधिक आकर्षक लक्षणों में बनी हुई है।

ठीक इसीलिए कि इस ज्ञान का इतना बड़ा भाग अभ्यास में और अभ्यासी में जीवित है, आयुर्वेद हमारी परियोजना के केंद्रीय प्रश्नों को तीखे रूप में प्रस्तुत करता है। किसी प्रयुक्त, देह-धारित, अनुभवजन्य विज्ञान का संरक्षण और संचरण कैसे किया जाए? इसका उत्तर उसके ग्रंथों का मात्र डिजिटलीकरण नहीं हो सकता, जो सिद्धांत को पकड़ लेगा और जीवित कला को खो देगा। उसमें स्वयं अभ्यास की परम्पराओं को सहारा देना सम्मिलित होना चाहिए, और ऐसे उपाय खोजना जिनसे नई तकनीकें चिकित्सक के दीर्घ मानवीय निर्माण में सहायता करें, उसका स्थान न लें। जीवित देह के इस विज्ञान से अब हम उन महान स्थलों की ओर मुड़ते हैं जहाँ इस परम्परा के अनेक विज्ञान पत्थर में एक साथ एकत्र किए गए — मंदिरों की ओर।



और जानें · *आयुर्वेद — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch17

अध्याय अठारह:
मंदिर-विज्ञान

किसी सामान्य दर्शक के लिए मंदिर उपासना का स्थान है, और वह है भी। किन्तु भारत के महान मंदिर वस्तुतः क्या हैं, यह समझने के लिए उन्हें कुछ अधिक के रूप में देखना होगा : पत्थर में निर्मित ज्ञान के रूप में, ऐसे संगम-बिंदु के रूप में जहाँ इस परम्परा के अनेक विज्ञान एकत्र, प्रयुक्त और चिरस्थायी भौतिक रूप में संरक्षित किए गए। मंदिर सम्भवतः उस वस्तु का सर्वोच्च उदाहरण है जिसे हमने पहले भौतिक संस्कृति कहा — वह स्तर जिसमें कोई सभ्यता अपने ज्ञान को स्थायी रूप से संसार में लिख देती है — और जिन अनुशासनों ने उसके निर्माण को शासित किया वे विज्ञान का एक यथार्थ तथा संहिताबद्ध पिंड बनाते हैं।

किसी मंदिर के निर्माण ने ज्ञान की एक असाधारण श्रेणी को एक साथ जोड़ा। शिल्पशास्त्रों और वास्तु-सम्बन्धी ग्रंथों में निर्धारित स्थापत्य तथा मूर्तिकला की परम्पराओं ने अनुपात, रूप और मूर्ति-विधान को अत्यंत सूक्ष्म विवरण में निर्धारित किया। पवित्र ज्यामिति ने भूमि-योजना और अंगों के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध को शासित किया। खगोलीय ज्ञान ने प्रायः संरचना के अभिविन्यास तथा दिशाओं और आकाशीय घटनाओं के साथ उसके संरेखण को दिशा दी। ध्वनिकी पर, प्रकाश की क्रीड़ा पर, जल के प्रबंधन पर, और सम्पूर्ण के अपने भू-दृश्य में एकीकरण पर ध्यान दिया गया। और आगमों ने, अर्थात् अनुष्ठान-विधान के ग्रंथों ने, यह शासित किया कि पूर्ण हुए मंदिर की प्रतिष्ठा तथा उपयोग कैसे हो। किसी महान मंदिर का निर्माण करना इस सभ्यता के गणित, खगोल, अभियांत्रिकी और सौंदर्यशास्त्र को एक साथ प्रयुक्त करना था।

यह ज्ञान स्वयं जीवित परम्पराओं के माध्यम से संचरित होता था — स्थपतियों की परम्पराएँ, अर्थात् मंदिर-स्थापत्यकार और शिल्पी, जो पीढ़ियों के पार व्यावहारिक विवेक का वह विशाल पिंड वहन करते थे जिसे कोई ग्रंथ पूर्णतः धारण नहीं करता। यहाँ हम इस खण्ड के उस बार-बार लौटने वाले सत्य से पुनः मिलते हैं : कि पाठ एक संकुचित स्मरण-चिह्न है जो किसी ऐसे जीवित अभ्यासी को सम्बोधित है जो उस परम्परा को पहले से अपने हाथ और अपनी दृष्टि में धारण करता है। शास्त्रों के विनिर्देश केवल उनके हाथों में निर्माण-योग्य बनते हैं जो उस शिल्प में प्रशिक्षित हों, और मंदिर-निर्माण के विज्ञानों का अतिजीवन, जैसे इस सभ्यता में सब कुछ निर्भर था, देह-धारित कौशल के अखंडित संचरण पर निर्भर था।



चित्र 18.1 — मंदिर-विज्ञान : एक ही संरचना में अनेक विषय एकरूप।

मंदिर किसी भवन से कहीं अधिक भी था। उसने ऐतिहासिक रूप से विद्या के केंद्र, कलाओं के आधार, आसपास की अर्थव्यवस्था के सहारे और समुदाय के सभा-स्थल के रूप में कार्य किया — एक सभ्यतागत संस्था, उतनी ही जितनी एक पवित्र संस्था। यही कारण है कि इस त्रयी की दृष्टि में मंदिरों का इतना केंद्रीय स्थान है, और इस खण्ड में आगे उनके अपने पृथक् भाग में उनका विस्तार से विवेचन होगा। यहाँ इतना स्थापित कर देना पर्याप्त है : कि सौंदर्य और भक्ति के पीछे विज्ञान का एक कठोर, एकीकृत, संचरणीय पिंड है, और कि मंदिर टिकाऊ तथा सार्वजनिक बना दिया गया ज्ञान है।

मंदिर की प्रतिमाओं का निर्माण स्वयं एक संहिताबद्ध विज्ञान था। शिल्प शास्त्रों ने प्रतिमा-मिति की एक प्रणाली विहित की — तालमान, जिसमें किसी पवित्र आकृति के अनुपात उसी आकृति के अपने मुख अथवा अंगुल से व्युत्पन्न इकाइयों में नियत होते थे — जिससे प्रतिमा कोई स्वच्छंद कल्पना नहीं, अपितु एक सुनिश्चित विधान का मूर्त रूप थी, जिसका प्रत्येक अनुपात, मुद्रा, भंगिमा और लक्षण निर्धारित अर्थ वहन करता था। अतः किसी देवता को उकेरना एक सुनिश्चित धर्मशास्त्र की सेवा में रूप के एक सुनिश्चित गणित को प्रयुक्त करना था, और मूर्तिकार, स्थपति की भाँति, कौशल की एक वंशगत परम्परा से संचरित अनुशासन के भीतर कार्य करता था।

मंदिर को इतना उल्लेखनीय जो बनाता है वह उसमें मूर्त कोई एक विज्ञान नहीं, अपितु उनका अभिसरण है। एक ही संरचना में अनुपात का गणित, योजना की ज्यामिति, दिशा-विन्यास का खगोल, मंडपों की ध्वनिकी, प्रतिमाओं की धातु-विद्या, और मूर्तिकला की संहिताबद्ध कला — ये सब मिलते थे और इनमें समन्वय करना पड़ता था। किसी महान मंदिर का निर्माण अनुशासनों के एक वाद्यवृंद का संचालन था, जिनमें से प्रत्येक अपने में कठोर था, एक ही सामंजस्यपूर्ण कृति में — यही कारण है कि मंदिर उस सभ्यता के ज्ञान की पूर्णतम भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में खड़ा है, और उस ज्ञान को समग्र रूप में पुनःप्राप्त करने के किसी भी प्रयास का स्वाभाविक प्रथम विषय है।

आगामी खण्डों की तकनीकों के लिए मंदिर-विज्ञानों का विशेष महत्व है, क्योंकि वे सम्भवतः इस विरासत का हमारे युग के नए उपकरणों से सर्वाधिक स्वाभाविक मिलन हैं। मंदिर अत्यंत जटिलता और अर्थ की एक भौतिक संरचना है — ठीक वैसी वस्तु जिसे कोई डिजिटल प्रतिरूप ग्रहण कर सकता है, उसका अध्ययन कर सकता है, उसे पुनर्स्थापित कर सकता है और

संसार में कहीं से भी प्रवेश-योग्य बना सकता है, न केवल उसके रूप को अपितु उसमें कूटबद्ध ज्ञान को भी संरक्षित करते हुए। हम इस पर विस्तार से लौटेंगे। अभी, इस परम्परा के बाह्य विज्ञानों का सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात्, हम एक बार पुनः भीतर की ओर मुड़ते हैं, उस जिज्ञासा की ओर जो इसके ठीक केंद्र में स्थित है और जो हमारे अपने युग के गहनतम प्रश्नों से सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप से बोलती है : स्वयं चेतना की जिज्ञासा।



और जानें · *मंदिर-विज्ञान — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch18

अध्याय उन्नीस:
चेतना

अब हम उस वस्तु पर आते हैं जो सम्भवतः सम्पूर्ण परम्परा का गहनतम और सर्वाधिक विशिष्ट योगदान है, और वह जो बुद्धिमान यंत्रों के युग से सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप से बोलती है। लगभग प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक युग में भारत के चिंतक अद्वितीय अध्यवसाय और सूक्ष्मता के साथ स्वयं चेतना की जिज्ञासा की ओर लौटते रहे — बोध के स्वभाव की ओर, उस एक वस्तु की ओर जिसे प्रत्येक प्राणी सर्वाधिक अंतरंगता से जानता है और सबसे कम समझता है। जहाँ मानव-जिज्ञासा के बड़े भाग ने चेतना को ऐसी पहेली माना जिसे अधिक सुलझाने योग्य प्रश्नों के पक्ष में एक ओर रख दिया जाए, वहाँ इस परम्परा ने उसे ठीक केंद्र में रखा, और उसे सहस्रों वर्षों तक चलने वाले एक निरंतर अन्वेषण का विषय बनाया।

इस परम्परा की सर्वाधिक उल्लेखनीय चालों में से एक यह थी कि उसने उस मान्यता को उलट दिया जो किसी भौतिकवादी युग के लिए सर्वाधिक स्वाभाविक है। चेतना को अचेतन पदार्थ के किसी परवर्ती और व्युत्पन्न उत्पाद के रूप में मानने के स्थान पर उसके अनेक सम्प्रदायों ने स्वयं बोध को मूलभूत माना — उपोत्पाद के स्थान पर आधार, वह प्रकाश जिसमें शेष सब प्रकट होता है। कोई इस दृष्टि को स्वीकार करे या न करे, यह उपलब्ध कठिनतम प्रश्न पर एक गम्भीर और कठोरता से विकसित दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत करती है, जो हठधर्म से नहीं अपितु अनुशासित चिंतन से प्राप्त हुआ, और यह उन मान्यताओं के एक यथार्थ विकल्प के रूप में खड़ी है जिन्हें आधुनिक चिंतन के बड़े भाग ने बिना परीक्षा के धारण किया है।

चेतना का इस परम्परा का विश्लेषण उल्लेखनीय रूप से सूक्ष्म था। उसने, उदाहरण के लिए, जाग्रत, स्वप्न और स्वप्न-रहित सुषुप्ति की सामान्य अवस्थाओं में भेद किया, और उनसे आगे एक ऐसी अवस्था की ओर संकेत किया जो तीनों के नीचे है — प्रत्यक्ष चिंतनपरक अन्वेषण से विकसित बोध का एक व्यवस्थित स्वरूप-विवेचन। उसने मन के अंतःकरण का पृथक् कार्यों में विश्लेषण किया : वह वृत्ति जो संवेदन और प्रक्रमण करती है, वह वृत्ति जो विवेक और निर्णय करती है, वैयक्तिक आत्म-भाव, और संस्कारों का अंतर्निहित भंडार। यह अस्पष्ट रहस्यवाद नहीं, अपितु सावधान, संरचित विश्लेषण है, उस सभ्यता का फल जिसने अपने अन्वेषण-अनुशासन का पूर्ण बल अंतर्जगत् पर लगाया।

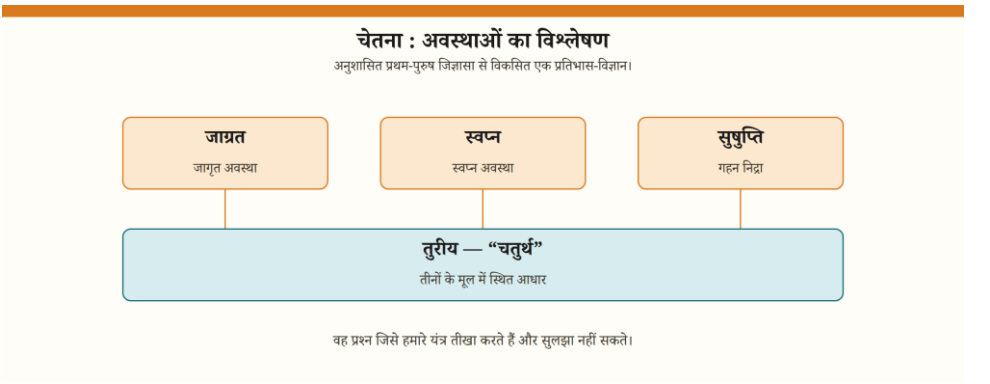

चित्र 19.1 — चेतना : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और चतुर्थ।

हमारे अपने क्षण के लिए इस सबकी प्रासंगिकता इससे अधिक हो ही नहीं सकती। आधुनिक चिंतन ने, उत्तरोत्तर बुद्धिमान रीति से आचरण करने वाले यंत्र बना लेने के पश्चात्, स्वयं को नई तात्कालिकता के साथ ठीक उन्हीं प्रश्नों का सामना करते पाया है जिन्हें इस परम्परा ने अपना बनाया : चेतना क्या है? क्या वह बुद्धि के समान है, अथवा सर्वथा कुछ और? क्या वह किसी यंत्र में उत्पन्न हो सकती है, अथवा केवल उसका अनुकरण किया जा सकता है? जिसे हम अब चेतना की कठिन समस्या कहते हैं — यह प्रश्न कि कोई आंतरिक अनुभव है ही क्यों — ठीक वही प्रश्न है जिसे इस परम्परा ने एक ओर रखने से इनकार किया। हमारे अपने समय में इन प्राचीन अन्वेषणों और मन के आधुनिक विज्ञानों के बीच एक गम्भीर संवाद आरम्भ हो रहा है, और यह ऐसा संवाद है जिसमें भारत की विरासत के पास देने को बहुत कुछ है।

विशेष रूप से एक संक्षिप्त उपनिषद्, माण्डूक्य, इस विश्लेषण को अत्यंत सघनता से प्रस्तुत करता है, पवित्र अक्षर ॐ को अपना सूत्र बनाते हुए और उसकी तीन ध्वनियों को जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं पर मानचित्रित करते हुए, इससे पूर्व कि वह उनसे परे उस मौन आधार की ओर संकेत करे जो उनके पश्चात् है। जो उल्लेखनीय है वह पद्धति है : स्वयं चेतना की अवस्थाओं का एक सावधान, प्रथम-पुरुष परीक्षण, जिसका अनुसरण अनुशासित अध्ययन के विषय के रूप में हुआ, न कि उसे आकस्मिक आत्मनिरीक्षण पर छोड़ दिया गया। यह बोध का एक प्रतिभास-विज्ञान है, जो ऐसी कठोरता से विकसित हुआ जिसे मन की आधुनिक जाँच अभी गम्भीरता से लेना आरम्भ ही कर रही है।

परम्परा ने मन के आंतरिक उपकरण का भी पृथक् कार्यों में विश्लेषण किया — मनस्, जो इंद्रियों को ग्रहण और समन्वित करता है; बुद्धि, जो विवेचन और निर्णय करती है; अहंकार, जो पृथक् स्व का भाव उत्पन्न करता है; और चित्त, जिसमें संस्कार संचित रहते हैं — इन सबको उस शुद्ध बोध से पृथक् करते हुए जो इन्हें प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं इनमें से कोई नहीं है। यह अपने ही निमित्त कोई कल्पना नहीं थी, अपितु ध्यान के अनुशासनों के लिए एक कार्यशील मानचित्र, जिनका लक्ष्य ठीक यही था कि बोध को उन मानसिक कार्यों से सुलझाया जाए जिनसे वह सामान्यतः भ्रमित रहता है।

परम्परा के विश्लेषण के केंद्र में साक्षी की धारणा है — वह शुद्ध बोध जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की बदलती अवस्थाओं का निरीक्षण करता है और स्वयं नहीं बदलता, और जिसे विषय नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वह स्वयं वह विषयी है जिसके सम्मुख समस्त विषय प्रकट होते हैं। उस तक पहुँचने की उपनिषदीय पद्धति प्रसिद्ध रूप से निषेधात्मक है : नेति, नेति — "यह नहीं, यह नहीं" — प्रत्येक उस वस्तु को अलग रखते हुए जिसका निरीक्षण किया जा सकता है — देह, संवेदना, विचार, यहाँ तक कि स्व का भाव भी — कि वह अंतिम द्रष्टा नहीं है, जब तक जो शेष रहे वह स्वयं बोध ही हो। यह घटाव का अनुशासन है, जो ज्ञात किसी वस्तु की ओर नहीं, अपितु उसकी ओर संकेत करता है जो जानने का कर्म करता है।

यह प्रश्न अब हम पर एक अप्रत्याशित दिशा से दबाव डाल रहा है। ज्यों-ज्यों हम ऐसे यंत्र बनाते हैं जो उत्तरोत्तर अधिक बुद्धिमान रीतियों से आचरण करते हैं, त्यों-त्यों हम यह पूछने को विवश हैं कि क्या वे सचेतन भी हो सकते हैं — कि क्या ऐसा कुछ है, अथवा कभी हो सकता है, जो ऐसा यंत्र होने जैसा हो, अथवा वे मात्र किसी ऐसे मन के बाह्य चिह्नों का अनुकरण करते हैं जो भीतर से पूर्णतः अंधकारमय है। यह ठीक वही प्रश्न है जिसे परम्परा ने अपना बनाया, और वह कोई निष्क्रिय कौतूहल नहीं, अपितु हमारे युग के सर्वाधिक परिणामकारी प्रश्नों में से एक सिद्ध होता है। जिस सभ्यता ने सहस्राब्दियाँ चेतना के स्वभाव की जाँच में बिताईं, उसके पास, प्रतीत होता है, ऐसे युग से कहने को बहुत कुछ है जो अकस्मात् यह पूछने को विवश हो गया है कि चेतना है क्या।

यह अपने शिखर पर प्रज्ञा-परम्परा है, और यह इस त्रयी की केंद्रीय प्रतिज्ञा का सर्वाधिक स्पष्ट समर्थन है। हमने तर्क दिया कि हमारे यंत्र हम पर ऐसे प्रश्न थोपते हैं जिनका उत्तर वे स्वयं नहीं दे सकते, और कि जीवित प्रज्ञा-परम्पराएँ ही वह एकमात्र स्रोत हैं जो सूचना-तकनीक की

अपूर्ति कर सकती हैं। यह कहीं भी इससे अधिक स्पष्ट नहीं। कितनी भी गणना हमें यह नहीं बताएगी कि चेतना क्या है; वह जिज्ञासा अन्वेषण के सर्वथा भिन्न क्रम की है, ऐसे क्रम की जिसका अनुसरण इस सभ्यता ने अद्वितीय समर्पण से किया। और चेतना के प्रश्न से यह प्रश्न भी बँधा है कि किसी चेतन प्राणी को कैसे जीना और आचरण करना चाहिए — जो हमें उस अवधारणा तक ले आता है जो इस सम्पूर्ण सभ्यता को क्रम देती है, और जिससे यह भाग समाप्त होता है : धर्म।



और जानें · *चेतना — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch19

अध्याय बीस:
धर्म

कोई एक अंग्रेज़ी शब्द "धर्म" का अर्थ वहन नहीं कर सकता, और उसके अनुवाद की कठिनाई स्वयं एक पाठ है। उसका अनुवाद कर्तव्य के रूप में हुआ है, धार्मिकता के रूप में, विधि के रूप में, मत के रूप में, नीति के रूप में, क्रम के रूप में — और वह ये सब है और इनमें से कोई नहीं, क्योंकि वह किसी भी एक से अधिक मूलभूत वस्तु को नाम देता है। यह शब्द उस धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना अथवा थामना, और यही उसकी कुंजी है : धर्म वह है जो धारण करता है — सम्यक् क्रम का वह सिद्धांत जो ब्रह्मांड, समाज और वैयक्तिक जीवन को टिकाता है, और जिसके बिना तीनों अव्यवस्था में गिर जाते हैं। धर्म को समझ लेना इस सम्पूर्ण सभ्यता के संगठक विचार को समझ लेना है।

धर्म एक साथ अनेक स्तरों पर कार्य करता है। सर्वाधिक विशाल परिमाण पर वह स्वयं ब्रह्मांड का क्रम है, वह नियमबद्धता जिससे यथार्थ एक साथ बँधा रहता है। समाज के स्तर पर वह कर्तव्यों तथा सम्यक् सम्बन्धों का वह जाल है जो किसी कार्यशील मानव-संसार को टिकाता है। व्यक्ति के स्तर पर वह उसका अपना सम्यक् कर्म-मार्ग है — और यहाँ इस परम्परा ने अपनी सर्वाधिक परिष्कृत नैतिक अंतर्दृष्टियों में से एक विकसित की : कि सम्यक् कर्म सबके लिए एक-सा नहीं है, अपितु व्यक्ति के स्वभाव, स्थिति और परिस्थिति पर निर्भर करता है। जो एक के लिए धर्म है वह दूसरे के लिए न हो; वही कर्म एक परिस्थिति में उचित और दूसरी में अनुचित हो सकता है। यह गहन संदर्भ-संवेदनशीलता की नीति है, सार्वभौम नियमों की किसी सरल सूची से कोसों दूर।

यह संयोग नहीं कि परम्परा ने धर्म का गहनतम अन्वेषण केवल अमूर्त ग्रंथों से नहीं, अपितु कथा से किया — सबसे बढ़कर महाकाव्यों से, जिनके महानतम पात्र सदैव धर्म-संकटों में फँसे रहते हैं, प्रतिस्पर्धी और समान रूप से बाध्यकारी कर्तव्यों के बीच खिंचे हुए। क्योंकि धर्म अपने सर्वाधिक कठिन रूप में परामर्श के लिए कोई नियम-पुस्तिका नहीं, अपितु सम्यक् विवेक की एक ऐसी सामर्थ्य है जिसे अनुशीलित किया जाना है और किसी वास्तविक जीवन की विशिष्ट तथा प्रायः यातनापूर्ण परिस्थितियों में प्रयुक्त किया जाना है। परम्परा ने समझा कि कठिनतम नैतिक प्रश्न तब नहीं उठते जब कर्तव्य स्पष्ट हो, अपितु तब जब कर्तव्य परस्पर

टकराएँ, और उसने ऐसे टकराव से जूझने को अपनी नैतिक शिक्षा के केंद्र में रखा। यह ठीक उस अर्थ में प्रज्ञा है जिसे हमने परिभाषित किया : सम्यक् कर्म की ओर उन्मुख ज्ञान, विवेक और चरित्र से अविभाज्य।



चित्र 20.1 — धर्म : ब्रह्मांडीय क्रम, सामाजिक कर्तव्य और व्यक्तिगत मार्ग।

धर्म वस्तुतः इस सभ्यता की प्रचालन-प्रणाली के रूप में कार्य करता है — वह गहन तर्क जो शेष सब कुछ को क्रम देता और जोड़ता है, ब्रह्मांड-विज्ञान से लेकर सामाजिक क्रम तक और व्यक्ति के आचरण तक। वह वही संयोजक सिद्धांत है जो इस परम्परा की तत्वमीमांसा को उसकी नीति से और उसकी नीति को दैनिक जीवन से बाँधता है, और अंततः वही है जिसकी सेवा के लिए शास्त्र, विज्ञान, कथा और आचरण का यह सम्पूर्ण विशाल तंत्र अस्तित्व में है :

ऐसे मनुष्यों का अनुशीलन जो अपने भीतर और संसार में सम्यक् क्रम को धारण करने में समर्थ हों।

परम्परा ने यह भी पहचाना कि धर्म की माँगें वस्तुतः कितनी कठिन हो सकती हैं। उसका साहित्य सीमांत स्थितियों और यातनापूर्ण द्वंद्वों से भरा है — कुल के प्रति कर्तव्य सत्य के प्रति कर्तव्य के विरुद्ध, योद्धा के दायित्व अपने ही स्वजनों को मारने की भीषणता के विरुद्ध — और उसने आपद्-धर्म की धारणा विकसित की, विपत्ति का धर्म, यह स्वीकार करते हुए कि विकट परिस्थितियों में सामान्य नियम झुक सकते हैं। यह किसी परिपक्व नैतिक परम्परा का चिह्न है : कोई कठोर संहिता नहीं जो यह ढोंग करे कि प्रत्येक स्थिति स्पष्ट है, अपितु इस पर निरंतर चिंतन कि जब कर्तव्य टकराएँ और कोई भी चुनाव निर्मल न हो तब सम्यक् आचरण कैसे किया जाए।

अनेक विशेष धर्मों के नीचे एक नित्य और सार्वभौम क्रम का विचार था, जिसे कभी-कभी सनातन धर्म कहा गया, और जो ऋत की उससे भी प्राचीन वैदिक धारणा में जड़ें रखता है — वह ब्रह्मांडीय नियम जिससे ऋतुएँ घूमती हैं, तारे अपने पथ बनाए रखते हैं, और सत्य तथा न्याय दृढ़ रहते हैं। इस दृष्टि में सम्यक् जीना उस क्रम के साथ स्वयं को सँरेखित करना था जो स्वयं यथार्थ की संरचना में बुना है, जिससे नीति किसी उदासीन ब्रह्मांड पर थोपी गई मानवीय प्रथा नहीं, अपितु समग्र की नियम-बद्धता में सहभाग थी। यही कारण है कि धर्म ब्रह्मांडीय, सामाजिक और वैयक्तिक को एक में बाँध सका : वे सब एक ही धारण करने वाले क्रम की अभिव्यक्तियाँ थे।

परम्परा ने धर्म के विचार को विशेष सावधानी से उन पर लागू किया जो शक्ति धारण करते थे। शासक का धर्म — राजधर्म — विस्तार से विकसित किया गया, जो राजा को अपनी प्रजा के संरक्षण तथा कल्याण से बाँधता था और उसकी शक्ति को उससे ऊपर के किसी नियम के अधीन करता था; राजनीति पर वह प्रसिद्ध ग्रंथ, अर्थशास्त्र, शासन की व्यावहारिक कलाएँ भावुकता-रहित यथार्थवाद से प्रस्तुत करता है, फिर भी ऐसे ढाँचे के भीतर जो शासक के धार्मिक दायित्वों को अब भी स्वीकार करता था। कि शक्ति स्वयं से परे किसी क्रम के प्रति उत्तरदायी हो, और कि शासक धर्म का स्वामी नहीं अपितु सेवक हो — यह परम्परा के अधिक परिणामकारी राजनीतिक विचारों में है।

और इसके साथ हम उस बिंदु पर पहुँचते हैं जिसकी ओर इस पुस्तक का सम्पूर्ण तर्क बढ़ता रहा है। हमने कहा है कि हमारे युग की गहनतम चुनौती यह है कि हम देवोपम साधन

अर्जित कर रहे हैं और प्रज्ञा में उसके अनुरूप कोई वृद्धि नहीं — लगभग कुछ भी कर सकने की शक्ति, और इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि करने योग्य क्या है। धर्म ठीक उसी प्रश्न का किसी सभ्यता का निरंतर, परिष्कृत उत्तर है : भली प्रकार आचरण कैसे किया जाए, सम्यक् क्रम कैसे धारण किया जाए, शक्ति को प्रज्ञा के शासन में कैसे लाया जाए। यह ठीक वही है जो हमारे यंत्र नहीं दे सकते और जिसकी हमारे युग को सर्वाधिक तीव्र आवश्यकता है। इस भाग में यह स्थापित कर लेने के पश्चात् कि भारत ने क्या जाना, अब हम इस बात में गहरे उतरने को तैयार हैं कि उसने कैसे जाना — उन अंतर्निहित विज्ञानों और चिंतन-संरचनाओं में जिन्होंने इस सभ्यता को यथार्थ की उसकी विशिष्ट दृष्टि दी। यही आगामी भाग का कार्य है।



और जानें · *धर्म — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch20

भाग दो · सारांश
भारत को समझना

आगे बढ़ने से पूर्व, इस भाग का सार।

मुख्य बिंदु

- भारत का ज्ञान-कोष विशाल और संरचित है : वेद और उपनिषद्, इतिहास और पुराण, सूत्र, वेदांग तथा दर्शन।
- वेदों की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि उनकी विषय-वस्तु से भी अधिक उनकी संचरण-विधि है।
- उपनिषद् अनुष्ठान से हटकर आत्मा और यथार्थ के प्रश्न की ओर मुड़ते हैं, और संवाद-विधि से आगे बढ़ते हैं।
- इतिहास और पुराण दर्शन को कथा में ढालकर उसे समाज के प्रत्येक स्तर तक पहुँचाते हैं।
- वेदांग वे तकनीकी अनुशासन हैं जिन्होंने पाठ की शुद्धता और संचरण की परिशुद्धता सुनिश्चित की।
- षड्दर्शन परस्पर विरोधी हठधर्म नहीं, अपितु यथार्थ के अन्वेषण की पूरक विधियाँ हैं।
- योग, आयुर्वेद और मंदिर-विज्ञान दर्शाते हैं कि परम्परा ने शरीर, मन और ब्रह्मांड को एक सतत क्षेत्र माना।

चिंतन हेतु प्रश्न

- *जो परम्परा परिशुद्धता के प्रति इतनी निष्ठावान थी, उसने कथा में इतना निवेश क्यों किया?*
- *जब कोई ज्ञान-कोष अपनी संरचना से कटकर केवल अंशों में पढ़ा जाए, तब क्या खो जाता है?*

भाग तीन
सनातन का विज्ञान

शास्त्रों और विज्ञानों के नीचे ब्रह्मांड, काल, संख्या और मनुष्य को देखने की एक विशिष्ट दृष्टि थी — जिसे यहाँ सावधानी से देखा गया है, यह पृथक् करते हुए कि परम्परा ने क्या सिद्ध किया और क्या कल्पित।

अध्याय इक्कीस:
ब्रह्मांड-विज्ञान

प्रत्येक सभ्यता स्वयं को ब्रह्मांड के विषय में एक कथा सुनाती है — वह क्या है, कितना विशाल, कितना प्राचीन, और उसके भीतर मनुष्य कहाँ खड़ा है। यह कथा किसी भी अन्य से अधिक किसी जन के परिमाण-बोध, अर्थ-बोध और अपने स्वयं के महत्व के बोध को गढ़ती है। भारत का ब्रह्मांड-विज्ञान अब तक कल्पित सर्वाधिक विस्तृत दृष्टियों में है, और इस सभ्यता को समझने के लिए एक क्षण उसके आकाश के नीचे खड़ा होना होगा। किन्तु आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि यह ब्रह्मांड-विज्ञान किस प्रकार की वस्तु है, क्योंकि आधुनिक पाठक इसे भ्रमवश कुछ और समझ सकता है। यह यथार्थ की एक दार्शनिक और चिंतनपरक दृष्टि है, अर्थ तथा दिशा-बोध का एक ढाँचा, और उसे वैसा ही पढ़ा जाना चाहिए — न कि प्राचीन भाषा में सजी किसी अनुभवसिद्ध खगोल-भौतिकी के रूप में, और न इस कसौटी पर परखा जाना चाहिए कि उसके चित्र किसी आधुनिक दूरदर्शी से मेल खाते हैं या नहीं।

अपनी शर्तों पर पढ़ी जाए तो यह दृष्टि अपने विस्तार में चकित करने वाली है। जहाँ अनेक परम्पराओं ने एक छोटे और हाल के संसार की कल्पना की, वहाँ भारत के ब्रह्मांड-विज्ञान ने लगभग अकल्पनीय विस्तार और आयु का एक ब्रह्मांड कल्पित किया, असंख्य लोकों और प्राणियों से भरा हुआ, सृष्टि तथा प्रलय के ऐसे चक्रों में उद्घाटित होता हुआ जो इतने विशाल हैं कि उनके सम्मुख मानव-अवधि शून्य तक सिकुड़ जाती है। यह ऐसा ब्रह्मांड है जिसमें मनुष्य न केंद्र है न मापदंड, अपितु अभिभूत करने वाली भव्यता के किसी क्रम में एक छोटा भागीदार — और फिर भी ऐसा ब्रह्मांड जिसमें चेतना सम्पूर्ण में बुनी हुई है, जिससे मनुष्य उसमें कभी अजनबी भी नहीं। विनम्र बनाने वाले परिमाण और अंतरंग अपनेपन का यह संयोग इस परम्परा को उसका विशिष्ट ब्रह्मांडीय स्वभाव देता है।

इन संकल्पनाओं की विशालता को पकड़कर यह दावा करना कि प्राचीन ऋषि किसी प्रकार आधुनिक ब्रह्मांड-विज्ञान के निष्कर्षों तक पहुँच गए थे, एक गम्भीर त्रुटि होगी — ठीक उस प्रकार की जिससे बचने का वचन इस पुस्तक ने दिया है। वे नहीं पहुँचे थे, और ऐसा कहना दोनों को न समझना होगा। जो अधिक विनम्रता और अधिक सत्यता से कहा जा सकता है वह यह है कि इस परम्परा ने गहन काल और अपार परिमाण के साथ एक कल्पनात्मक सहजता

का अनुशीलन किया, और एक ऐसे ब्रह्मांड की दृष्टि विकसित की जो एक-बार-और-सदा-के-लिए के स्थान पर चक्रीय था, ऐसे समय में जब संसार का बड़ा भाग कहीं छोटी और कहीं हाल की किसी वस्तु की कल्पना कर रहा था। यह इस परम्परा के स्वभाव का एक यथार्थ और उल्लेखनीय लक्षण है, और उसे आधुनिक ब्रह्मांड-विज्ञान के साथ एक अनुगूँज के रूप में रखकर देखना रोचक है — न कि किसी प्रमाण के रूप में, और न पूर्वाभास के दावे के रूप में।

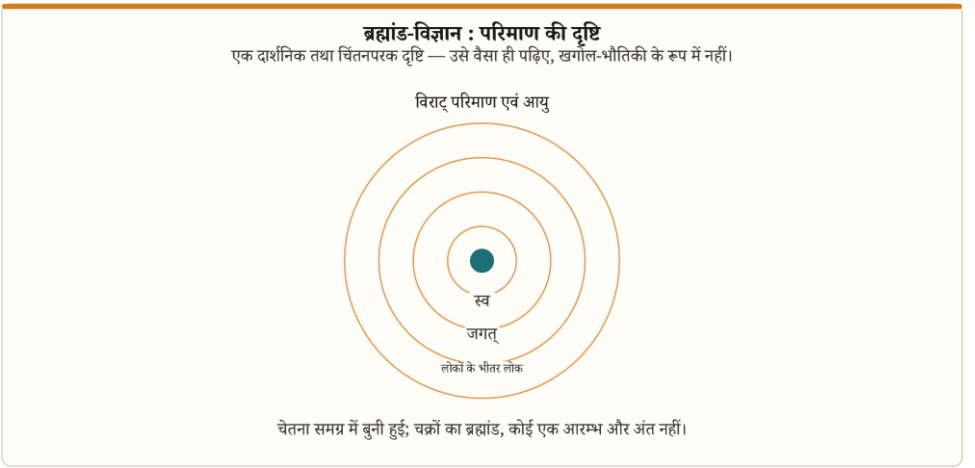

चित्र 21.1 — विराट् परिमाण का ब्रह्मांड; एक दार्शनिक दृष्टि, खगोल-भौतिकी नहीं।

इस पुस्तक के तर्क के लिए ब्रह्मांड-विज्ञान का महत्व सभ्यता की संरचना में उसके स्थान में निहित है। वह आधार-स्तर है — वह विश्व-दृष्टि जिस पर शेष सब कुछ बना है। किसी जन का ब्रह्मांड-बोध उसके काल-बोध, मूल्य-बोध, आत्म-बोध और पवित्र के बोध को शासित करता है, और इस प्रकार ब्रह्मांडीय दृष्टि चुपचाप उस प्रत्येक विज्ञान, प्रत्येक आचरण और प्रत्येक कला को दिशा देती है जो उसके ऊपर उठती है। यह समझने के लिए कि इस परम्परा ने काल, संख्या, प्रकृति और मनुष्य के विषय में वैसा क्यों सोचा जैसा सोचा, उस ब्रह्मांड से आरम्भ करना होगा जिसके भीतर उसने उनकी कल्पना की।

परम्परा की ब्रह्मांड-सम्बन्धी कल्पना विशाल और समृद्ध विस्तार से भरी थी। उसने अनेक लोकों का ऐसा विश्व चित्रित किया जो क्रमबद्ध तलों में व्यवस्थित है, एक केंद्रीय अक्ष के चारों ओर संगठित पवित्र ब्रह्मांड-भूगोल, और सृष्टि तथा प्रलय की एक ऐसी लय जो बिना अंत के दोहराती है। उसने ब्रह्मांड के जीवन की गणना सृष्टिकर्ता के "दिनों" और "रात्रियों" में की, प्रत्येक विराट् लम्बाई का, जिससे समस्त अभिलिखित मानव-इतिहास ऐसे एक दिन के

मुश्किल से एक क्षण में समा जाता है। इन चित्रों को वैसा ही पढ़ा जाना चाहिए जैसे वे हैं : एक मिथकीय-काव्यात्मक दृष्टि, जिसका प्रयोजन अस्तित्व का परिमाण, क्रम और पवित्रता सम्प्रेषित करना है, न कि खगोलीय मापों का कोई समुच्चय। ऐसे पढ़े जाएँ तो वे एक विशिष्ट संवेदना अभिव्यक्त करते हैं — ऐसा मन जो विराटता के साथ पूर्णतः सहज है, और ऐसे ब्रह्मांड के साथ जो चक्रीय, स्तरित और जीवित है, न कि कोई एकल यंत्र जो अंत की ओर क्षीण होता जा रहा हो।

परम्परा बहुलता के साथ भी उल्लेखनीय रूप से सहज थी — असंख्य लोकों और असंख्य चक्रों की धारणा के साथ, ऐसे विश्वों के साथ जो बुलबुलों की भाँति उठते और विलीन होते हैं, बिना संख्या के और काल में बिना किसी एक विशेषाधिकृत केंद्र के। इस दृष्टि में मानव-लोक न प्रथम है, न अंतिम, न एकमात्र, अपितु लोकों तथा युगों की विराटता में एक छोटा सहभागी। आधुनिक ब्रह्मांड-विज्ञान से उसकी दूरी जो भी हो, यह ऐसी कल्पना थी जिसे विशाल बहुलताओं के परिप्रेक्ष्य में सोचने का प्रशिक्षण मिला था, न कि किसी एकल, हाल की, मनुष्य-केंद्रित सृष्टि के — कम से कम एक ऐसा मानसिक ढाँचा, जो अनेक अन्य परम्पराओं के छोटे और सुव्यवस्थित ब्रह्मांड की अपेक्षा आधुनिक चित्र के निकट कहीं अधिक सहजता से बैठता है।

ब्रह्मांड की इस दृष्टि से वे विशिष्ट विज्ञान और सहज-बुद्धियाँ प्रवाहित होती हैं जो इस भाग का विषय हैं। इनमें प्रमुख है काल की इस परम्परा की उल्लेखनीय संकल्पना — चक्रीय, स्तरित, और ऐसे परिमाणों पर गणित की गई कि वे भारत को लगभग प्रत्येक अन्य प्राचीन सभ्यता से पृथक् कर देते हैं। अब हम काल की ओर मुड़ते हैं।

और जानें · *ब्रह्मांड-विज्ञान — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch21

अध्याय बाईस:
काल

कोई भी वस्तु भारत की दृष्टि को अनेक अन्य प्राचीन सभ्यताओं की दृष्टि से उतने तीखे रूप में पृथक् नहीं करती जितनी काल की उसकी संकल्पना। जहाँ प्राचीन संसार का बड़ा भाग काल की गणना किसी विनम्र, मानवीय और मोटे तौर पर रेखीय परिमाण पर करता था — हाल में उत्पन्न हुआ कोई संसार जो किसी आगामी अंत की ओर बढ़ रहा हो — वहाँ भारत की परम्परा ने काल को चक्रीय, स्तरित और लगभग अकल्पनीय विशालता के परिमाणों पर उद्घाटित होते हुए कल्पित किया। यह इस परम्परा की सर्वाधिक उल्लेखनीय कल्पनात्मक उपलब्धियों में से एक है, और सावधानी से सँभाली जाए तो अरबों वर्ष पुराने ब्रह्मांड की आधुनिक समझ के साथ रखकर देखने के लिए सर्वाधिक रोचक में से एक।

परम्परागत गणना में काल विशाल पुनरावर्ती युगों में संगठित है, जो और भी बड़े चक्रों में मिलते हैं, जो पुनः और बड़े चक्रों में, ऐसी अवधियों से होते हुए ऊपर चढ़ते हुए जो सम्पूर्ण अभिलिखित मानव-इतिहास को अनेक बार बौना कर देती हैं। परिशुद्ध अंक इस परम्परा की अपनी ब्रह्मांड-योजना से सम्बद्ध हैं और मापी गई मात्राओं के स्वभाव के स्थान पर प्रतीकात्मक तथा दार्शनिक भार वहन करते हैं; उन्हें प्रेक्षण के परिणामों के रूप में मानना भूल होगी। किन्तु मूल बिंदु अपने आप में खड़ा है : यहाँ एक ऐसी सभ्यता थी जो चकित करने वाली लम्बाई के काल-परिमाणों के साथ पूर्णतः सहज थी, गहन काल से भयभीत नहीं, और वर्तमान क्षण को अपार विस्तार के चक्रों के भीतर एक छोटे मोड़ के रूप में देखने की प्रवृत्ति रखती थी।

विशाल काल के साथ इस सहजता के परिणाम ब्रह्मांड-विज्ञान से कहीं आगे तक पहुँचे। उसने इस परम्परा के अनुपात-बोध और धैर्य को गढ़ा, मानव-व्यापारों के प्रति उसकी दीर्घ दृष्टि को, और उसकी इस प्रतीति को कि अंत भी आरम्भ हैं और कुछ भी अंततः लुप्त नहीं होता। जो सभ्यता राज्यकालों के स्थान पर युगों में सोचती है, वह उथल-पुथल के सम्मुख एक विशेष प्रकार की समता की ओर प्रवृत्त होती है — और कोई सोच सकता है कि क्या यही काल-बोध उस असाधारण प्रत्यास्थता में योगदान करता रहा जिसकी परीक्षा हमने पहले की, अर्थात् उस सामर्थ्य में कि विपत्ति इस विश्वास के साथ सही जाए कि चक्र पुनः घूमेगा।

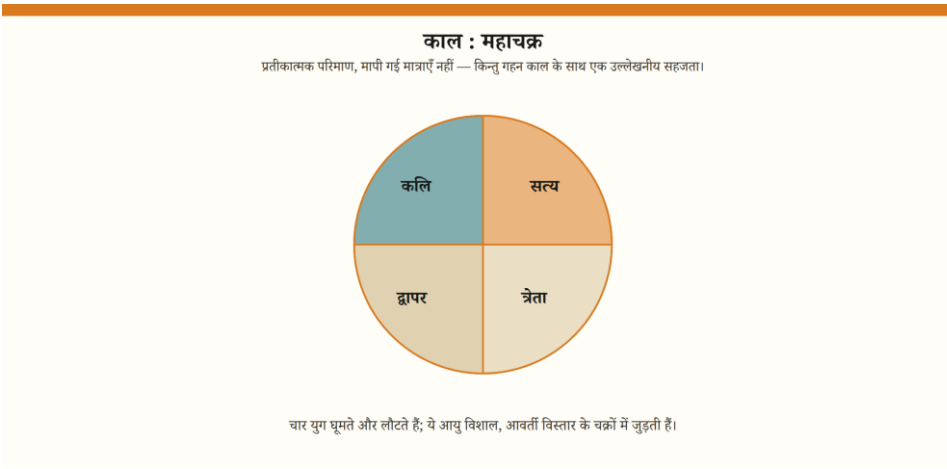

चित्र 22.1 — काल के महाचक्र; प्रतीकात्मक परिमाण, गहन काल के साथ सहजता।

परम्परा ने अपनी विशिष्ट सूक्ष्मता के साथ काल पर उस रूप में भी ध्यान दिया जिस रूप में वह भीतर से अनुभव होता है — घड़ी-काल और जिए हुए काल का अंतर, और वह रीति जिससे अवधि मन की अवस्था के साथ फैलती और सिकुड़ती है। काल की किसी बाह्य, ब्रह्मांडीय गणना का किसी आंतरिक, अनुभवजन्य गणना के साथ यह युग्मन उस परम्परा का लाक्षणिक है जिसने संसार के अपने विज्ञान को आत्मा के अपने विज्ञान से कभी पूर्णतः पृथक् नहीं किया, और यह काल के उसके विवेचन को किसी विशुद्ध खगोलीय अथवा पंचांगीय विवेचन से भिन्न बनाता है।

परम्परा की काल-गणना उत्तरोत्तर विशालतर चक्रों की एक श्रेणी-व्यवस्था से होकर आरोहण करती है। चार युग — सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, जिन्हें आगे बढ़ते हुए सद्गुण में क्षीण होता माना गया — मिलकर एक महायुग बनाते हैं; अनेकानेक महायुग एक कल्प बनाते हैं, एक ऐसा युगांतर जो सृष्टिकर्ता के एक "दिन" के अनुरूप है; और इनसे भी परे और दीर्घ माप हैं। इन युगों से जुड़े विशिष्ट अंक परम्परा की प्रतीकात्मक तथा ब्रह्मांड-सम्बन्धी व्यवस्था के अंग हैं और उन्हें मापी गई मात्राएँ नहीं समझा जाना चाहिए। फिर भी इस मिथकीय काल के साथ-साथ एक कठोर खगोलीय काल-गणना भी चलती थी, जिसमें वही खगोलज्ञ-गणितज्ञ जो सौर वर्ष की लम्बाई और ग्रहों की गतियाँ संगणित करते थे, वही परिष्कृत चांद्र-सौर पंचांग भी बनाते थे जो आज तक परम्परा के अनुष्ठानिक जीवन को क्रम देता है। मिथकीय काल और मापा गया काल साथ-साथ रहे, प्रत्येक अपने उचित क्षेत्र में।

परम्परा की खगोलीय काल-गणना की परिशुद्धता पर ठहरना उचित है। उसके खगोलज्ञों ने सौर वर्ष की लम्बाई आधुनिक मान से कुछ ही मिनटों के भीतर संगणित की, शताब्दियों के पार आकाश की मंद गतियों का अनुसरण किया, और ऐसे पंचांग बनाए जिन्होंने सूर्य तथा चंद्र के अतुलनीय चक्रों में वास्तविक प्रतिभा से समन्वय किया। यह मापा गया काल था, जिस तक निरीक्षण और गणना से पहुँचा गया, और वह महान ब्रह्मांडीय युगों के प्रतीकात्मक काल से स्पष्ट रूप से पृथक् खड़ा है। कि कोई एक सभ्यता दोनों को धारण कर सके — युगांतरों की एक मिथकीय गणना और वर्ष की एक गणितीय गणना — और उन्हें भ्रमित न करे, यह उसके बौद्धिक विस्तार का चिह्न है।

परम्परा की गणना जितनी अत्यंत विशाल तक जाती थी उतनी ही अत्यंत सूक्ष्म तक भी। जैसे उसने गणना से परे युगांतरों की कल्पना की, वैसे ही उसने दिन को छोटी इकाइयों की एक सूक्ष्म श्रेणी-व्यवस्था में विभाजित किया, एक सेकंड से भी लघुतर अंतरालों तक, पर्याप्त परिशुद्धता की एक योजना में। विराट् और सूक्ष्म, दोनों पर यह ध्यान — युगांतर पर और क्षण पर — ऐसे मन को प्रतिबिंबित करता है जो कालिक परिमाण की सम्पूर्ण शृंखला में सहज है, और इस विश्वास को कि काल, प्रत्येक परिमाण पर, क्रमबद्ध और मेय था। किसी उद्यम के लिए चुना गया शुभ क्षण, मुहूर्त, इसी सूक्ष्म-कणिक ढाँचे के भीतर गणित किया जाता था, जिससे काल की गणना स्वयं दैनिक जीवन के आचरण में बुनी रही।

काल की रेखीय के स्थान पर चक्रीय संकल्पना कोई पृथक् विचार नहीं, अपितु उस गहनतर सिद्धांत का अंग है जो इस परम्परा के सम्पूर्ण चिंतन से होकर बहता है — स्वयं चक्रीयता का सिद्धांत, वह महान चक्र जो ब्रह्मांड से होकर, प्रकृति से होकर और आत्मा के जीवन से होकर घूमता है। वही व्यापक सिद्धांत आगामी अध्याय का विषय है।

और जानें · *काल — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch22

अध्याय तेईस:

चक्र

यदि यथार्थ की इस परम्परा की सम्पूर्ण दृष्टि के नीचे किसी एक संगठक सहज-बुद्धि का नाम लेना हो, तो वह भली प्रकार चक्रीयता का सिद्धांत हो सकती है — यह प्रतीति कि अस्तित्व का गहनतम प्रतिरूप सीधी रेखा नहीं, अपितु चक्र है। ब्रह्मांड उत्पन्न होता है, विलीन होता है और पुनः उत्पन्न होता है; ऋतुएँ घूमती हैं; आत्मा जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म से गुज़रती है; युग परिवर्तित होते हैं। परम्परा ने जहाँ भी देखा, उसने मात्र प्रगति के स्थान पर प्रत्यावर्तन देखा, और मूलतः चक्रीय यथार्थ की यह दृष्टि उसके दर्शन, उसकी नीति और उसके जीवन-बोध को लगभग किसी भी अन्य एकल विचार से अधिक गहराई से रंगती है।

कठोरतः रेखीय विश्व-दृष्टि से इसका विरोध शिक्षाप्रद और परिणामकारी है। रेखीय दृष्टि काल को बाण के रूप में देखती है, इतिहास को एकमार्गी पथ के रूप में, और प्रत्येक अंत को अंतिम। चक्रीय दृष्टि प्रतिरूप, लय और प्रत्यावर्तन देखती है; वह अंतों को देहरी मानती है और विलयों को नवीनीकरण की प्रस्तावना। इनमें से कोई भी दृष्टि सरलतः सत्य अथवा असत्य नहीं है — ये ढाँचे हैं, अनुभव को क्रम देने के ढंग — किन्तु वे अत्यंत भिन्न स्वभाव उत्पन्न करते हैं। चक्रीय दृष्टि धैर्य की ओर, लय तथा ऋतु की स्वीकृति की ओर, और इस विश्वास की ओर प्रवृत्त होती है कि जो गिरा है वह पुनः उठ सकता है। यह ऐसी दृष्टि है जो अंतों पर कम निराश होती है, क्योंकि वह अंतिम प्रकार के अंतों में विश्वास ही नहीं करती।

यह सिद्धांत इस परम्परा की केंद्रीय और सर्वाधिक कठिन अवधारणाओं में से एक में अभिव्यक्त हुआ : जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म का वह चक्र जिससे होकर आत्मा यात्रा करती मानी गई, और उस मुक्ति की आकांक्षा जो उस चक्र से पूर्णतः बाहर निकल जाती है। किसी की तत्वमीमांसक प्रतीतियाँ जो भी हों, यह विचार सातत्य, परिणाम और किसी एक जीवन अथवा अनेक जीवनों की दीर्घ रेखा के विषय में सोचने का एक गहन ढाँचा कूटबद्ध करता है — और उसने इस प्रश्न को कि व्यक्ति को कैसे जीना चाहिए, किसी एक अवधि से कहीं अधिक विस्तृत क्षितिज के भीतर रख दिया।



चित्र 23.1 — चक्रीयता : चक्र, रेखा नहीं — लौटना, मात्र आगे बढ़ना नहीं।

चक्रीय सहज-बुद्धि कुछ आधुनिक चिंतन-रीतियों के साथ एक उल्लेखनीय अनुगूँज भी रखती है, विशेषतः पारिस्थितिकी और जटिल तंत्रों के अध्ययन में, जहाँ पुनर्जनन, प्रतिपुष्टि और नवीनीकरण के चक्र जीवित तंत्रों के लिए मूलभूत माने जाते हैं। इसे इस दावे तक बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहना चाहिए कि प्राचीन सिद्धांत और आधुनिक विज्ञान एक ही हैं; वे नहीं हैं। किन्तु चक्र और प्रत्यावर्तन के प्रति इस परम्परा की गहन अनुरक्ति, उन लयों के प्रति जिनसे तंत्र स्वयं को टिकाते और नवीनीकृत करते हैं, सम्पर्क का एक यथार्थ बिंदु है जिसका उल्लेख उचित

है, और जो इस प्राचीन सहज-बुद्धि को समकालीन समझ से उतना दूर नहीं लगने देता जितना कोई अपेक्षा कर सकता है।

चक्रीय दृष्टि कहीं भी नैतिक क्षेत्र से अधिक परिणामकारी नहीं, जहाँ वह संसार के सिद्धांत के रूप में प्रकट होती है — जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म का वह चक्र जिससे कोई प्राणी यात्रा करता है, अपने ही विगत कर्म के वेग से आगे वहन होता हुआ, जब तक वह मुक्ति न पा ले। किसी की तात्विक धारणाएँ जो भी हों, यह विचार एक शक्तिशाली नैतिक ढाँचा कूटबद्ध करता है : कि कर्म ऐसे परिणाम वहन करते हैं जो किसी एक जीवन के दृश्य विस्तार से आगे तक पहुँचते हैं, और कि गहनतम लक्ष्य अनंत निरंतरता नहीं, अपितु उस चक्र से ही मुक्ति है। लौटने और नवीनीकरण की यही सहज-प्रतीति प्रकृति के चक्रों के साथ परम्परा के सामंजस्य में भी चलती है — ऋतुएँ, वर्षा, कृषि-वर्ष का घूमना — ऐसा सामंजस्य जिसे आधुनिक पारिस्थितिकी ने, चक्रों तथा पुनर्जनन की अपनी भाषा के साथ, हमारे लिए नए सिरे से पठनीय बना दिया है।

युगों के सिद्धांत ने चक्रीय दृष्टि को एक नैतिक तथा ऐतिहासिक आयाम भी दिया। युगों को घूमते हुए सद्गुण में क्षीण होता माना गया — स्वाभाविक धर्म के प्रथम युग से क्रमिक पतनों से होते हुए क्षीण धर्म के वर्तमान युग तक — इससे पूर्व कि चक्र नवीनीकृत हो। इस योजना को अक्षरशः लिए बिना भी उसका मनोवैज्ञानिक बल अनुभव किया जा सकता है : वह वर्तमान को प्रगति के शिखर के रूप में नहीं, अपितु कहीं बड़े आंदोलन के भीतर एक कठिन विस्तार के रूप में प्रस्तुत करती है, और वह निराशा के विरुद्ध यह आश्वासन देती है कि पतन अंतिम नहीं है और नवीनीकरण वस्तुओं की गहनतम लय का अंग है।

चक्रीय दृष्टि रैखिक प्रगति में आधुनिक आस्था को एक मौन चुनौती देती है — इस मान्यता को कि इतिहास एक ही दिशा में, सदा ऊपर की ओर बढ़ता है, और कि नवीनतम परिभाषा से ही सर्वाधिक उन्नत है। जो सभ्यता चक्रों में सोचती थी वह ऐसे किसी भ्रम में नहीं थी; वह जानती थी कि युग उठते और गिरते हैं, कि जितना पाया जाता है उतना खोया भी जा सकता है, और कि जिसे एक युग त्याग देता है उसे दूसरे को पुनःप्राप्त करने की आवश्यकता पड़ सकती है। यह नियतिवाद नहीं, अपितु एक प्रकार का यथार्थवाद है, और ऐसी विनम्रता जिसे प्रगति के मद में डूबा हमारा अपना युग हितकर पा सकता है : यह पहचान कि हम उस सबका शिखर नहीं हैं जो पूर्व आया, और कि प्रज्ञा जितनी आगे हो सकती है उतनी पीछे भी।

अंततः चक्रीयता के सिद्धांत में स्वयं इस पुस्तक की परियोजना के लिए भी एक आत्म-सम्बद्ध पाठ है। जिस सभ्यता ने नवीनीकरण को वस्तुओं का गहनतम नियम समझा, वह ऐसी सभ्यता है जिसने अपनी ही विश्व-दृष्टि के भीतर यह विश्वास वहन किया कि वह विच्छेद के पश्चात् पुनर्जनन कर सकती है — और, जैसा हमने देखा, उसने किया भी। इस विरासत को पुनः प्रवाह में लाना एक अर्थ में इस परम्परा की अपनी गहनतम सहज-बुद्धि पर विश्वास करना है : कि जो बाधित हुआ है वह पुनः जीवन की ओर मुड़ सकता है। ब्रह्मांड, काल और चक्र की इस परम्परा की दृष्टि पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम उसके कल्पनात्मक विज्ञानों से उसके प्रमाणित विज्ञानों की ओर मुड़ते हैं — आरम्भ उस क्षेत्र से जिसमें संसार को भारत का योगदान समस्त विवाद से परे है : गणित।



और जानें · *चक्र — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch23

अध्याय चौबीस:
गणित

अब हम इस परम्परा के दृष्टिपरक विज्ञानों से उस विज्ञान की ओर मुड़ते हैं जिसमें मानवता को उसका योगदान प्रलेखित, निर्णायक और विवाद से परे है। गणित में भारत ने संसार को ऐसे उपहार दिए जिनके बिना आधुनिक विज्ञान और तकनीक शब्दशः अकल्पनीय होते — और यहाँ इतिहासकार को किसी सावधान परिहार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अभिलेख स्पष्ट है और ऋण सार्वभौम। जब भी संसार में कहीं कोई व्यक्ति कोई संख्या लिखता है, वह उस प्रणाली का प्रयोग करता है जो अपने मूल रूप में भारत से आई।

इन उपहारों में सर्वप्रमुख है दशमलव स्थान-मान अंक-प्रणाली, और उसके साथ शून्य की संकल्पना तथा उसका चिह्न। यह विचार कि अंकों का एक छोटा समुच्चय, जिनका अर्थ स्थान से निर्धारित हो, किसी भी संख्या को व्यक्त कर सकता है चाहे वह कितनी ही बड़ी हो, और यह कि किसी रिक्त स्थान को चिह्नित करने तथा अपने आप में एक संख्या के रूप में खड़े होने के लिए एक विशेष चिह्न चाहिए — यह मानव-जाति की महान बौद्धिक उपलब्धियों में से एक है। इसने गणना को विशेषज्ञों के श्रम से बदलकर ऐसी वस्तु बना दिया जिसे कोई बालक सीख सकता है, और इसने उस गणित को सम्भव बनाया जिस पर समस्त परवर्ती विज्ञान टिका है। यह प्रणाली भारत से व्यापक संसार तक पहुँची, और पश्चिम में इन अंकों को जिन नामों से जाना जाता है वे स्वयं उनकी यात्रा का मार्ग अभिलिखित करते हैं।

उपलब्धियाँ यहीं नहीं रुकीं। भारतीय गणितज्ञों ने शून्य के साथ और ऋणात्मक संख्याओं के साथ स्वतंत्र रूप से कार्य किया, और उनके अंकगणित के नियम निर्धारित किए, ऐसे समय में जब ये विचार अन्यत्र अज्ञात थे अथवा उनका प्रतिरोध हो रहा था। उन्होंने बीजगणित को उच्च कोटि तक विकसित किया, त्रिकोणमिति के अध्ययन को आगे बढ़ाया, और शताब्दियों के पार प्रतिभाशाली व्यक्तियों की एक शृंखला उत्पन्न की — उनमें वे गणितज्ञ-खगोलविद भी जिनकी कृतियों ने वर्ष तथा आकाश की गतियों की उल्लेखनीय यथार्थता से गणना की। परवर्ती शताब्दियों में केरल-सम्प्रदाय के गणितज्ञों ने त्रिकोणमितीय फलनों के लिए अनंत श्रेणियाँ विकसित कीं, और ऐसे परिणामों तक पहुँचे जो उन तत्वों का पूर्वाभास देते हैं जिन्हें आगे

चलकर कलन में औपचारिक रूप दिया गया — न्यूटन तथा लाइब्निट्स के कार्य से लगभग दो शताब्दी पूर्व।



चित्र 24.1 — गणित : वे प्रलेखित भेंटें जिन्होंने संसार की गणना बदल दी।

इस गणितीय परम्परा का एक लक्षण इस पुस्तक के विषयों के साथ विशेष रूप से अनुगूँजित है : इसका बहुत बड़ा भाग ऐसे क्षेत्रों से गुँथा हुआ था, और कभी-कभी उन्हीं से उपजा, जिनकी हम अपेक्षा नहीं करते। काव्य-छंद के विश्लेषण ने, उदाहरण के लिए, किसी प्राचीन विद्वान को संयोजनों तथा अनुक्रमों के व्यवस्थित अध्ययन तक पहुँचाया, और ऐसे परिणाम उत्पन्न किए जो उस वस्तु को स्पर्श करते हैं जिसे हम अब संचय-गणित के रूप में पहचानेंगे, और यहाँ तक कि संख्याओं का ऐसा विवेचन भी जो हमारे अपने युग के संगणकों के नीचे स्थित द्विआधारी तर्क का पूर्वाभास देता है। यहाँ गणित कोई बंद अनुशासन नहीं, अपितु एक ऐसा तंतु था जो पिंगल-शास्त्र, संगीत, अनुष्ठान और खगोल से होकर बुना गया था — ज्ञान, जैसा इस परम्परा में प्रायः होता है, अप्रत्याशित स्थानों में अंतर्निहित।

ये उपलब्धियाँ अनाम नहीं थीं। लगभग 500 ईस्वी के आसपास आर्यभट ने एक सघन पद्यबद्ध ग्रंथ में पाई का ऐसा मान प्रस्तुत किया जो कई स्थानों तक सटीक है, ऐसी विधियाँ जो त्रिकोणमिति के तुल्य हैं, और यह चौंकाने वाला प्रस्ताव कि आकाश का प्रतीयमान घूर्णन पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने से उत्पन्न होता है। लगभग एक शताब्दी पश्चात् ब्रह्मगुप्त ने संसार को शून्य तथा ऋणात्मक संख्याओं के साथ गणना के प्रथम व्यवस्थित नियम दिए, उन्हें सामान्य राशियों की भाँति लेते हुए जिन्हें अन्य परम्पराएँ विरोधाभासी पातीं अथवा पूर्णतः अस्वीकार कर देतीं। और चौदहवीं शताब्दी से आगे केरल-सम्प्रदाय के गणितज्ञों ने — जिनमें संगमग्राम

के माधव थे — त्रिकोणमितीय फलनों के लिए अनंत श्रेणियाँ विकसित कीं, ऐसे परिणामों तक पहुँचते हुए जो न्यूटन और लाइबनिज़ से लगभग दो शताब्दी पूर्व कलन के तत्वों का पूर्वाभास देते हैं। नामित हों अथवा अनामित, ये प्रथम श्रेणी के कार्यरत गणितज्ञ थे, और उन्होंने जो अमूर्तन उत्पन्न किए उनका प्रयोग कभी रुका नहीं।

गणितीय प्रतिभा की यह परम्परा शताब्दियों तक चलती रही। बारहवीं शताब्दी में भास्कर द्वितीय ने उत्कृष्ट कृतियों की एक शृंखला रची, जिनमें लीलावती है, अंकगणित तथा बीजगणित पर एक ग्रंथ जो आंशिक रूप से किसी युवा विद्यार्थी को सम्बोधित प्रश्नों के समुच्चय के रूप में ढला है, और जो सैकड़ों वर्षों तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होता रहा। न ही यह गणित भारत के भीतर ठहरा : दशमलव अंक और उनके साथ आने वाली विधियाँ मध्यकालीन इस्लामी संसार से होकर पश्चिम की ओर गईं, जहाँ विद्वानों ने उनका अध्ययन किया और उन्हें संचरित किया, और वे यूरोप तक "हिंदू-अरबी" अंकों के रूप में पहुँचीं, जिन्होंने अपने से पूर्व की बोझिल प्रणालियों को विस्थापित कर दिया। इस प्रकार भारत में विकसित अमूर्तन शताब्दियों में मानवता की साझा सम्पत्ति बन गए।

एक और सूत्र उल्लेख का अधिकारी है, क्योंकि हमारे अपने युग के साथ उसकी अनुगूँज अलौकिक है। छंद का प्राचीन अध्ययन, जिसे पिंगल ने व्यवस्थित किया, संयोजनों तथा अनुक्रमों के गणित में ले गया : किसी पद्य-पंक्ति में दीर्घ और लघु अक्षरों के सम्भव प्रतिरूपों की गणना करना संयोजन-गणित की एक समस्या हल करना है, और इसी क्रम में पिंगल की परम्परा ने उसके साथ कार्य किया जो संख्या के द्विआधारी निरूपण के तुल्य है, और गुणांकों की उस सारणी के साथ भी जिसे पश्चिम आगे चलकर पास्कल त्रिभुज के रूप में जानेगा। कि आधुनिक संगणक के नीचे स्थित तर्क तक बहुत पहले संस्कृत काव्य के विश्लेषण से पहुँचा गया हो, यह इस पुस्तक के आवर्ती विषय का एक उल्लेखनीय दृष्टांत है : ज्ञान सर्वाधिक अप्रत्याशित स्थानों में स्थित।

परम्परा अनंत और अत्यंत विशाल के साथ भी उल्लेखनीय रूप से सहज थी। जहाँ कुछ गणितीय संस्कृतियाँ गणनीय की सीमाओं पर असहज हो जाती थीं, वहाँ भारतीय गणित ने विराट् संख्याओं को सरलता से नाम दिया और उनका परिचालन किया, दस की घातों के लिए ऐसी शब्दावली विकसित की जो सामान्य आवश्यकता से कहीं आगे तक जाती है, और शून्य से जुड़ी संक्रियाओं पर तथा कहीं-कहीं स्वयं अनंत के स्वभाव पर परिष्कार से चिंतन किया।

असीम के सम्मुख यह निर्भयता — विशाल काल तथा असंख्य लोकों की ब्रह्मांड-सम्बन्धी कल्पना के अनुरूप — उस गणित के लिए आकस्मिक नहीं थी, अपितु उसके विशिष्ट स्वभाव का अंग थी।

अतः गणित इस बात का सर्वोच्च प्रमाण है कि भारत के कोष ने सार्वभौम और निर्यात-योग्य मूल्य का ज्ञान उत्पन्न किया — ऐसा ज्ञान जो किसी एक संस्कृति का नहीं, अपितु मानवता का है, और जो आज भी पृथ्वी पर कहीं भी की जाने वाली प्रत्येक गणना से होकर बहता है। वह इस परम्परा की कठोरता के प्रति किसी भी अवमानना के लिए एक सुधार के रूप में भी खड़ा है। यह ऐसी सभ्यता थी जो अत्यंत सूक्ष्म अमूर्त चिंतन में समर्थ थी, और यह उसके गणित से अधिक स्पष्ट कहीं नहीं — सिवाय सम्भवतः उस विज्ञान के जिससे गणित सर्वाधिक निकटता से बँधा था, और जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं : खगोल।



और जानें · *गणित — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch24

अध्याय पच्चीस:
खगोल

भारत में खगोल के दो मुख थे, और इस परम्परा को समझने के लिए दोनों को देखना होगा और उन्हें भ्रमित नहीं करना होगा। एक ओर आकाश का एक कठोर, गणितीय, प्रेक्षण-आधारित विज्ञान खड़ा था — उच्च कोटि का यथार्थ खगोल, जो सूर्य, चंद्र और ग्रहों की गतियों तथा ग्रहणों के काल की गणना करता था। दूसरी ओर व्याख्यापरक तथा भविष्य-कथन की परम्पराएँ खड़ी थीं, और व्यापक संस्कृति का पौराणिक ब्रह्मांड-विज्ञान। ये भिन्न प्रयोजनों की सेवा करते थे और भिन्न आधारों पर टिके थे, और इस परम्परा का ईमानदार अध्येता उन्हें पृथक् रखता है : गणितीय खगोल इस परम्परा के प्रमाणित विज्ञानों में गिना जाता है, और वह किसी भी मानदंड से प्रभावशाली है।

इस गणितीय खगोल की उपलब्धियाँ भली प्रकार प्रमाणित हैं। प्राचीन खगोलज्ञ-गणितज्ञों ने यह प्रस्तावित किया कि आकाश की प्रतीयमान दैनिक परिक्रमा पृथ्वी के अपनी ही धुरी पर घूमने से उत्पन्न होती है — एक साहसिक और शुद्ध अंतर्दृष्टि, जो अन्यत्र स्वीकार किए जाने से बहुत पहले प्राप्त हुई। उन्होंने वर्ष की लम्बाई की उल्लेखनीय यथार्थता से गणना की, ग्रह-गति के परिष्कृत प्रतिमान उत्पन्न किए, और ग्रहणों की शुद्ध व्याख्या छाया की क्रीड़ा के रूप में दी — चंद्र का पृथ्वी की छाया में जाना अथवा पृथ्वी और सूर्य के बीच आना — उन पौराणिक वृत्तांतों के स्थान पर जिनसे कोई विशुद्ध धार्मिक ब्रह्मांड-विज्ञान संतुष्ट हो सकता था। कि कोई परम्परा एक पौराणिक ब्रह्मांड-विज्ञान और ग्रहणों का गणितीय रूप से कठोर वृत्तांत साथ-साथ धारण कर सकी, यह हमें उसकी बौद्धिक श्रेणी के विषय में कुछ महत्वपूर्ण बताता है।

यह खगोल उस गणित से अविभाज्य था जिसका सर्वेक्षण हमने पिछले अध्याय में किया, और दोनों उन्हीं महान व्यक्तियों के हाथों में साथ-साथ आगे बढ़े। खगोल को उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली गणितीय साधनों की आवश्यकता थी, और आकाश का वर्णन करने के प्रयास ने त्रिकोणमिति तथा गणना के विकास को प्रेरित किया। केरल-सम्प्रदाय में परवर्ती पुष्पन, अपनी अनंत श्रेणियों के साथ, बड़े अंश में खगोलीय कार्य से ही उत्पन्न हुआ। यहाँ, जैसा प्रायः होता

है, ज्ञान एक जीवित जाल में दिखाई देता है, जहाँ प्रत्येक अनुशासन दूसरों को बाहर लाता और पोषित करता है, न कि एकांत में खड़ा रहता है।



चित्र 25.1 — खगोल : गणितीय विज्ञान और फलादेश-परम्परा, पृथक् रखे हुए।

इस चित्र में फलित ज्योतिष के स्थान के विषय में स्पष्टवादी होना उचित है, क्योंकि आधुनिक पाठक को यह जिज्ञासा होगी। ज्योतिष की परम्परा में अभी वर्णित गणितीय खगोल और आकाश की भविष्य-कथनपरक व्याख्या — दोनों समाहित थे, और इसे नकारना अथवा यह ढोंग करना कि दोनों एक ही हैं, दोनों ही अनुचित होंगे। गणितीय केंद्र किसी भी माप से यथार्थ विज्ञान है; भविष्य-कथन की परम्परा विश्वास और सांस्कृतिक आचरण का विषय है जो भिन्न भूमि पर खड़ा है। कोई निष्ठावान वृत्तांत दोनों को स्वीकार करता है और किसी को भ्रमित नहीं करता — और यह पहचानता है कि वह पंचांग जो आज भी इस परम्परा के अनुष्ठानिक जीवन को क्रम देता है, उसी कठोर खगोलीय गणना पर टिका है, अर्थात् एक यथार्थ विज्ञान का जीवित प्रयोग।

खगोलीय परम्परा के अपने महान नाम और अपने महान उपकरण थे। पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट, छठी में वराहमिहिर, सातवीं में ब्रह्मगुप्त, और बारहवीं में भास्कर — प्रत्येक ने आकाश के गणितीय विवरण को आगे बढ़ाया, ग्रहों की स्थितियाँ, ग्रहणों के समय और वर्ष की लम्बाई क्रमशः परिष्कृत होते प्रतिमानों से संगणित करते हुए। बहुत पश्चात्, अठारहवीं शताब्दी में, शासक सवाई जयसिंह ने महान चिनाई-वेधशालाओं की एक शृंखला बनाई — जयपुर तथा अन्यत्र जंतर मंतर — जिनके विशाल पत्थर-उपकरणों ने सूर्य, चंद्र और तारों की स्थितियाँ उल्लेखनीय परिशुद्धता से मापीं, जो भारत में निरीक्षणात्मक खगोल के टिकाऊपन का एक उल्लेखनीय उत्तरकालीन प्रमाण है। आद्यंत यह विज्ञान ब्रह्मांड की समझ और पंचांग के व्यावहारिक क्रम — दोनों की सेवा करता रहा।

इस विषय में सटीक रहना उचित है कि परम्परा के खगोलज्ञों ने क्या दावा किया और क्या नहीं। आर्यभट का यह प्रस्ताव कि पृथ्वी आकाश की दैनिक गति उत्पन्न करने के लिए अपने अक्ष पर घूमती है, एक वास्तविक और साहसिक अंतर्दृष्टि थी, यद्यपि वह स्वयं परम्परा के भीतर निर्विवाद नहीं रही, जहाँ परवर्ती खगोलज्ञों ने उस पर विवाद किया और कभी-कभी उसे अस्वीकार भी किया। यह आंतरिक तर्क-वितर्क स्वयं स्वास्थ्य का चिह्न है : ये कार्यरत वैज्ञानिक थे जो प्रतिस्पर्धी प्रतिमानों को निरीक्षण तथा तर्क के विरुद्ध परख रहे थे, न कि किसी स्थिर मत के रक्षक। भारत का गणितीय खगोल एक जीवित, स्व-संशोधक जिज्ञासा था, और उसका सम्मान वैसे ही किया जाना चाहिए, न कि उसे मिथक अथवा आधुनिक खोज — किसी एक में समतल कर दिया जाए।

खगोलज्ञों ने मात्र निरीक्षण नहीं किया; उन्होंने प्रतिमान भी बनाए। ग्रहों की अनियमित प्रतीयमान गतियों का लेखा देने के लिए उन्होंने पर्याप्त प्रतिभा की ज्यामितीय योजनाएँ रचीं, सरल वृत्तीय गति को आगे की रचनाओं से संशोधित करते हुए, जिससे संगणित स्थितियाँ निरीक्षित आकाश से मेल खाएँ। ये कार्यरत गणितीय प्रतिमान थे, जो शताब्दियों तक निरीक्षण के विरुद्ध परिष्कृत हुए, और उन्हें बेहतर बनाने के प्रयास ने उस गणित का बहुत बड़ा भाग प्रेरित किया जो खगोल के साथ चला। यहाँ पूर्णतम अर्थ में सैद्धांतिक विज्ञान था — प्रतीतियों की रक्षा के लिए प्रतिमानों का निर्माण, जो आकाश के प्रमाण के विरुद्ध परखे और संशोधित किए गए।

अतः खगोल में हम उच्च कोटि का प्रयुक्त, गणनात्मक, परखा हुआ ज्ञान पाते हैं, जो गणित से विवाहित है और ब्रह्मांड की समझ तथा काल के व्यावहारिक क्रम-निर्धारण — दोनों की सेवा करता है। संख्या और आकाश के इस परम्परा के बहिर्मुखी विज्ञानों का सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात् अब हम उस जिज्ञासा की ओर मुड़ते हैं जिसका अनुसरण परम्परा ने सदैव इनके साथ-साथ किया और जिसे उसने इनसे कभी पृथक् नहीं किया — प्रेक्षक का विज्ञान, अर्थात् उस ब्रह्मांड के साथ अपने सम्बन्ध में चेतना का विज्ञान जिसे वह देखती है।

और जानें · *खगोल — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch25

अध्याय छब्बीस:
चेतना और ब्रह्मांड

हमने चेतना पर पहले इस परम्परा की दार्शनिक जिज्ञासा के शिखर के रूप में विचार किया था। यहाँ हम उस पर एक भिन्न कोण से लौटते हैं — केवल दर्शन के विषय के रूप में नहीं, अपितु इस परम्परा के विज्ञान के छूटे हुए आधे भाग के रूप में। क्योंकि ज्ञान के प्रति भारत के दृष्टिकोण का सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण यह था कि उसने बाह्य जगत् के अध्ययन को आंतरिक जगत् के अध्ययन से कभी पूर्णतः पृथक् नहीं किया। अपने गणित, अपने खगोल और अपनी चिकित्सा के साथ-साथ उसने समान गम्भीरता से विषयी का एक विज्ञान विकसित किया : उस चेतना का अनुशासित अन्वेषण जो प्रेक्षण करती है, मापती है और जानती है।

यह युग्मन आकस्मिक नहीं, अपितु सिद्धांत-आधारित था। जो परम्परा बोध को मूलभूत मानती थी, वह जानने वाले मन को कोई ऐसा गौण उपकरण नहीं मान सकती थी जिसकी उपेक्षा की जाए जबकि ध्यान उन वस्तुओं पर टिका हो जिन्हें वह जानता है। प्रेक्षक को उतनी ही पूर्णता से समझा जाना था जितनी प्रेक्षित को। और इस प्रकार परम्परा ने सांख्य जैसे सम्प्रदायों में ऐसे व्यवस्थित ढाँचे उत्पन्न किए जिन्होंने चेतना और प्रकृति को यथार्थ के दो ध्रुवों के रूप में साथ-साथ रखा — अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र का शुद्ध बोध के सिद्धांत और प्रकट संसार के सिद्धांत में विश्लेषण, और इस बात का सावधान वृत्तांत कि ये दोनों किस प्रकार परस्पर गुँथकर किसी संसार में किसी आत्मा का सामान्य अनुभव उत्पन्न करते हैं।

इसका पद्धतिगत परिणाम एक वस्तुतः भिन्न वैज्ञानिक स्वभाव था। जहाँ आधुनिक पश्चिम के बड़े भाग ने अपनी कठोरता बाहर की ओर मोड़ी और प्रथम-पुरुष अनुभव को गम्भीर अध्ययन के लिए अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ मानकर छोड़ दिया, वहाँ इस परम्परा ने समान कठोरता भीतर की ओर मोड़ी, और मन के अनुशासित अवलोकन के लिए पुनरावर्तनीय चिंतनपरक विधियाँ विकसित कीं। कोई इस पर वाद कर सकता है कि ऐसा प्रथम-पुरुष अन्वेषण कहाँ तक पहुँच सकता है, किन्तु उसे मात्र भावना अथवा कल्पना कहकर नहीं झटकना चाहिए। उसका अनुसरण उतनी ही सावधानी से हुआ, और उतनी ही पीढ़ियों में परिष्कार हुआ, जितना किसी भी बाह्य विज्ञान का, और उसने आंतरिक जगत् का ऐसा विस्तृत तथा संरचित वृत्तांत उत्पन्न किया जिसके प्रतिद्वंद्वी किसी भी परम्परा में कम हैं।

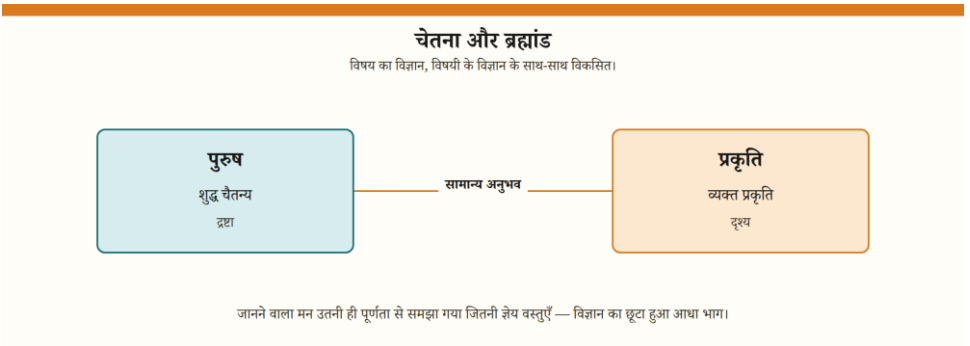

चित्र 26.1 — पुरुष और प्रकृति : विषयी के विज्ञान के साथ विषय का विज्ञान।

हमारे अपने युग के लिए इसका महत्व पर्याप्त है, और उसे पहचाना जाने लगा है। मन के आधुनिक विज्ञानों ने, मस्तिष्क के बाहर से अध्ययन में अपार प्रगति करने के पश्चात्, स्वयं को स्वयं आंतरिक अनुभव के हठीले प्रश्न का सामना करते पाया है — यह प्रश्न कि भौतिक प्रक्रियाओं के साथ कोई अनुभूत बोध होना ही क्यों चाहिए। ठीक इसी प्रश्न पर उस परम्परा के पास देने को बहुत कुछ है जिसने सहस्राब्दियाँ चेतना का भीतर से अन्वेषण करने में लगाईं, और इन प्राचीन अन्वेषणों तथा समकालीन चेतना-अध्ययनों के बीच एक गम्भीर संवाद अब चल रहा है। यह ऐसा प्रसंग नहीं कि प्राचीन ग्रंथों में गुप्त रूप से आधुनिक निष्कर्ष निहित हों; यह ऐसा प्रसंग है जहाँ किसी साझा और अनसुलझी समस्या के प्रति दो भिन्न तथा पूरक दृष्टिकोण हैं।

सांख्य का विश्लेषण प्रभावशाली विस्तार से विकसित किया गया था। चेतना और मूल प्रकृति की परस्पर क्रिया से उसने तत्वों के एक अनुक्रम के माध्यम से अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र के उद्भव का अनुसरण किया — बुद्धि के प्रथम स्फुरण और अहंकार से होते हुए, मन तथा इंद्रियों की क्षमताओं से होकर, भौतिक जगत् के सूक्ष्म तथा स्थूल भूतों तक। इस योजना के विषय में कोई जो भी माने, वह इसका एक गम्भीर प्रयास है कि किसी सचेतन विषयी का अनुभूत जगत् कैसे उत्पन्न होता है, इसका व्यवस्थित लेखा दिया जाए, और वह किसी भी ऐसी दृष्टि के सुविचारित विरोध में खड़ा है जो चेतना को अचेतन पदार्थ का एक विलम्बित तथा आकस्मिक उपफल मानती हो। यहाँ चेतना समझाई जाने वाली अंतिम वस्तु नहीं, अपितु गणना में ली जाने वाली प्रथम वस्तु है।

जिस प्रश्न को परम्परा ने अपने केंद्र में रखा वह ठीक वही है जिसे मन के आधुनिक दर्शन ने सर्वाधिक दुर्दम्य पाया है : कि कोई आंतरिक अनुभव हो ही क्यों, बोध का कोई अनुभूत गुण हो ही क्यों, न कि अंधकार में मात्र यंत्र-व्यापार। जहाँ आधुनिक विज्ञान के बहुत बड़े भाग ने इस प्रश्न को अध्ययन के लिए अत्यधिक विषयनिष्ठ मानकर अलग रख दिया, वहाँ भारतीय परम्पराओं ने उसे सहस्राब्दियों तक चली एक अनुशासित, प्रथम-पुरुष जाँच का विषय बनाया। इन दोनों उपागमों के बीच एक वास्तविक संवाद — एक अपनी कठोरता को बाहर मस्तिष्क की ओर मोड़ता हुआ, दूसरा भीतर बोध की ओर — अब आरम्भ हो रहा है, और वह ऐसा है जिसमें परम्परा के पास देने को बहुत कुछ है और डरने को कुछ भी नहीं।

इस पर आग्रह करना उचित है कि परम्परा का अंतर्मुख होना अस्पष्ट अथवा अनुशासनहीन नहीं था। उसकी चिंतनपरक विधियाँ अपने क्षेत्र में किसी भी प्रयोगशाला-प्रक्रिया जितनी ही कठोर थीं — सटीक परिस्थितियाँ, पुनरावर्तनीय अभ्यास, और उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं पर सावधान ध्यान विहित करती हुईं, और किसी एक साधक के विवरण को पीढ़ियों के पार अनेक अन्यों के विवरणों के विरुद्ध परखती हुई। प्रथम-पुरुष विज्ञान शब्दों में कोई विरोधाभास नहीं है; वह बस ऐसा विज्ञान है जिसका उपकरण मापन-यंत्र के स्थान पर प्रशिक्षित ध्यान है, और परम्परा ने उस उपकरण को उस मात्रा तक विकसित किया जिसकी बराबरी बाह्य-मुखी विज्ञानों ने मुश्किल से ही आरम्भ की है।

किसी आंतरिक विज्ञान का किसी बाह्य विज्ञान के साथ एकीकरण अंततः ठीक वही है जिसकी शक्तिशाली तकनीक से सुसज्जित किसी सभ्यता को सर्वाधिक आवश्यकता है — संसार को जानने की ऐसी रीति जो जानने वाले को कभी दृष्टि से ओझल न करे, और जो वस्तुओं पर प्रभुत्व को कभी उस विषयी के विषय में प्रज्ञा न समझ ले जो उसे धारण करता है। प्रेक्षक के इस विज्ञान से हम इस परम्परा की अवधारणाओं के उस कुल की ओर मुड़ते हैं जो भौतिक और अनुभवजन्य की सीमा पर स्थित है, और जिसे सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने के लिए विशेष सावधानी चाहिए : ऊर्जा और प्राण-शक्ति के उसके विचार।

और जानें · *चेतना और ब्रह्मांड — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch26

अध्याय सत्ताईस:
ऊर्जा

इस परम्परा की अवधारणाओं में कुछ ही ऐसी हैं जिनके लिए ऊर्जा और प्राण-शक्ति के इसके विचारों से अधिक सावधान व्यवहार आवश्यक हो, और कुछ ही ऐसी जिनका असावधान उत्साह से इससे अधिक दुरुपयोग हुआ हो। परम्परा किसी प्राण-शक्ति अथवा जीवन-ऊर्जा की बात करती है, ब्रह्मांड को अनुप्राणित करने वाली किसी गतिशील शक्ति की, जीवित देह के भीतर सूक्ष्म प्रवाहों की। ये अवधारणाएँ परम्परा के अपने ढाँचे के भीतर यथार्थ और महत्वपूर्ण हैं, और वे अत्यंत परिष्कार के जीवित अभ्यासों के नीचे स्थित हैं। किन्तु उन्हें उसी रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए जो वे हैं — इस परम्परा के दार्शनिक तथा चिंतनपरक संसार से सम्बद्ध अवधारणाएँ — और उस परिशुद्ध रूप से परिभाषित राशि के साथ मिलाया नहीं जाना चाहिए जिसे आधुनिक भौतिकी ऊर्जा कहती है, जिसके साथ वे किसी अंग्रेज़ी अनुवाद से आगे बहुत कम साझा करती हैं।

इन अवधारणाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राण अथवा जीवन-ऊर्जा की है, जिसे जीवित प्राणी के अनुप्राणक सिद्धांत के रूप में समझा गया, जो श्वास से और देह में प्राण-शक्ति के प्रवाह से घनिष्ठ रूप से बँधा है। यह अवधारणा कोई निष्क्रिय अमूर्तन नहीं है; वह ठोस अनुशासनों का कार्यशील आधार है। योग में श्वास-नियमन के अभ्यास, और आयुर्वेदिक चिकित्सा का बहुत बड़ा ढाँचा, इसी प्राण-ऊर्जा और उसकी गतियों की शब्दावली में कार्य करते हैं। इन अभ्यासों में वस्तुतः क्या हो रहा है, इसका आधुनिक शरीर-क्रिया विज्ञान जो भी वृत्तांत दे, इस परम्परा की अवधारणा ने सहस्राब्दियों तक यथार्थ और परिष्कृत अभ्यास-प्रणालियों के संगठक विचार के रूप में कार्य किया है, और वह इन्हीं शर्तों पर समझे जाने की अधिकारी है।

इसके साथ-साथ स्वयं ब्रह्मांड की एक व्यापक दृष्टि चलती रही, जिसमें वह गतिशील और सजीव है — शक्ति तथा ऊर्जा से व्याप्त एक यथार्थ, जिसे प्रायः किसी महान सृजनात्मक शक्ति के रूप में मूर्त किया गया, न कि जड़ पदार्थ का कोई निर्जीव यंत्र। यह एक तत्वमीमांसक तथा धार्मिक दृष्टि है, संसार को जीवित और शक्ति से आवेशित देखने का एक ढंग, और वह किसी विशुद्ध यंत्रवादी चित्र के सुविचारित विरोध में खड़ी है। उसका मूल्य उस दिशा-बोध में है जिसे वह पोषित करती है — किसी निर्जीव ब्रह्मांड पर प्रभुत्व के स्थान पर किसी जीवित

ब्रह्मांड में सहभागिता का बोध — न कि भौतिकी की अपनी भूमि पर भौतिकी से स्पर्धा करने के किसी दावे में।

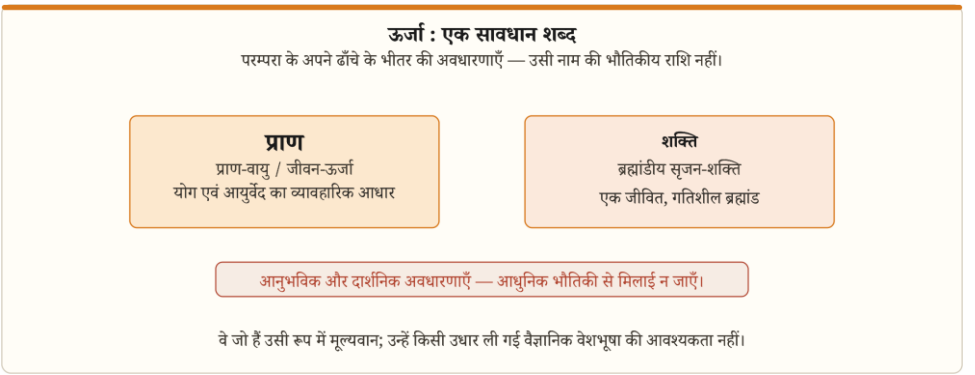

चित्र 27.1 — प्राण और शक्ति : परम्परा की अपनी अवधारणाएँ, ऊर्जा की भौतिकी नहीं।

ठीक यहीं बौद्धिक ईमानदारी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही वह क्षेत्र है जहाँ इस परम्परा का सर्वाधिक मिथ्या-चित्रण होता है। प्रायः ऐसे दावे मिलते हैं कि जीवन-ऊर्जा की प्राचीन अवधारणा आधुनिक विज्ञान की किसी ज्ञात राशि के समान है, अथवा कि इस परम्परा के पास गुप्त रूप से ऊर्जा-क्षेत्रों की भौतिकी थी। ऐसे दावे इस परम्परा का सम्मान नहीं करते; वे उसे किसी विदेशी मानदंड के अधीन कर देते हैं और उसकी गरिमा को ऐसी समानता पर दाँव लगा देते हैं जो टिकती नहीं। इस परम्परा की ऊर्जा-सम्बन्धी अवधारणाएँ उसी रूप में मूल्यवान हैं जो वे हैं — एक परिष्कृत अनुभवजन्य तथा दार्शनिक ढाँचा, जो चिंतनपरक और चिकित्सकीय अभ्यास में परखा गया — और उन्हें सम्मान अर्जित करने के लिए किसी उधार ली गई वैज्ञानिक वेशभूषा की आवश्यकता नहीं।

योग तथा आयुर्वेद के ढाँचों के भीतर इस प्राण-ऊर्जा का स्वयं कार्यों में विश्लेषण किया गया — वे कई प्राण जो श्वास, उत्सर्जन और परिसंचरण का संचालन करते हैं — जो एक सूक्ष्म शरीर-रचना की नाड़ियों से होकर गति करते हैं, जिसे परम्परा ने पर्याप्त विस्तार से मानचित्रित किया। इन मानचित्रों की स्थिति के विषय में स्पष्ट रहना अनिवार्य है : वे परम्परा की अपनी आनुभविक तथा चिंतनपरक प्रणाली के अंग हैं, और वे उस शरीर-रचना के विषय में दावे नहीं हैं जो कोई विच्छेदन प्रकट करता है, न ही उस ऊर्जा के विषय में जिसे कोई भौतिकविद् मापता है। अपनी ही शर्तों पर समझे जाएँ, अनेक शताब्दियों में परिष्कृत अनुशासनों के कार्यशील ढाँचे

के रूप में, तो वे परिष्कृत और संगत हैं; गुप्त भौतिकी अथवा शरीर-क्रिया-विज्ञान के रूप में ग़लत समझे जाएँ तो वे न वह हैं न यह, और उन्हें उस साँचे में ठूँसना परम्परा की कोई सेवा नहीं करता।

परम्परा का सूक्ष्म शरीर-क्रिया-विज्ञान देह के भीतर केंद्रों तथा नाड़ियों के मानचित्रण तक फैला — योग-वाङ्मय के चक्र और नाड़ी — जिनसे होकर प्राण-ऊर्जा को गति करता और अभ्यास से जागृत होता माना गया। इस पर जितना बल दिया जाए कम है कि ये किसी भौतिक शरीर-रचना के वर्णन नहीं हैं और विच्छेदन से न इनकी पुष्टि होती है न खंडन; वे एक चिंतनपरक तथा आनुभविक ढाँचे के अंग हैं, अभ्यास के लिए एक मानचित्र, न कि अंगों की कोई तालिका। उन्हीं शर्तों पर ग्रहण किए जाएँ तो वे संगत और परिष्कृत हैं; शरीर-क्रिया-विज्ञान अथवा भौतिकी के धरातल पर घसीटे जाएँ तो उनका मिथ्या निरूपण होता है, और वे प्रशंसक तथा आलोचक — दोनों, जो उन्हें ऐसे ही पढ़ने पर आग्रह करते हैं, परम्परा का अपकार करते हैं।

अतः सम्यक् रूप से समझी जाएँ तो इस परम्परा की ऊर्जा-सम्बन्धी अवधारणाएँ उसके आंतरिक तथा अनुभवजन्य संसार के विज्ञान से सम्बद्ध हैं, चेतना के उसके अन्वेषणों के साथ, न कि संख्या और आकाश के उसके प्रमाणित बाह्य विज्ञानों से। वे ज्ञान के ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत करती हैं जो अभ्यास में और अभ्यासी में जीवित रहता है, और जो मापन तक घटाए जाने का प्रतिरोध करता है — इस सम्पूर्ण सर्वेक्षण का एक बार-बार लौटने वाला विषय। इस नाज़ुक क्षेत्र से हम इस परम्परा की एक यथार्थ और प्रशंसित उपलब्धि की ओर बढ़ते हैं, जिसमें भौतिक और तत्वमीमांसक पुनः परस्पर गुँथे हुए हैं, किन्तु जहाँ अभिलेख कहीं अधिक दृढ़ है : ध्वनि का उसका विज्ञान और दर्शन।



और जानें · *ऊर्जा — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch27

अध्याय अट्ठाईस: ध्वनि

भारत की परम्परा में ध्वनि का वह स्थान है जो उसे ठीक उसी मात्रा में किसी अन्य सभ्यता में प्राप्त नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि वेद अपने सार में पाठ होने से पूर्व ध्वनि है, और कि उसकी शक्ति उसके परिशुद्ध ध्वन्यात्मक रूप में निवास करती मानी गई। किन्तु ध्वनि के साथ इस परम्परा का संलग्न होना पवित्र आवृत्ति के संरक्षण से कहीं आगे तक गया। उसने एक ओर वाक् तथा संगीत का एक यथार्थ और प्रशंसित विज्ञान उत्पन्न किया, और दूसरी ओर ध्वनि तथा भाषा का एक गहन दर्शन — और दोनों में यह उपलब्धि यथार्थ है और गर्व के योग्य।

वैज्ञानिक उपलब्धि विवाद से परे है। संस्कृत के वैयाकरणों तथा उच्चारण-शास्त्रियों द्वारा किया गया वाक्-ध्वनियों का विश्लेषण असाधारण रूप से उन्नत था — इस बात का व्यवस्थित वर्णन कि प्रत्येक ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है, उसके उच्चारण-स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकृत, ऐसी कठोरता से संगठित जिसका अध्ययन आधुनिक भाषाविदों ने प्रशंसा के साथ किया है। स्वयं संस्कृत वर्णमाला का विन्यास इसी विश्लेषण को प्रतिबिम्बित करता है, ध्वनियों को उनके उत्पादन की भौतिक यांत्रिकी के अनुसार क्रम देता हुआ, न कि किसी संयोग से। ध्वनि के अपने विवेचन में इस परम्परा ने ऐसी वैज्ञानिक उच्चारण-विद्या प्राप्त की जिसकी समता संसार बहुत लम्बे काल तक नहीं कर सका, और जो भाषाविज्ञान के इतिहास में आज भी एक यथार्थ मील का पत्थर बनी हुई है।

संगीत में भी इस परम्परा ने एक परिष्कृत सिद्धांत और अभ्यास विकसित किया, स्वर की, स्वरों की सूक्ष्म श्रेणियों की, और उन संरचनाओं की सूक्ष्म समझ के साथ जिनसे होकर राग चलता है और भाव जगाता है। यह ज्ञान बड़े अंश में जीवित अभ्यास में धारित था, गुरु से शिष्य तक कान और कंठ के माध्यम से संचरित, और वह संसार की महान निरंतर संगीत-परम्पराओं में से एक है — देह-धारित ज्ञान का एक और उदाहरण जिसे कोई स्वर-लिपि पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकती और जो अपने अतिजीवन के लिए अखंडित संचरण पर निर्भर है।

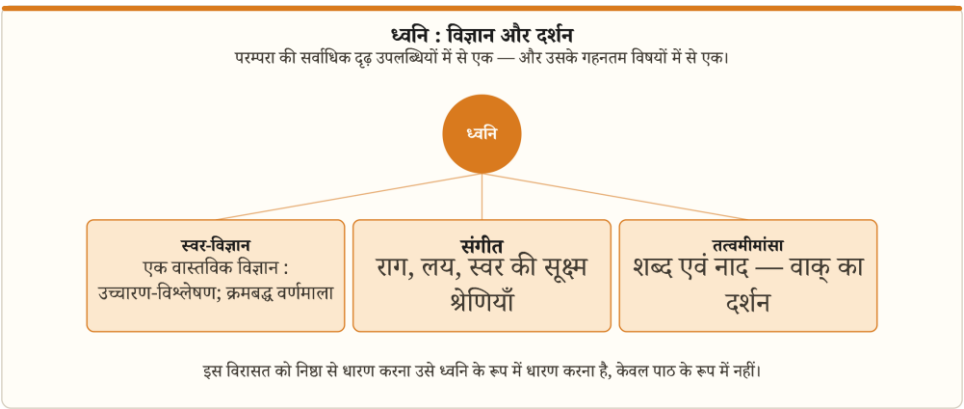

चित्र 28.1 — ध्वनि : स्वर-विज्ञान, संगीत और वाक् का दर्शन।

विज्ञान से आगे पर्याप्त गहराई का ध्वनि-दर्शन स्थित था — शब्द के स्वभाव पर चिंतन, इस पर कि ध्वनि अर्थ कैसे वहन करती है, उच्चारित अक्षर और उसके द्वारा नामित यथार्थ के बीच के सम्बन्ध पर। परम्परा ने भाषा तथा अर्थ के सूक्ष्म सिद्धांत विकसित किए, और अपनी अधिक तत्वमीमांसक पहुँच में स्वयं ब्रह्मांड के लिए ध्वनि अथवा स्पंदन को मूलभूत मानने की एक दृष्टि। यह अंतिम एक आध्यात्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि है, और उसे वैसा ही ग्रहण किया जाना चाहिए। कभी-कभी इसे आधुनिक भौतिकी के पूर्वाभास के रूप में दावा किया जाता सुना जाता है, किन्तु यह किसी काव्यात्मक तथा तत्वमीमांसक अंतर्दृष्टि को ऐसी सेवा में झोंकना है जिसके लिए वह कभी बनी ही नहीं थी; उसका मूल्य दर्शन और चिंतनपरक दृष्टि के रूप में है, और उससे अधिक की उसे आवश्यकता नहीं।

इस विश्लेषण की परिशुद्धता स्वयं संस्कृत वर्णमाला की व्यवस्था में देखी जा सकती है, जो अपनी ध्वनियों को संयोग अथवा इतिहास से नहीं, अपितु उनके उत्पादन की भौतिक यांत्रिकी से क्रम देती है — व्यंजनों को मुख में उनके उच्चारण-स्थान और उनके उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार समूहित करते हुए, ऐसी योजना में जिसे कोई आधुनिक स्वर-वैज्ञानिक आज भी उच्चारणात्मक लक्षणों की सारणी के रूप में पढ़ सकता है। वाणी की ध्वनियों को इतने व्यवस्थित रूप से, और इतना पूर्व, संगठित कर लेना परम्परा की मौन विजयों में से एक है, और वही उस निष्ठा के नीचे है जिससे उसकी पवित्र ध्वनि सुरक्षित रही।

ध्वनि पर परम्परा का चिंतन भाषा-दर्शन तक भी पहुँचा। कुछ सम्प्रदायों ने शब्द और अर्थ के बंधन को मात्र प्रथागत नहीं, अपितु नित्य माना, और स्फोट का सूक्ष्म सिद्धांत विकसित

किया — यह धारणा कि अर्थ ध्वनियों के श्रुत अनुक्रम से एक समग्र के रूप में स्फुरित होता है। संगीत में, भरत को श्रेय दिया गया प्रदर्शन-कलाओं का प्राचीन ग्रंथ, और उसके पश्चात् आई कृतियाँ, स्वर तथा राग का एक परिष्कृत सिद्धांत प्रस्तुत करती हैं, सप्तक को सूक्ष्म अंतरालों में — श्रुतियों में — विभाजित करते हुए, जो पश्चिमी स्वर-व्यवस्था के अर्धस्वरों से कहीं अधिक संख्या में हैं — स्वर का ऐसा विश्लेषण जिसकी सूक्ष्मता भारतीय शास्त्रीय संगीत की जीवित परम्परा आज भी प्रस्तुति में अभिव्यक्त करती है।

ध्वनि का परम्परा-सम्मत व्यावहारिक प्रयोग मंत्र पर केंद्रित था — कोई पवित्र अक्षर, शब्द अथवा पद, जिसे अपनी ही ध्वनि में शक्ति वहन करता माना गया, और जो ध्यान तथा अनुष्ठान में एकाग्रता और रूपांतरण के उपकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ। उनके विषय में किए गए तात्विक दावों को कोई जैसे भी ले, मंत्र ध्यान की एक परिष्कृत तकनीक के रूप में कार्य करते थे और आज भी करते हैं : किसी ध्वनि की पुनरावृत्ति बिखरे मन को एकत्र करती है, उसे स्थिर करती है, और उसे अंतर्मुख करती है — ऐसे अभ्यास में जिसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव वास्तविक हैं, उनकी अंतिम व्याख्या जो भी हो। यहाँ भी ध्वनि का मात्र अध्ययन नहीं होता, अपितु उसे कार्य में लगाया जाता है, चेतना के रूपांतरण से जुड़ी परम्परा की केंद्रीय चिंता की सेवा में।

ध्वनि के प्रति परम्परा की सावधानी पवित्र पाठ के स्वर तक फैली। वैदिक स्वर — उदात्त, अनुदात्त और स्वरित — उतनी ही सावधानी से सुरक्षित रखे गए जितने स्वयं शब्द, क्योंकि आवृत्ति का अर्थ और शक्ति उन पर निर्भर माने गए, और उनका सटीक उच्चारण पीढ़ियों के पार सिखाया और रक्षित किया गया। कि किसी परम्परा ने अपने प्राचीनतम ग्रंथों के केवल शब्द ही नहीं, अपितु उनके उच्चारण का सटीक संगीत भी सुरक्षित रखा हो — तीन सहस्र वर्षों तक और बिना लेखन के — यह सम्पूर्ण मानव-अभिलेख में संचरण के सर्वाधिक विस्मयकारी कर्मों में है।

अतः ध्वनि एक साथ इस परम्परा का प्राथमिक संचरण-माध्यम है, उसकी दृढ़तम वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक, और उसके गहनतम दार्शनिक विषयों में से एक — एक ऐसा तंतु जो वेद, वैयाकरणों, संगीतज्ञों और तत्वमीमांसकों को उच्चारित तथा ध्वनित शब्द पर एक ही दीर्घ ध्यान में बाँधता है। वह हमारी परियोजना के लिए एक स्पष्ट पाठ भी वहन करता है : कि इस विरासत को निष्ठा से धारण करने के लिए हमें उसे ध्वनि के रूप में धारण करना होगा,

केवल पाठ के रूप में नहीं। ध्वनि के विज्ञान से हम एक और क्षेत्र की ओर मुड़ते हैं जहाँ कठोर गणित सीधे पवित्र आचरण से उगा : इस परम्परा की ज्यामिति।



और जानें · *ध्वनि — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch28

अध्याय उनतीस:
ज्यामिति

भारत में ज्यामिति उस विषय का सर्वाधिक स्पष्ट दृष्टांतों में से एक प्रस्तुत करती है जो इस सम्पूर्ण सर्वेक्षण में बार-बार लौटा है : कठोर, प्रमाणित ज्ञान का सीधे अनुष्ठान-आचरण से उगना। निश्चित आकार और क्षेत्रफल की यज्ञ-वेदियों का ठीक विनिर्देशों के अनुसार निर्माण करने की आवश्यकता ने एक यथार्थ व्यावहारिक ज्यामिति का विकास प्रेरित किया, जो इन पवित्र स्थलों के मापन तथा निर्माण से सम्बद्ध ग्रंथों के एक पिंड में निर्धारित है। यहाँ, गणित और खगोल की भाँति, इतिहासकार आत्मविश्वास से बोल सकता है, क्योंकि यह उपलब्धि प्रलेखित और यथार्थ है।

इन ज्यामितीय ग्रंथों में पर्याप्त परिष्कार के परिणाम निहित हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रूप से किसी समकोण आकृति की भुजाओं तथा उसके विकर्ण के बीच के सम्बन्ध का स्पष्ट कथन सम्मिलित है — वह प्रतिज्ञप्ति जो आगे चलकर पश्चिम में पाइथागोरस के नाम से जानी गई — जिसका प्रयोग निर्माण के व्यावहारिक साधन के रूप में हुआ। वे किसी एक आकार को समान क्षेत्रफल के दूसरे आकार में रूपांतरित करने की विधियाँ प्रस्तुत करते हैं, दिए गए विनिर्देशों के अनुसार वर्ग तथा आयत बनाने की, और किसी वर्ग तथा समान क्षेत्रफल के वृत्त के बीच के सम्बन्ध के सन्निकटन की, साथ ही दो के वर्गमूल का एक उल्लेखनीय रूप से यथार्थ सन्निकटन भी। यह रहस्यवाद नहीं, अपितु गणित है, जो अनुष्ठानिक परिशुद्धता की सेवा में प्राप्त हुआ और पूर्णतः अपनी ही शर्तों पर वैध है।

इस व्यावहारिक ज्यामिति के साथ-साथ उसकी एक समृद्ध परम्परा विकसित हुई जिसे प्रायः पवित्र ज्यामिति कहा जाता है — अर्थ को व्यक्त तथा मूर्त करने के लिए ज्यामितीय रूप का प्रयोग। चिंतन और उपासना में प्रयुक्त परिशुद्ध आरेख, वे भूमि-योजनाएँ जिन्होंने मंदिरों के विन्यास को शासित किया, वे क्रमबद्ध प्रतिरूप जिनके माध्यम से दिव्य का प्रतिनिधित्व और उस तक पहुँच होती थी : ये सब ज्यामिति के प्रतीक-विधान के साथ विवाह पर टिके थे, जिसमें स्वयं रूप अर्थ का वाहक बन गया। यह वेदी-ग्रंथों की व्यावहारिक ज्यामिति से भिन्न प्रकार का ज्ञान है — सौंदर्यपरक, प्रतीकात्मक और अनुष्ठानिक, न कि प्रमाणित — और दोनों की सराहना प्रत्येक के अपने क्षेत्र में होनी चाहिए, किसी को दूसरे तक घटाए बिना।

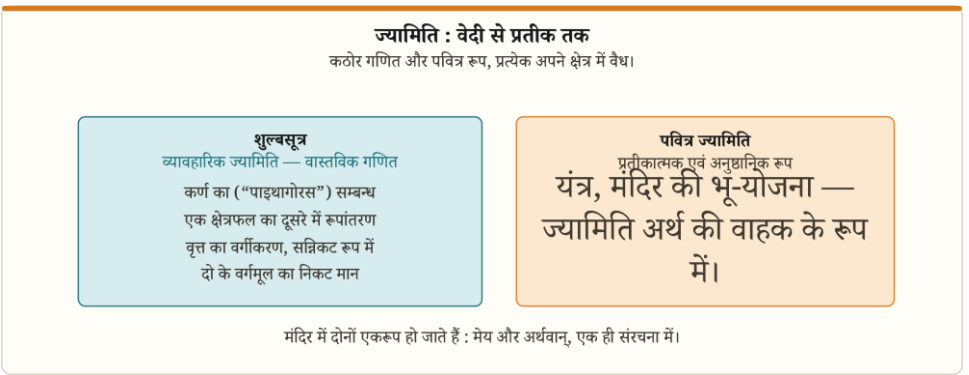

चित्र 29.1 — ज्यामिति : शुल्ब-गणित और मंदिर का पवित्र रूप।

मंदिर, जैसा हमने पहले उल्लेख किया और आगामी भाग में पूर्णतः अन्वेषण करेंगे, इन दोनों ज्यामितियों का सर्वोच्च मिलन-स्थल था। उसके निर्माण ने अपनी स्थिरता तथा अनुपात के लिए यथार्थ गणितीय ज्यामिति की माँग की, और अपने अर्थ तथा अभिविन्यास के लिए पवित्र ज्यामिति की, जिससे कोई महान मंदिर एक साथ एक अभियांत्रिकी-उपलब्धि है और पत्थर में प्रस्तुत ब्रह्मांड का एक आरेख। मंदिर में मापनीय और अर्थपूर्ण संगलित हो जाते हैं, और ज्यामिति एक साथ निर्माता तथा उपासक दोनों की सेवा करती है।

ये ज्यामितीय ग्रंथ उन आचार्यों के नामों से जाने जाते हैं जिन्हें वे श्रेय दिए गए हैं — बौधायन, आपस्तम्ब और अन्य — और वे एक तीव्र व्यावहारिक माँग से उत्पन्न हुए : वैदिक अनुष्ठानों की अग्नि-वेदियाँ सटीक आकारों और क्षेत्रफलों में बनानी पड़ती थीं, कभी किसी महान पक्षी अथवा अन्य आकृति के रूप में, और कभी किसी वेदी को भिन्न आकार में किन्तु ठीक उसी क्षेत्रफल के साथ पुनर्निर्मित करना पड़ता था। इन आवश्यकताओं की पूर्ति ने वास्तविक ज्यामितीय ज्ञान का विकास प्रेरित किया, जो निर्माण के कार्यशील नियमों के रूप में लिखा गया। कि इतना कठोर गणित अनुष्ठान की कड़ी माँगों से उगा हो, यह उस प्रतिरूप का एक और उदाहरण है जिसका अनुसरण इस पुस्तक ने बार-बार किया है : ज्ञान, जो आचरण की सेवा में विकसित हुआ और सर्वाधिक अप्रत्याशित स्थानों में स्थित रहा।

परम्परा की पवित्र ज्यामिति ने अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति स्वयं मंदिर की भू-योजना में पाई, वास्तु-पुरुष-मंडल में — एक वर्ग, जो छोटे वर्गों की जाली में उपविभाजित है, प्रत्येक किसी देवता अथवा शक्ति से सम्बद्ध, जिस पर मंदिर की रूपरेखा रखी जाती थी। वर्ग, जिसे

पूर्ण और स्थिर रूप माना गया, आकाश के वृत्त के साथ उन्हीं ज्यामितीय प्रक्रियाओं से समन्वित किया गया जिन्हें वेदी-निर्माताओं ने सिद्ध किया था, जिससे मंदिर की योजना ब्रह्मांड का एक आरेख बन गई, और उपासक को एक क्रमबद्ध विश्व के भीतर दिशा देने लगी। यहाँ निर्माण की व्यावहारिक ज्यामिति और अर्थ की प्रतीकात्मक ज्यामिति एक ही आकृति में मिलती हैं — गणित और तत्वमीमांसा, भूमि पर एक साथ बिछे हुए।

परम्परा का ज्यामितीय ज्ञान पवित्र कलाओं जितना ही मापन तथा निर्माण की व्यावहारिक कलाओं की भी सेवा करता था। खेतों की रूपरेखा, तालाबों और नहरों का निर्माण, दीवारों तथा गोपुरों का उत्थान — इन सबने क्षेत्रफलों, कोणों और अनुपातों की एक कार्यशील ज्यामिति की माँग की, और ज्ञान का वही पिंड जिसने वेदी तथा मंदिर को गढ़ा, उसी ने किसी स्थिर सभ्यता के सामान्य कर्मों को भी गढ़ा। इस परम्परा में ज्यामिति कभी विशुद्ध अमूर्त खेल नहीं थी; वह निर्मित तथा मापे गए संसार का विज्ञान थी, जो पवित्र प्राकार में और सिंचित खेत में — दोनों में समान रूप से अपने घर में थी।

इस प्रकार ज्यामिति इस सम्पूर्ण भाग की भावना का उदाहरण है : एक ऐसी परम्परा जिसमें यथार्थ, प्रमाणित विज्ञान और गहन प्रतीकात्मक दृष्टि साथ-साथ बढ़े, परस्पर गुँथे हुए किन्तु पृथक् पहचाने जाने योग्य, और प्रत्येक दूसरे को सुदृढ़ करता हुआ। वह आगे की ओर भी संकेत करती है, क्योंकि ज्यामिति, अनुपात और कूटबद्ध अर्थ की कोई संरचना ठीक वैसी वस्तु है जिसे आगामी खण्डों की डिजिटल तकनीकें उल्लेखनीय निष्ठा से ग्रहण तथा सम्प्रेषित कर सकती हैं। यह विचार कर लेने के पश्चात् कि परम्परा ने अर्थ को रूप में कैसे कूटबद्ध किया, अब हम प्रतीक की उस व्यापक भाषा की ओर मुड़ते हैं जिसके माध्यम से उसने अपने गहनतम विचार वहन किए।

और जानें · *ज्यामिति — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch29

अध्याय तीस:
प्रतीक-विधान

किसी सभ्यता को अपने सर्वाधिक गहन और अमूर्त विचारों को सम्पूर्ण समाज तक, शिक्षित और अशिक्षित दोनों तक, पहुँचाने और उन्हें पीढ़ियों के पार अक्षुण्ण सौंपने के उपाय खोजने होते हैं। भारत ने यह उल्लेखनीय मात्रा में प्रतीक की एक विशाल तथा परिष्कृत भाषा के माध्यम से सिद्ध किया। परम्परा ने अपने दर्शन, अपने ब्रह्मांड-विज्ञान और अपनी नीति को प्रतिमा, मुद्रा, रूप और कथा में बुना, जिससे गहनतम सत्य उनके द्वारा भी वहन किए जा सकें जो उन ग्रंथों का एक शब्द भी नहीं पढ़ सकते थे जिन्होंने उन्हें पहले व्यक्त किया। इस परम्परा में प्रतीक-विधान अलंकार नहीं है; वह अर्थ की एक तकनीक है।

विचार कीजिए कि इस परम्परा की प्रतीक-शब्दावली में कितना कुछ कूटबद्ध है। कोई पवित्र अक्षर अपने भीतर ध्वनि तथा यथार्थ की एक सम्पूर्ण तत्वमीमांसा धारण करता है। देवता अपने रूपों, मुद्राओं, आयुधों और वाहनों में सिद्धांतों तथा शक्तियों को मूर्त करते हैं, जिससे कोई एक प्रतिमा उसे एक सम्पूर्ण शिक्षा वहन कर सकती है जिसने उसे पढ़ना सीख लिया हो। वर्ण, संख्या, मुद्रा और आसन सब अर्थ वहन करते हैं; अनुष्ठानिक आरेख ब्रह्मांड का मानचित्रण करता है; स्वयं किसी मंदिर का स्थापत्य एक ऐसा प्रतीक है जिसमें प्रवेश किया और जिससे होकर चला जा सकता है। जो इस भाषा में प्रवीण हो, उसके लिए यह परम्परा सर्वत्र और निरंतर बोलती है, दृश्य तथा अभिनीत के एक समृद्ध कूट में।

ऐसी प्रतीक-भाषा की प्रतिभा उसकी संपीडन तथा संचरण की असाधारण शक्ति में निहित है। कोई प्रतीक किसी एक स्मरणीय रूप में वह धारण कर सकता है जिसे विवरणात्मक रूप से कहने में पृष्ठ लग जाएँ, और वह पीढ़ियों, भाषाओं तथा विद्या के स्तरों के पार ऐसी दृढ़ता से वहन किया जा सकता है जो अमूर्त कथन विरले ही प्राप्त करता है। जो बालक पढ़ नहीं सकता वह किसी प्रतिमा अथवा उत्सव से एक ब्रह्मांड-दृष्टि आत्मसात् कर लेता है; कोई सत्य जो प्रत्यक्ष कथन के लिए अत्यंत सूक्ष्म हो, किसी कथा अथवा रूप के भीतर तब तक सुरक्षित रखा जाता है जब तक मन उसे खोलने के लिए तैयार न हो। प्रतीक-विधान ने परम्परा को अपना ज्ञान व्यापक रूप से वितरित करने और उसे टिकाऊ रूप से संरक्षित करने दिया — ठीक वही प्रत्यास्थता के गुण जिनका अनुसरण हम इस पुस्तक में करते रहे हैं।

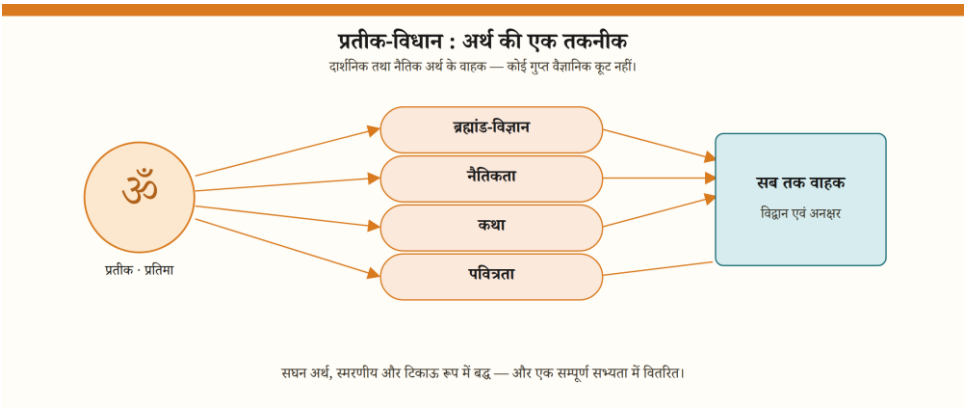

चित्र 30.1 — प्रतीक-विधान अर्थ की एक तकनीक के रूप में, सब तक वहन।

यहाँ एक विशेष सावधानी उचित है, क्योंकि प्रतीकों की व्याख्या एक लाक्षणिक अतिरेक को आमंत्रित करती है। यह दावा करने का प्रलोभन होता है, और वह सामान्य भी है, कि इस परम्परा के प्रतीक और प्रतिमाएँ गुप्त रूप से परिशुद्ध वैज्ञानिक तथ्य कूटबद्ध करते हैं — कि कोई दिया हुआ रूप वस्तुतः किसी आधुनिक खोज का आरेख है। ऐसे पाठों के प्रति अत्यंत सन्देह के साथ जाना चाहिए। इस परम्परा के प्रतीक दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक अर्थ के वाहक हैं, अपने उचित स्वर में अपार रूप से समृद्ध, और उन्हें कूटबद्ध विज्ञान के रूप में पुनर्ढाले जाने की न आवश्यकता है न उससे कोई लाभ। उन्हें परम्परा के अपने संसार के भीतर अर्थ-वाहक के रूप में पढ़ना प्रकाशक है; उन्हें छिपी हुई भौतिकी के रूप में पढ़ना उनके स्वभाव को न समझना और उन्हें छोटा कर देना है।

खजुराहो के मंदिर, जो चंदेल वंश द्वारा लगभग दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में उठाए गए, पत्थर में उकेरी गई एक प्रतीकात्मक भाषा हैं। उनकी भित्तियाँ मूर्तिकला की असाधारण सघनता से ढकी हैं — देवता और दिव्य प्राणी, संगीतज्ञ और नर्तक, युद्ध, उपासना और दैनिक जीवन के दृश्य, और, प्रसिद्ध रूप से, शृंगारिक आकृतियों का एक छोटा अनुपात जिसने असंगत रूप से अधिक ध्यान खींचा है। परम्परा की अपनी प्रतीकात्मक शब्दावली के भीतर पढ़ा जाए तो यह विशाल मूर्तिकला-कार्यक्रम अलंकरण नहीं, अपितु एक वक्तव्य है : मानव-जीवन की समग्रता का उसके समस्त आयामों में आलिंगन, जिनमें वे लक्ष्य भी हैं जिन्हें परम्परा वैध मानती थी — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, एक साथ। शृंगारिक मूर्तियाँ, आकस्मिक अथवा मर्यादा-भंजक होने से कहीं दूर, उस दर्शन के भीतर अपना स्थान लेती हैं जिसने पवित्र को इंद्रिय-सुख

से काटने से इनकार किया, जिससे सम्पूर्ण एक ध्यान बन जाता है — पत्थर में, लौकिक और लोकोत्तर के एकीकरण पर। खजुराहो प्रतीक-विधान है, अपने सर्वाधिक महत्वाकांक्षी रूप में : एक सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि, जो हर उस व्यक्ति के लिए पठनीय बनाई गई है जिसने उसके रूप पढ़ना सीख लिया हो।

परम्परा की प्रतीकात्मक शब्दावली के विस्तार पर विचार कीजिए। एक ही अक्षर ॐ को समस्त पवित्र ध्वनि और यथार्थ के आधार को अपने भीतर समेटे माना जाता है; मंडल और यंत्र ब्रह्मांडीय क्रम को नेत्र तथा मन के लिए ज्यामितीय रूप में उतारते हैं; हाथ की अनेक भंगिमाएँ, मुद्राएँ, प्रत्येक अनुष्ठान, मूर्तिकला और नृत्य — सब में निर्धारित अर्थ वहन करती हैं। जिसने यह शब्दावली सीख ली है उसके लिए कोई प्रतिमा एक शिक्षा उद्घाटित करती है, कोई आरेख एक ब्रह्मांड मानचित्रित करता है, और कोई भंगिमा एक वाक्य बोलती है। यह पूर्णतम अर्थ में एक भाषा है — और, किसी भी भाषा की भाँति, उसे पढ़े जाने से पूर्व सीखना पड़ता है, और ठीक यही कारण है कि परम्परा का इतना अर्थ उस दृष्टि के लिए अदृश्य है जो अप्रस्तुत होकर उससे मिलती है।

स्वयं देवता, एक महत्वपूर्ण स्तर पर, सिद्धांतों तथा शक्तियों के लिए एक प्रतीकात्मक भाषा हैं। किसी देवता की अनेक भुजाएँ ऐसी शक्ति की पहुँच बताती हैं जिसका सुझाव मानव भुजाओं का एक जोड़ा नहीं दे सकता था; वह जो आयुध धारण करता है, जिस वाहन पर चढ़ता है, जो मुद्रा लेता है — प्रत्येक निर्धारित अर्थ वहन करता है; सक्रिय शक्ति के रूप में देवी स्वयं ऊर्जा को मूर्त करती है। इन आकृतियों को मात्र अक्षरशः पढ़ना, जैसा परम्परा के अधिक परिष्कृत व्याख्याकार सदा जानते थे, उनके प्रकार्य से चूकना है; वे, अन्य बातों के साथ, ब्रह्मांड और स्व के विषय में सत्यों के लिए एक विशाल चित्रात्मक शब्दावली हैं, जिन्हें सगुण रूप में सजीव और स्मरणीय बनाया गया जिससे उन्हें सब वहन कर सकें।

परम्परा में स्वयं सदा ऐसे व्याख्याकार रहे जिन्होंने उसके प्रतीकों को प्रतीक के रूप में पढ़ा — जो समझते थे कि अनेक भुजाएँ, वाहन और पुराख्यान उन सत्यों के लिए एक भाषा हैं जिन्हें सपाट कथन वहन नहीं कर सकता, और जिन्होंने उस शाब्दिकता के विरुद्ध चेतावनी दी जो वाहन को ही अर्थ समझ बैठती है। परम्परा को भली प्रकार पढ़ना वैसे ही पढ़ना है जैसे उसके अपने श्रेष्ठतम व्याख्याकारों ने पढ़ा : सतह के प्रति सजग, किन्तु उसमें कभी बंदी नहीं; इस तथ्य के प्रति जीवंत कि प्रतीक एक द्वार है, जिससे होकर निकलना है, न कि कोई दीवार,

जिसे ताकते रहना है। परम्परा की बहुत-सी ग़लतफ़हमी, प्रशंसकों और आलोचकों — दोनों की ओर से, उसकी प्रतीकात्मक भाषा को ऐसे पढ़ने से आती है मानो उसका अभिप्राय शाब्दिक रहा हो।

सम्यक् रूप से समझा जाए तो इस परम्परा का प्रतीक-विधान संचरण की कला में उसकी महान उपलब्धियों में से एक है — विश्व-दृष्टि को संचरणीय, स्मरणीय, टिकाऊ रूप में बाँधने और उसे एक सम्पूर्ण सभ्यता में वितरित करने का साधन। और वह इस सर्वेक्षण की लगभग किसी भी अन्य वस्तु से अधिक प्रत्यक्ष रूप से हमारे अपने युग के दृश्य तथा अनुभवात्मक माध्यमों की ओर संकेत करता है, जो मूलतः प्रतीक और प्रतिमा की नई भाषाएँ ही हैं। यह सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात् कि परम्परा ने कैसे सोचा और अपने चिंतन को कैसे कूटबद्ध किया, अब हम प्राकृतिक जगत् की उस दृष्टि की ओर मुड़ते हैं जिसे उसकी विश्व-दृष्टि ने पोषित किया — उसकी पारिस्थितिकी।



और जानें · *प्रतीक-विधान — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch30

अध्याय इकत्तीस:
पारिस्थितिकी

इस परम्परा के चिंतन के समस्त आयामों में कोई भी हमारी अपनी शताब्दी की विषम स्थिति से उसकी प्राकृतिक-जगत्-दृष्टि से अधिक प्रत्यक्ष रूप से नहीं बोलता। जहाँ आधुनिक औद्योगिक विश्व-दृष्टि ने दीर्घ काल तक प्रकृति को ऐसे संसाधन के रूप में माना जिस पर प्रभुत्व स्थापित करके उसका उपभोग किया जाए, वहाँ भारत की परम्परा ने अपने हृदय में मनुष्य की ऐसी दृष्टि का अनुशीलन किया जो उसे प्रकृति के ऊपर स्थापित करने के स्थान पर उसके भीतर अंतर्निहित मानती है — किसी जीवित क्रम का सहभागी, न कि उसका स्वामी। यह कोई सीमांत अथवा भावुक विषय नहीं, अपितु एक गहन और व्यापक दिशा-बोध है, और वह ऐसा है जिससे हमारे युग को बहुत कुछ सीखना है।

परम्परा ने इस दिशा-बोध को असंख्य रीतियों से अभिव्यक्त किया। नदियाँ, पर्वत, वृक्ष और पशु पवित्र माने गए, पुराख्यान, अनुष्ठान और दैनिक श्रद्धा में बुने हुए। अहिंसा के सिद्धांत ने नैतिक विचार को मानव से आगे सम्पूर्ण जीवित संसार तक विस्तृत किया। प्रकृति की लयों का सम्मान उत्सव-पंचांग में हुआ, और समस्त जीवन की पारस्परिक निर्भरता इस परम्परा के दर्शन का एक बार-बार लौटने वाला विषय रही। यह ऐसी विश्व-दृष्टि थी जिसमें प्राकृतिक और पवित्र पृथक् कोटियाँ नहीं थीं, और जिसमें जीवित संसार को क्षति पहुँचाना वास्तविक अर्थ में उस क्रम का उल्लंघन था जिसे धारण करना व्यक्ति का कर्तव्य था।

ये मनोवृत्तियाँ केवल अमूर्त नहीं थीं, अपितु संरक्षण के ठोस आचरणों में परिणत हुईं, जिनमें से कुछ आज भी शेष हैं और हमारे अपने समय में पारिस्थितिकीविदों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं। वन-खंडों को पवित्र मानकर उनकी रक्षा करने की परम्परा, उन्हें कृषि अथवा कटाई से अछूता छोड़ते हुए, राज्य के आदेश के स्थान पर सामुदायिक श्रद्धा से जैव-विविधता के द्वीप संरक्षित करती रही — किसी संस्कृति द्वारा पारिस्थितिक संरक्षण को अपने पवित्र आचरण में कूटबद्ध कर देने का एक जीवित उदाहरण। ऐसे आचरण दर्शाते हैं कि प्रकृति के प्रति इस परम्परा की श्रद्धा केवल भावना का विषय नहीं, अपितु संयम की एक कार्यशील व्यवस्था थी जिसके भूमि पर यथार्थ परिणाम हुए।



चित्र 31.1 — पारिस्थितिकी : एक जीवित क्रम के भीतर अंतर्निहित मनुष्य।

ईमानदारी की अपेक्षा है कि हम इसका रोमानीकरण न करें। किसी भी सभ्यता ने अपने पर्यावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य में जीवन नहीं जिया, और यह दावा करना मिथ्या होगा कि यह सभ्यता अपने सम्पूर्ण इतिहास में एकरूप अथवा निर्दोष रूप से पारिस्थितिक थी। बिंदु यह नहीं कि यह परम्परा दोष-रहित थी, अपितु यह कि उसने अपनी गहनतम विश्व-दृष्टि के स्तर पर प्राकृतिक जगत् के प्रति श्रद्धा, संयम और अंतर्निहितता का एक दिशा-बोध वहन किया — ऐसा दिशा-बोध जो उन दोहन-परक मान्यताओं से उल्लेखनीय रूप से विपरीत है जिन्होंने आधुनिक संसार को पारिस्थितिक संकट तक पहुँचाया, और उस समझ से उल्लेखनीय रूप से संरेखित जिसे अब हम कष्टपूर्वक पुनः प्राप्त करने को विवश हो रहे हैं।

यह दिशा-निर्धारण ठोस और चिरस्थायी आचरणों में परिणत हुआ। नदियाँ पवित्र मानी गईं और देवियों के रूप में मूर्त की गईं; गंगा से बढ़कर कोई नहीं; वृक्षों की विशेष जातियाँ रक्षित और पूजित हुईं; और समुदायों ने वन के उपवन पवित्र तथा अनुल्लंघ्य रूप में बनाए रखे, आदेश से नहीं अपितु श्रद्धा से जैव-विविधता के द्वीप सुरक्षित रखते हुए। पश्चिमी भारत का बिश्नोई समुदाय, जिसके सिद्धांत जीवित वृक्षों के कटान और पशुओं के वध का निषेध करते हैं, उस सिद्धांत की रक्षा गम्भीरतम मूल्य पर करने की तत्परता के लिए प्रसिद्ध हुआ। ऐसे आचरण दिखाते हैं कि प्रकृति के प्रति परम्परा की श्रद्धा केवल भावना नहीं, अपितु एक कार्यशील नीति थी जिसके भूमि पर वास्तविक परिणाम थे — ऐसी नीति जिसकी पुनःप्राप्ति पर ध्यान देने के हमारे अपने युग के पास पूरे कारण हैं।

इस श्रद्धा के नीचे मनुष्य की ऐसी दृष्टि थी जो उसे शेष प्रकृति के साथ उसी वस्त्र में बुना हुआ मानती थी — समस्त वस्तुओं की भाँति उन्हीं पाँच महाभूतों से बना : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश — और पारस्परिक निर्भरता के एक जाल में समग्र से बँधा हुआ। इस दृष्टि में कोई तीखी रेखा नहीं थी जो मानवता को जीवित संसार के ऊपर अथवा उससे अलग रखे, कि उसे वश में किया जाए और उपभोग किया जाए; मनुष्य एक ऐसे क्रम में सहभागी था जिसमें नदियाँ, वन और प्राणी स्वजन के रूप में सम्मिलित थे। अंतर्निहितता का यही भाव, जो उन मान्यताओं से इतना विरुद्ध है जिन्होंने आधुनिक पारिस्थितिक संकट को प्रेरित किया, परम्परा की दृष्टि को नए सिरे से और तात्कालिक रूप से प्रासंगिक बनाता है।

परम्परा की पारिस्थितिक बुद्धिमत्ता कहीं भी उसके जल-प्रबंधन से अधिक प्रकट नहीं। वर्षा और सूखे की भूमि में समुदायों ने वर्षा को पकड़ने, संचित करने और वितरित करने के लिए असाधारण विविधता के निर्माण किए — वे बावड़ियाँ जो सोपानों में जल-स्तर तक उतरती थीं, महान मंदिर-सरोवर, और जुड़े हुए जलाशयों की वे शृंखलाएँ जो सम्पूर्ण क्षेत्रों में जल ले जाती थीं। ये एक साथ अभियांत्रिकी और सामुदायिक संगठन के कर्म थे, जो शताब्दियों तक टिके रहे, और उनमें यह कठिनाई से अर्जित समझ मूर्त थी कि ऐसी जलवायु में जल का सावधान संचय ही जीवन का आधार था। यह ऐसी समझ है जिसे पुनःप्राप्त करने के तात्कालिक कारण हमारे अपने युग के पास हैं, जो जल के अपने संकटों का सामना कर रहा है।

यह पारिस्थितिक दृष्टि सीधे उस प्रश्न से जुड़ती है जिसे प्रस्तावना ने हमारे युग के लिए केंद्रीय बताया था : मनुष्य, प्राकृतिक जगत् और हमारे बनाए साधनों के बीच का सच्चा सम्बन्ध। इस प्रश्न पर यह परम्परा तकनीक से कोई अतीत-मोही पलायन नहीं, अपितु एक सुधारक दिशा-बोध प्रस्तुत करती है — शक्ति को धारण करने की ऐसी रीति जो किसी जीवित क्रम में अपनी अंतर्निहितता स्मरण रखे। यह हमें इस भाग में इस परम्परा के अंतिम विज्ञान तक ले आता है, और उस विज्ञान तक जो संसार से हटकर स्वयं मनुष्य की सम्भावनाओं की ओर मुड़ता है : मानव-विकास की उसकी दृष्टि।

और जानें · *पारिस्थितिकी — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch31

अध्याय बत्तीस:
मानव-विकास

हम इस भाग का समापन स्वयं मनुष्य की सम्भावनाओं की इस परम्परा की दृष्टि से करते हैं — और यहाँ, किसी भी अन्य स्थान से अधिक, भाषा की परिशुद्धता अनिवार्य है, क्योंकि "विकास" शब्द एक आधुनिक जैविक अर्थ वहन करता है जो वह नहीं है जो परम्परा का आशय था। यह अध्याय जातियों के अवतरण के विषय में नहीं है, जिस पर परम्परा ने ऐसा कोई सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया जो आधुनिक जीव-विज्ञान से स्पर्धा करता हो। यह उस वस्तु के विषय में है जिसका अन्वेषण परम्परा ने अद्वितीय गहराई से किया : मनुष्य का आंतरिक विकास — यह प्रतीति कि व्यक्ति कोई पूर्ण हो चुकी वस्तु नहीं, अपितु ऐसा प्राणी है जो गहन विकास में समर्थ है, चेतना तथा साक्षात्कार की उच्चतर अवस्थाओं की ओर चरणों से होकर चढ़ने में समर्थ।

मानव-पूर्णता की यह दृष्टि सम्पूर्ण परम्परा से होकर बहती है। वह मानती है कि सामान्य मानवीय स्थिति मानव-सम्भावना की छत नहीं, अपितु किसी आरम्भ-बिंदु के अधिक निकट कोई वस्तु है, और यह कि अनुशासन, ज्ञान तथा अभ्यास के माध्यम से व्यक्ति बोध, स्वातंत्र्य और समझ की उन अवस्थाओं की ओर बढ़ सकता है जो दैनिक से कहीं आगे हैं। पूर्ववर्ती अध्यायों में सर्वेक्षित योग, ध्यान तथा आध्यात्मिक अनुशासन का सम्पूर्ण तंत्र इसी पूर्व-मान्यता पर टिका है : कि मनुष्य एक चल रहा कार्य है, और उस चलने की दिशा इस बात के उत्तरोत्तर पूर्ण साक्षात्कार की ओर है कि चेतना क्या हो सकती है।

परम्परा ने इस दृष्टि को अपने विकासात्मक ढाँचों के माध्यम से संरचना दी — मानव-जीवन के वैध लक्ष्यों का उसका वृत्तांत और वे चरण जिनसे होकर कोई जीवन आदर्शतः चलता है, ज्ञान के अनुशासित अर्जन से गृहस्थ के उत्तरदायित्वों से होते हुए मुक्ति की ओर उत्तरोत्तर मुड़ने तक। ये ढाँचे किसी मानव-जीवन को एक सप्रयोजन आरोहण मानते हैं, जिसमें प्रत्येक चरण का अपना उचित कार्य है, और सम्पूर्ण उस वृद्धि की ओर उन्मुख है जो सांसारिक सफलता के साथ समाप्त नहीं होती अपितु प्रज्ञा तथा स्वातंत्र्य की ओर आगे बढ़ती रहती है। यह मनुष्य का ऐसा प्रतिमान है जो मूलतः विकास की ओर उन्मुख है — शिक्षा के लिए अपार परिणाम का विचार, जिस पर इस त्रयी का अंतिम खण्ड लौटेगा।



चित्र 32.1 — मानव-विकास आंतरिक आरोहण के रूप में — डार्विनीय जीवविज्ञान नहीं।

एक लोकप्रिय आधुनिक पाठ के विषय में एक सावधानी आवश्यक है। कभी-कभी यह दावा सुनने में आता है कि दिव्य अवतारों का पारम्परिक अनुक्रम जैविक विकास का कोई प्राचीन पूर्वाभास है, क्योंकि वह जलचर, उभयचर और पशु रूपों से होते हुए मनुष्य की ओर बढ़ता है। यह एक रोचक व्याख्यात्मक समांतरता है, और उसे वैसे ही प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु उसे स्पष्ट रूप से एक आधुनिक पाठ के रूप में नामांकित किया जाना चाहिए, न कि परम्परा के अपने सिद्धांत के रूप में अथवा इस प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि प्राचीनों के पास विकास का सिद्धांत था। यह समांतरता परवर्ती व्याख्या का विषय है; परम्परा का वास्तविक और विशिष्ट योगदान जीवविज्ञान में नहीं, अपितु मनुष्य के आंतरिक विकास के उसके गहन विवरण में निहित है।

परम्परा ने मानव-सम्भावना की अपनी दृष्टि को एक ठोस आकार दिया। उसने मानव-जीवन के चार वैध लक्ष्य नामित किए — धर्म, अर्थात् सम्यक् आचरण; अर्थ, समृद्धि तथा लौकिक सफलता का अनुसरण; काम, सुख तथा सौंदर्य का भोग; और मोक्ष, मुक्ति — और उसने लौकिक लक्ष्यों को आध्यात्मिक के विरुद्ध खड़ा करने से इनकार किया, अपितु यह माना कि पूर्ण मानव-जीवन चारों के लिए उनके उचित क्रम में स्थान बनाता है। उसने जीवन के आदर्श क्रम को भी आश्रमों में मानचित्रित किया, अनुशासित अध्ययन से लेकर गृहस्थ के उत्तरदायित्वों से होते हुए मुक्ति की ओर क्रमिक मोड़ तक। और उसने शिखर पर जीवन्मुक्ति की सम्भावना प्रस्तुत की — जीवित रहते हुए ही प्राप्त मुक्ति — जिससे मानव-विकास का लक्ष्य किसी अन्य

लोक के लिए स्थगित कोई पुरस्कार नहीं, अपितु ऐसा रूपांतरण था जो सिद्धांततः यहीं और अभी सम्भव है।

एक लोकप्रिय आधुनिक पाठ के विषय में एक चेतावनी आवश्यक है। कभी-कभी यह दावा मिलता है कि दिव्य अवतरणों का कोई परम्परागत अनुक्रम जैविक विकास का कोई प्राचीन पूर्वाभास प्रस्तुत करता है, क्योंकि वह जलचर, उभयचर और पशु रूपों से होते हुए मानव की ओर बढ़ता है। यह एक रोचक व्याख्यात्मक समानांतरता है, और उसे वैसे ही प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु उसे स्पष्ट रूप से एक आधुनिक पाठ के रूप में चिह्नित किया जाना चाहिए, न कि परम्परा के अपने सिद्धांत के रूप में अथवा इस प्रमाण के रूप में कि प्राचीनों के पास विकासवाद का सिद्धांत था। यह समानांतरता परवर्ती व्याख्या का विषय है; इस परम्परा का यथार्थ और विशिष्ट योगदान जीव-विज्ञान में नहीं, अपितु मनुष्य के आंतरिक विकास के उसके गहन वृत्तांत में निहित है।

मनुष्यों को विशाल आंतरिक वृद्धि में समर्थ मानने वाली यह दृष्टि इस परम्परा के विज्ञानों का समापन करने के लिए उपयुक्त स्वर है, क्योंकि वह हमें हमारे युग के गहनतम प्रश्न पर लौटाती है। जैसे-जैसे हम उत्तरोत्तर अधिक सामर्थ्य के यंत्र बनाते हैं, यह प्रश्न कि मनुष्य किसलिए है — और मनुष्य अभी क्या बन सकता है — अधिक तात्कालिक होता जाता है, कम नहीं। जिस परम्परा ने मानव-पूर्णता को कभी दृष्टि से ओझल नहीं किया, जिसने व्यक्ति को प्रज्ञा तथा स्वातंत्र्य की ओर एक अपूर्ण आरोहण के रूप में देखा, वह ठीक मनुष्य की वही दृष्टि प्रस्तुत करती है जिसे भूल जाने का संकट किसी तकनीकी युग पर है। यह सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात् कि भारत ने क्या जाना और कैसे जाना, अब हम उस महान संस्था की ओर मुड़ते हैं जिसमें इस ज्ञान का इतना बड़ा भाग एकत्र, मूर्त और संचरित हुआ — मंदिर।

और जानें · *मानव-विकास — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch32

भाग तीन · सारांश

सनातन का विज्ञान

आगे बढ़ने से पूर्व, इस भाग का सार।

मुख्य बिंदु

- ग्रंथों के नीचे एक विशिष्ट दृष्टि थी — ब्रह्मांड, काल, संख्या, ध्वनि और मनुष्य को देखने की एक विशेष रीति।
- भारतीय ब्रह्मांड-दृष्टि विशाल परिमाणों और चक्रीय क्रम में सोचती थी, जो प्राचीन विश्व में असामान्य है।
- दशमलव स्थान-मान और शून्य — यह परम्परा का सर्वाधिक निश्चित और विश्वव्यापी योगदान है।
- खगोल, ज्यामिति और अनुष्ठान एक साथ विकसित हुए, प्रत्येक ने दूसरे को सूक्ष्म बनाया।
- ध्वनि को केवल माध्यम नहीं, मूलभूत सिद्धांत माना गया — जिससे भाषा-विज्ञान और संगीत दोनों समृद्ध हुए।
- प्रतीक-विधान ज्ञान-संचरण का माध्यम था, अलंकार नहीं; उस भाषा के लुप्त होने से अर्थ भी दुर्गम हुआ।
- इस भाग में सर्वत्र यह भेद रखा गया है कि परम्परा ने क्या सिद्ध किया और क्या केवल कल्पित।

चिंतन हेतु प्रश्न

- *परम्परा की अंतर्दृष्टि कहाँ वस्तुतः आधुनिक निष्कर्षों का पूर्वाभास देती है, और कहाँ यह साम्य केवल काव्यात्मक है?*
- *प्राचीन ब्रह्मांड-दृष्टि को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से पढ़ने में क्या प्राप्त होता है और क्या जोखिम है?*

भाग चार

मंदिर

मंदिर में इस सभ्यता का सम्पूर्ण ज्ञान एक स्थान पर एकत्र हुआ — विज्ञान के रूप में, संस्था के रूप में, और जीवित समुदाय के रूप में।

अध्याय तैंतीस:
मंदिर : एक विश्वविद्यालय

आधुनिक दृष्टि के लिए मंदिर उपासना का स्थान है, और इससे अधिक कुछ नहीं। भारत के अध्ययन में कोई व्यक्ति जो भ्रांतियाँ ला सकता है उनमें यह सर्वाधिक परिणामकारी में से एक है, क्योंकि यह छिपा देती है कि महान मंदिर वस्तुतः क्या थे : सम्पूर्ण सभ्यता की केंद्रीय संस्थाओं में, और इतिहास के बड़े भाग में उसके अग्रणी विद्या-केंद्रों में। इससे पूर्व कि हम मंदिर की स्थापत्य, गणित अथवा खगोल के रूप में परीक्षा करें, हमें इस बड़े सत्य को ग्रहण करना होगा — कि मंदिर पूर्णतम अर्थ में एक विश्वविद्यालय था, और प्रायः उससे कहीं अधिक भी।

ऐतिहासिक अभिलेख इसे स्पष्ट करता है। महान मंदिर-परिसर विद्यालय और पुस्तकालय चलाते थे, विद्वानों तथा शिक्षकों को सहारा देते थे, और ऐसे स्थान के रूप में कार्य करते थे जहाँ प्रत्येक प्रकार का ज्ञान संरक्षित, शिक्षित और आगे बढ़ाया जाता था — केवल धार्मिक ज्ञान नहीं, अपितु व्याकरण और तर्कशास्त्र, खगोल और गणित, चिकित्सा और विधि, संगीत और नृत्य और मूर्तिकला। पत्थर पर अभिलिखित दान विद्यार्थियों के भरण और शिक्षकों के वेतन की व्यवस्था करते थे; मंदिर के भीतर और उसके चारों ओर के मंडप आवृत्ति, शिक्षण और वाद के आयोजन-स्थल थे। मंदिर वही स्थान था जहाँ इस सभ्यता का पर्याप्त बड़ा भाग वस्तुतः पढ़ाया जाता था, और जहाँ उसकी बहुत-सी विद्या रखी और आगे सौंपी जाती थी।

उपासना और विद्या का यह एकीकरण आनुषंगिक नहीं था, अपितु ज्ञान के विषय में इस सभ्यता की दृष्टि की किसी अनिवार्य बात को व्यक्त करता था। हमने पूर्ववर्ती अध्याय में देखा कि भारत ने स्वयं ज्ञान को अपने मूल्यों के शिखर पर रखा, समझ की खोज को उच्चतम मानवीय उपलब्धि और पवित्र के सदृश माना। इससे स्वाभाविक रूप से यह निकलता है कि पवित्र स्थान और विद्या का स्थान एक ही हों — कि मंदिर, दिव्य के गृह के रूप में, ज्ञान का गृह भी हो। इस सभ्यता के स्वयं स्थापत्य ने उसकी इस प्रतीति को मूर्त किया कि विद्या और पवित्र एक साथ के हैं।



चित्र 33.1 — मंदिर एक विश्वविद्यालय के रूप में : विद्या की एक संस्था।

इस पुस्तक द्वारा विकसित शब्दावली में देखा जाए तो मंदिर संचरण के जाल में एक महान बिंदु था — ऐसा स्थान जहाँ विद्या की संस्थाएँ, देह-धारण के आचरण, इस परम्परा की भौतिक संस्कृति, और उत्सव तथा समुदाय का संयोजी ऊतक सब मिलते और एक-दूसरे को सुदृढ़ करते थे। वह सभ्यतागत संरचना का कोई एक स्तर नहीं, अपितु वह बिंदु था जहाँ अनेक स्तर अभिसरित होते थे, और ठीक यही उसे इतना शक्तिशाली तथा इतना केंद्रीय बनाता था — और इसी कारण परवर्ती व्यवधान के अंतर्गत उसके दुर्बल होने से इतनी व्यापक क्षति हुई।

विद्या-स्थल के रूप में मंदिर का कोई भी विवरण उन महान मठीय विश्वविद्यालयों के बिना पूर्ण नहीं जो उसी सभ्यतागत मिट्टी से उगे, और उनमें नालंदा से बड़ा कोई नहीं। लगभग पाँचवीं शताब्दी से, वर्तमान बिहार में, नालंदा उन प्राचीनतम महान आवासीय विश्वविद्यालयों में से एक के रूप में फला-फूला जो संसार ने देखे थे — विहारों, व्याख्यान-कक्षों और पुस्तकालयों का एक विशाल प्राचीरबद्ध परिसर, जिसने समस्त एशिया से सहस्रों विद्यार्थी और शिक्षक आकृष्ट किए। उसका पाठ्यक्रम धर्म से कहीं आगे तक जाता था, और बौद्ध दर्शन के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, चिकित्सा, गणित तथा खगोल को समेटे था, और उसकी ख्याति चीन, तिब्बत और दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुँची। चीनी यात्री ह्वेनसांग, जिसने सातवीं शताब्दी में वहाँ अध्ययन और अध्यापन किया, उसके परिमाण तथा कठोरता का ऐसा विवरण छोड़ गया जिस पर इतिहासकार आज भी निर्भर करते हैं; उसका पुस्तकालय इतना विशाल स्मरण किया गया कि जब बारहवीं शताब्दी के अंत के निकट वह परिसर नष्ट किया गया, तब कहा गया कि वह अग्नि दीर्घ काल तक सुलगती रही। नालंदा खंडहरों में लिखा वह प्रमाण है कि

एक सभ्यता ने विद्या की संस्थाएँ ऐसे परिमाण पर और ऐसी अंतरराष्ट्रीयता के साथ बनाईं जिन्हें आधुनिक विश्वविद्यालय अपना ही पूर्वज पहचानेगा।

विद्या में मंदिर की भूमिका महान मठीय विश्वविद्यालयों तक सीमित नहीं थी; वह शिक्षा के सामान्य ताने-बाने में चलती थी। मंदिर-अभिलेखों में दर्ज दान विद्यार्थियों के भोजन तथा आवास, शिक्षकों के वेतन, और पांडुलिपियों की प्रतिलिपि के लिए व्यवस्था करते थे; मंदिर से जुड़े मंडपों में वेदों का पाठ, व्याकरण तथा तर्क की व्याख्या, और विज्ञानों का अध्यापन होता था। विद्वान् परिवारों की बस्तियाँ — अग्रहार — मंदिरों के चारों ओर अध्ययन को समर्पित समुदायों के रूप में उगीं, और विशेष मंदिर विशेष अनुशासनों के केंद्र के रूप में विख्यात हुए। इस प्रकार मंदिर शिखर पर विद्या का मात्र संरक्षक ही नहीं, अपितु प्रत्येक स्तर पर उसका स्थिर पोषक था — वह संस्था जिसे किसी समाज ने अपने युवाओं की शिक्षा सौंपी।

यह पहचान इस भाग में आगे आने वाले सब कुछ का आधार है, और वह उस दृष्टि का बीज है जिससे यह त्रयी अपना नाम लेती है। क्योंकि यदि मंदिर कभी इस सभ्यता की एकीकृत करने वाली संस्था था — उसका विश्वविद्यालय, उसका सांस्कृतिक केंद्र, उसका सामुदायिक स्थल — तो यह प्रश्न कि ऐसी संस्था का हमारे अपने युग के लिए नवीनीकरण तथा पुनर्कल्पना कैसे हो, किसी सभ्यतागत परियोजना द्वारा पूछे जा सकने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक बन जाता है। उसका उत्तर देने के लिए हमें पहले मंदिर को पूर्णता में समझना होगा : उसका स्थापत्य, उसके विज्ञान, उसका अर्थतंत्र, उसका शासन, और समुदाय के रूप में उसका जीवन। हम उसके निर्माण के विज्ञान से आरम्भ करते हैं।

और जानें · *मंदिर : एक विश्वविद्यालय — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*
divyadrishti.io/explore/v1/ch33

अध्याय चौंतीस: मंदिर-स्थापत्य

किसी मंदिर का निर्माण उल्लेखनीय गहराई के एक संहिताबद्ध विज्ञान से शासित होता था, जो तकनीकी साहित्य के एक बड़े पिंड में निर्धारित था और स्थापत्यकारों तथा शिल्पियों की वंश-परम्पराओं के जीवित कौशल में वहन होता था। कोई महान मंदिर स्वेच्छाचार से नहीं, अपितु नियम के अनुसार खड़ा किया जाता था — अनुपात, अभिविन्यास, रूप और मूर्ति-विधान के वे नियम जो शताब्दियों में विकसित हुए और सावधानी से संचरित किए गए। मंदिर-स्थापत्य का अध्ययन करना इस सभ्यता द्वारा उत्पन्न प्रयुक्त ज्ञान के सर्वाधिक परिष्कृत तथा चिरस्थायी पिंडों में से एक से भेंट करना है।

इस अभिकल्प के वैचारिक हृदय में मंदिर को ब्रह्मांड की एक क्रमबद्ध प्रतिमा मानने का विचार था। भूमि-योजना एक पवित्र आरेख के अनुसार बिछाई जाती थी जो पवित्र स्थान को क्रमबद्ध सम्बन्धों की एक जाली में संगठित करता था, और देवता तथा उपासक को पत्थर में प्रस्तुत किसी ब्रह्मांड के भीतर स्थापित करता था। ऊर्ध्व रूप अंतरतम गर्भगृह से उठता था — वह छोटा, अंधकारमय, गुहा-सदृश कक्ष जिसमें केंद्रीय प्रतिमा स्थित है — और ऊपर उस उत्तुंग अधिसंरचना से होकर जाता था जो उसे मुकुट पहनाती थी, अंतरंग से अतींद्रिय की ओर एक सुविचारित गति में। किसी मंदिर में प्रवेश करना और उससे होकर चलना एक अभिकल्पित आध्यात्मिक तथा ब्रह्मांड-विषयक यात्रा से गुज़रना था, जो स्वयं भवन के विन्यास में कूटबद्ध थी।

इस सभ्यता के विशाल विस्तार में इस साझा विज्ञान ने महान क्षेत्रीय परम्पराएँ उत्पन्न कीं, जिनमें से प्रत्येक का अपना विशिष्ट स्वभाव और रूप-शब्दावली है, फिर भी सब पहचानने योग्य रूप से उन्हीं अंतर्निहित सिद्धांतों से लेती हैं। इन परम्पराओं के बीच के भेद स्वयं में एक अध्ययन हैं — शिखर के आकार में, गर्भगृह के विवेचन में, मंडपों तथा प्राकारों के संगठन में विविधताएँ — और मिलकर वे किसी भी सभ्यता की समृद्धतम स्थापत्य-विरासतों में से एक बनाते हैं, सिद्धांत में एकीकृत और अभिव्यक्ति में गौरवपूर्ण रूप से विविध।

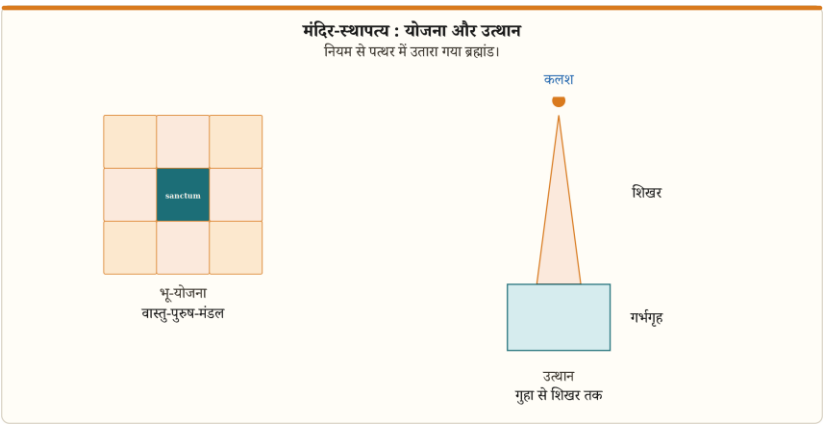

चित्र 34.1 — मंदिर योजना और उत्थान में : पत्थर में उतारा गया ब्रह्मांड।

जैसा हमारे द्वारा परीक्षित प्रत्येक क्षेत्र में हुआ, यह स्थापत्य-ज्ञान केवल अपने ग्रंथों में ही नहीं, अपितु उनके हाथों और आँखों में जीवित था जो उसका अभ्यास करते थे। वंशानुगत स्थपति व्यावहारिक विवेक का वह विशाल पिंड धारण करता था जिसे कोई पुस्तिका पूर्णतः धारण नहीं कर सकती — वे असंख्य अलिखित निर्णय जिनसे कोई विनिर्देश खड़ा हुआ देवालय बन जाता है। मंदिर-स्थापत्य का अतिजीवन, इस परम्परा की प्रत्येक कला के अतिजीवन की भाँति, गुरु से शिष्य तक देह-धारित कौशल के अखंडित संचरण पर निर्भर था, और उसकी असुरक्षा ठीक वहीं थी, उस जीवित शृंखला की भंगुरता में।

तंजावुर का बृहदीश्वर मंदिर, जो लगभग 1010 ईस्वी में चोल सम्राट् राजराज प्रथम के अधीन पूर्ण हुआ, दिखाता है कि यह स्थापत्य-विज्ञान महत्वाकांक्षा की सीमा पर क्या उपलब्ध कर सकता था। उसका ऊँचा विमान गर्भगृह के ऊपर ऐसी ऊँचाई तक उठता है जिसकी बराबरी उसके युग में नहीं थी, और वह ऐसे क्षेत्र में ग्रेनाइट से बना है जहाँ ग्रेनाइट प्राकृतिक रूप से मिलता ही नहीं, जिससे स्वयं वह पत्थर दूर से लाना पड़ा और परवर्ती युग के यंत्रों के बिना उठाना पड़ा। शिखर पर एक विराट् कलश-शिला बैठी है जिसका भार अनेक टन है, और जिसे स्थान पर उठाया जाना एक सहस्र वर्षों से प्रशंसात्मक अटकलों का विषय रहा है। एक सहस्राब्दी पश्चात् भी वह संरचना खड़ी है, सटीक अनुपात में और भार वहन करती हुई — एक कार्यशील प्रमाण कि पूर्ववर्ती अध्याय का गणित कभी केवल सिद्धांत नहीं था, अपितु गुरुत्व और काल के विरुद्ध परखा गया विज्ञान था, और वह आज भी विश्व भर में मान्य महान जीवित चोल मंदिरों में से एक के रूप में टिका है।

निर्माण का विज्ञान एक पर्याप्त तकनीकी वाङ्मय में लिखा गया — मयमत और मानसार जैसी कृतियाँ — जो अनुपात, योजनाएँ, प्रतिमा-विधान, और स्वयं निर्माण के अनुष्ठान सटीक विस्तार से विहित करती थीं, और वह स्थपतियों — वंशगत मंदिर-स्थपतियों — के जीवित कौशल में वहन हुआ। उपमहाद्वीप भर में इस साझा विज्ञान ने महान क्षेत्रीय परम्पराएँ उत्पन्न कीं : उत्तरी, अथवा नागर, मंदिर अपने वक्र, ऊँचे उठते शिखरों के साथ, और दक्षिणी, अथवा द्रविड़, मंदिर अपने सोपानित पिरामिडीय विमानों तथा ऊँचे गोपुरों के साथ, और इनके बीच फली-फूली मिश्रित शैलियाँ भी। ये भेद स्वयं में एक अध्ययन हैं, फिर भी सब उन्हीं अंतर्निहित सिद्धांतों से लेते हैं — रूप की भव्य विविधता में अभिव्यक्त एक संकल्पनात्मक एकता।

एक कारण है कि मंदिर इस सभ्यता की सर्वाधिक टिकाऊ रचनाओं में सिद्ध हुआ है। युगों तक टिकने के लिए पत्थर में बना, अपने ही रूप में उनकी विश्व-दृष्टि तथा विज्ञानों को कूटबद्ध किए हुए जिन्होंने उसे उठाया, कोई महान मंदिर अपना ज्ञान ऐसी शताब्दियों के पार वहन कर सकता है जिनमें ग्रंथ लुप्त होते हैं, भाषाएँ बदलती हैं, और परम्पराएँ टूटती हैं — पत्थर में लिखा एक संदेश, ऐसे भविष्य के लिए जो पुस्तकें पढ़ना भूल चुका हो। खंडित होकर भी, आधा-समझा जाकर भी, वह इसका साक्षी बना रहता है कि उसके निर्माता क्या जानते और किसे मूल्य देते थे। यही टिकाऊपन ठीक वह कारण है जिससे सभ्यता की विरासत पुनःप्राप्त करने के किसी भी प्रयास में मंदिर इतने केंद्रीय हैं : वे उन सर्वाधिक चिरस्थायी अभिलेखों में हैं जो उसने छोड़े।

मंदिर-स्थापत्य हमें मंदिर के व्यक्तिगत विज्ञानों की देहरी तक भी ले आता है, क्योंकि इस भवन ने एक साथ ज्ञान के अनेक रूपों को एकीकृत किया — गणितीय, ध्वनिक, खगोलीय, पारिस्थितिक — और प्रत्येक अपनी पृथक् परीक्षा का अधिकारी है। आगामी अध्याय इन्हें क्रमशः लेते हैं, और आरम्भ अनुपात तथा माप के उस गणित से जिससे सम्पूर्ण भवन को क्रम दिया गया।



और जानें · *मंदिर-स्थापत्य — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch34

अध्याय पैंतीस: मंदिर-गणित

किसी महान मंदिर के सौंदर्य के नीचे गणित स्थित है — वह ठीक-ठीक अनुपात, माप और अनुपात-सम्बन्ध जिससे उसका प्रत्येक अंग प्रत्येक दूसरे अंग से और सम्पूर्ण से सम्बद्ध किया गया। मंदिर स्मारकीय परिमाण पर प्रयुक्त ज्यामिति है, और उसके गणित का अध्ययन ऐसी सभ्यता को प्रकट करता है जिसने किसी निर्मित संरचना में सामंजस्य, स्थिरता और अर्थ उत्पन्न करने की अनुपात की शक्ति को समझा और उसे व्यावहारिक प्रयोग में लाया।

किसी मंदिर का अभिकल्प मापन तथा मापांक-अनुपात की प्रणालियों से आगे बढ़ता था। एक मूल इकाई स्थापित की जाती थी, जो प्रायः सिद्धांततः केंद्रीय प्रतिमा अथवा गर्भगृह से व्युत्पन्न होती थी, और तब सम्पूर्ण संरचना के आयाम उस इकाई के क्रमबद्ध गुणकों तथा अनुपातों के रूप में उत्पन्न किए जाते थे, जिससे सम्पूर्ण भवन एक सुसंगत गणितीय तर्क से बँध जाता था। इस मापांक-आधारित दृष्टिकोण ने यह सुनिश्चित किया कि अंग सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध में खड़े हों, और उसने किसी जटिल संरचना को साझा नियमों से कार्य करने वाले निर्माताओं द्वारा परिशुद्धता से कल्पित, सम्प्रेषित और सम्पादित किए जाने योग्य बनाया।

इस गणित ने सौंदर्य से अधिक की सेवा की; उसने स्थिरता और अर्थ की एक साथ सेवा की। शुद्ध अनुपात ने भार का वितरण किया और उन विशाल प्रस्तर-संरचनाओं को शताब्दियों तक टिकने की सामर्थ्य दी; शुद्ध अनुपात ही मंदिर को उसका सामंजस्य और पवित्र के आवास के रूप में उसकी उपयुक्तता देता भी माना गया। मंदिर में गणित के व्यावहारिक और प्रतीकात्मक आयाम संगलित हो गए — वही अनुपात जो भवन को खड़ा रखते थे, उन्हें ही किसी गहनतर क्रम के साथ उसे लयबद्ध करते हुए अनुभव किया गया। यह इस परम्परा का लाक्षणिक है, जिसमें उपयोगी और अर्थपूर्ण विरले ही पृथक् किए गए।

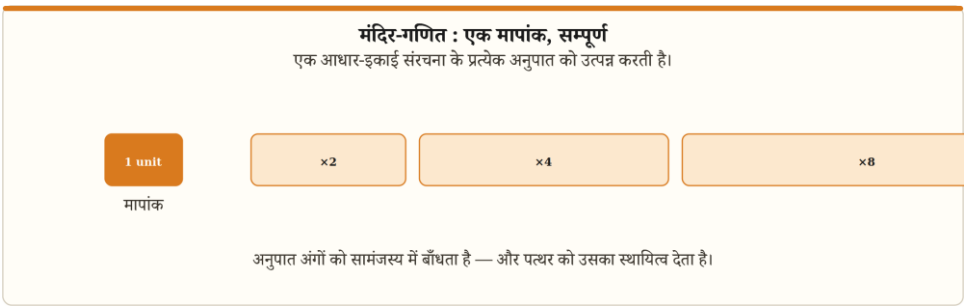

चित्र 35.1 — मंदिर-गणित : एक मापांक से उत्पन्न सम्पूर्ण।

यहाँ संयम का एक शब्द उचित है, क्योंकि मंदिर-गणित ऐसा विषय है जो अतिरंजित दावों को आकृष्ट करता है। कभी-कभी ऐसे अभिकथन मिलते हैं कि मंदिर के आयाम गुप्त रूप से परिशुद्ध सार्वभौम स्थिरांक अथवा उन्नत वैज्ञानिक मान कूटबद्ध करते हैं। ऐसे दावों के प्रति सावधानी बरतनी चाहिए और उन्हें प्रमाण के सम्मुख प्रसंग-दर-प्रसंग परखना चाहिए, क्योंकि किसी भी जटिल संरचना में यदि पर्याप्त प्रयास से खोजा जाए तो आभासी संख्यात्मक संयोग सहज ही मिल जाते हैं। यथार्थ और भली प्रकार प्रमाणित उपलब्धि — अनुपात तथा मापांक-माप की एक परिष्कृत प्रणाली, जो स्मारकीय निर्माण में कौशल से प्रयुक्त हुई — को किसी अलंकरण की आवश्यकता नहीं और वह अपने आप में सुरक्षित रूप से खड़ी है।

मंदिर-अभिकल्प की अनुपात-प्रणालियाँ वास्तविक परिशुद्धता से विकसित की गई थीं। मापन की एक आधारभूत इकाई — जो प्रायः, सिद्धांततः, केंद्रीय प्रतिमा अथवा गर्भगृह के किसी आयाम से व्युत्पन्न होती थी — सम्पूर्ण का शासन करती थी, जिससे संरचना का प्रत्येक भाग प्रत्येक दूसरे भाग के साथ और सम्पूर्ण भवन के साथ एक निश्चित संख्यात्मक सम्बन्ध में खड़ा रहता था। भूमि एक क्रमबद्ध जाली पर बिछाई जाती थी, और उत्थान विहित अनुपातों के अनुसार उठता था, जिससे पूर्ण हुआ मंदिर एक ही गणितीय तर्क से बँधा रहता था जिसे नेत्र सामंजस्य के रूप में पढ़ता है और जिस पर संरचना अपने टिकाऊपन के लिए निर्भर करती है। कि यह कड़ी ज्यामिति एक साथ सौंदर्य और स्थायित्व — दोनों की सेवा करती थी, यह ऐसी परम्परा का लक्षण है जिसने उपयोगी को अर्थपूर्ण से विरले ही अलग किया।

इस प्रकार मंदिर का गणित उस विषय का एक और उदाहरण है जो इस सम्पूर्ण खण्ड में चलता रहा है : अभ्यास में, किसी अप्रत्याशित स्थान में अंतर्निहित ज्ञान, जो एक साथ निर्माता तथा उपासक की सेवा करता है। जिस अनुपात ने मंदिर के रूप को गढ़ा, उससे हम एक और

आयाम की ओर मुड़ते हैं जिस पर उसके अभिकल्पकों ने स्पष्ट सावधानी से ध्यान दिया — उसके स्थानों के भीतर ध्वनि का आचरण।



और जानें · *मंदिर-गणित — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch35

अध्याय छत्तीस:
मंदिर-ध्वनिकी

इस परम्परा में ध्वनि के केंद्रीय स्थान को देखते हुए — वेद ध्वनि के रूप में, मंत्र, और ध्वन्यात्मक का वह गहन दर्शन जिसकी परीक्षा हमने पहले की — यह चकित करने वाला होता यदि मंदिर, अर्थात् पवित्र आचरण का गृह, अपने स्थानों के भीतर ध्वनि के आचरण पर ध्यान न देता। और उसने वस्तुतः दिया। मंदिर की ध्वनिकी उसके अभिकल्प का एक यथार्थ और रोचक आयाम बनाती है, यद्यपि ऐसा आयाम जिसका वर्णन सावधानी से किया जाना चाहिए, यह पृथक् करते हुए कि क्या भली प्रकार प्रमाणित है और क्या अधिक शिथिल रूप से दावा किया गया है।

मंदिर मंत्रोच्चार, आवृत्ति, संगीत और घंटानाद के स्थान थे, और उनके विशाल मंडप ऐसे परिवेश देते थे जिनमें पवित्र ध्वनि एकत्र हो सकती थी, गूँज सकती थी और दूर तक जा सकती थी। ध्वनित शब्द और उसे धारण करने वाले स्थान के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से चिंता का विषय था, क्योंकि मंदिर को प्रतिमा तथा प्रकाश से उतना ही भरा जाना था जितना ध्वनि से। कि निर्माताओं ने इस पर ध्यान दिया कि उनके स्थान कैसे सुनाई देंगे, और उन्हें पवित्र श्रवण के परिवेश के रूप में गढ़ा, यह मंदिर के मंत्रोच्चार तथा संगीत के स्थान के रूप में स्वयं कार्य से ही प्रकट है।

कुछ मंदिरों से सम्बद्ध सर्वाधिक उल्लेखनीय ध्वनिक विशेषताओं में प्रसिद्ध संगीत-स्तम्भ हैं — पतले प्रस्तर-स्तम्भ जो आघात पर पृथक् संगीत-स्वर उत्पन्न करते हैं। ये विद्यमान हैं और इनका अनुभव किया जा सकता है, और वे उन शिल्पियों के कौशल का वस्तुतः चकित करने वाला प्रमाण हैं जिन्होंने पत्थर को ऐसी परिशुद्धता से गढ़ा कि उसे स्वर में बाँधा जा सके। इस प्रकार की विशेषताएँ सामग्री पर प्रभुत्व और ध्वनि के प्रति ऐसी सजगता प्रकट करती हैं जो यथार्थ प्रशंसा की माँग करती है, और वे इस परम्परा के स्थापत्य के रत्नों में हैं।

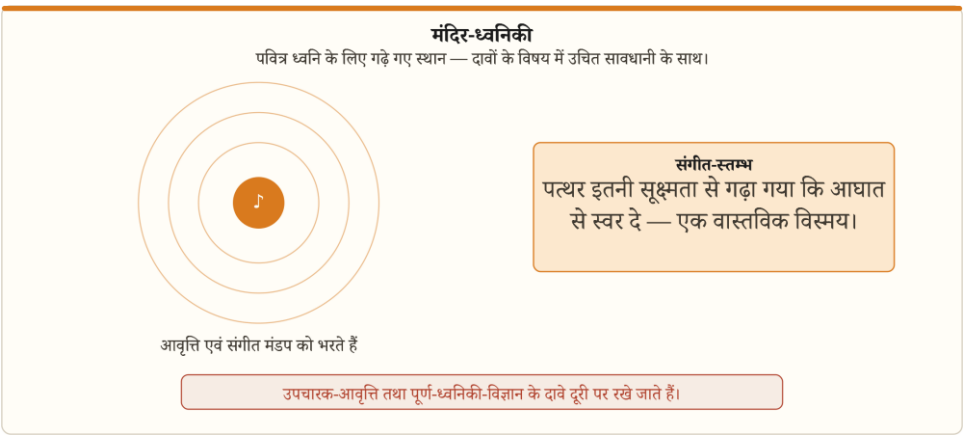

चित्र 36.1 — मंदिर-ध्वनिकी : पवित्र ध्वनि, दावों के विषय में उचित सावधानी के साथ।

यहाँ भी, अन्यत्र की भाँति, ईमानदारी की अपेक्षा है कि हम सुस्थापित को अतिरंजित से पृथक् करें। कि मंदिर पवित्र ध्वनि के लिए अनुनादी स्थानों के रूप में अभिकल्पित थे, और कि कुछ में असाधारण ध्वनिक विशेषताएँ हैं, यह स्पष्ट है। जो दावे इससे बहुत आगे जाते हैं — कि मंदिर-ध्वनिकी परिशुद्ध आरोग्यकारी आवृत्तियों के लिए अभियांत्रित थी, अथवा उसने आधुनिक प्रकार का कोई सम्पूर्ण और सुविचारित ध्वनिक विज्ञान मूर्त किया — वे भिन्न विषय हैं, और सुविचारित ध्वनिक अभिकल्प तथा परवर्ती आरोपण के बीच की सीमा प्रायः अनिश्चित है और विद्वानों में विवादित। प्रज्ञ मार्ग यह है कि यथार्थ और उल्लेखनीय उपलब्धि का उत्सव मनाया जाए और बड़े दावों को प्रमाण की प्रतीक्षा में हल्के हाथ से थामा जाए।

प्रसिद्ध संगीत-स्तम्भों से आगे, ध्वनि के प्रति मंदिर की चिंता स्वयं उसके स्थानों में दृश्य है। गर्भगृह के सम्मुख स्थित स्तम्भ-युक्त मंडप पाठ, संगीत और नृत्य के परिवेश के रूप में कार्य करते थे, और उनके अनुपात यह गढ़ते थे कि पवित्र ध्वनि कैसे एकत्र हो और कैसे फैले। कि निर्माताओं ने ध्वनि के व्यवहार पर ध्यान दिया, यह मंदिर के जप तथा प्रस्तुति के स्थल के रूप में प्रकार्य से प्रकट है; विशेष ध्वनिक प्रभाव कहाँ तक सुविचारित रूप से अभियांत्रित थे, और कहाँ तक आगे चलकर प्रशंसा के साथ खोजे गए — यह प्रायः निर्धारित करना कठिन है, और ईमानदार मार्ग यही है कि वास्तविक उपलब्धि का उत्सव मनाया जाए और बड़े दावों को हल्के हाथ से थामा जाए। जो निर्विवाद है वह यह कि मंदिर पवित्र ध्वनि से भरे जाने के लिए बना था, और आंशिक रूप से उसी भराव को ध्यान में रखकर गढ़ा गया था।

मंदिर का ध्वनि पर ध्यान अंततः स्थापत्य में इस परम्परा के ध्वन्यात्मक के साथ गहन संलग्न होने का मूर्तिकरण है — वही ध्वनि-श्रद्धा जिसने वेद को गढ़ा, पत्थर और स्थान में रूप पाती हुई। मंदिर के ध्वनि से सम्बन्ध से हम उसके आकाश से सम्बन्ध की ओर मुड़ते हैं, और उसके अभिविन्यास तथा संरेखण में कूटबद्ध खगोलीय ज्ञान के प्रमाण की ओर।



और जानें · *मंदिर-ध्वनिकी — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch36

अध्याय सैंतीस:
मंदिर-खगोल

जिस खगोलीय ज्ञान का सर्वेक्षण हमने पूर्ववर्ती अध्याय में किया, वह ग्रंथों और गणना तक सीमित नहीं रहा; वह स्वयं मंदिर के पत्थर में लिखा गया, उसके दिशाओं के प्रति अभिविन्यास में और आकाश की गतियों के साथ उसके संरेखण में। मंदिर अपनी अनेक भूमिकाओं में वह स्थान भी था जहाँ आकाश का विज्ञान भवन-निर्माण की कला से मिला, और उसके खगोलीय आयाम का अध्ययन एक बार पुनः प्रकट करता है कि इस परम्परा ने अपने ज्ञान को चिरस्थायी भौतिक रूप में कैसे अंतर्निहित किया।

मंदिर लाक्षणिक रूप से मुख्य दिशाओं के प्रति सावधानी से अभिविन्यस्त किए जाते थे, उनके अक्ष पवित्र निर्माण के सिद्धांतों के अनुसार दिशा-सूचक से संरेखित। यह अभिविन्यास स्वयं खगोलीय तथा दिशा-सम्बन्धी ज्ञान का एक प्रयोग था, जो मंदिर को एक क्रमबद्ध ब्रह्मांड के भीतर स्थापित करता था और उपासक की गति को स्थान की संरचना के साथ संरेखित करता था। सच्ची दिशाओं का निर्धारण, और मंदिर की नींव का काल-निर्धारण, उसी आकाशीय ज्ञान-पिंड से लेते थे जो अनुष्ठान-पंचांग को शासित करता था।

कुछ मंदिरों की सर्वाधिक उल्लेखनीय खगोलीय विशेषताओं में वे संरेखण हैं जिनसे वर्ष के विशेष समयों पर सूर्य का प्रकाश केंद्रीय प्रतिमा पर पड़ता है अथवा अंतरतम गर्भगृह तक प्रवेश करता है। जहाँ ऐसे संरेखण भली प्रकार प्रलेखित हैं, वे पवित्र प्रयोजन से विवाहित खगोलीय परिशुद्धता का एक सुंदर प्रदर्शन हैं — भवन इस प्रकार अभिकल्पित कि स्वयं ब्रह्मांड, सूर्य की गति के माध्यम से, नियत क्षणों पर मंदिर के अनुष्ठानिक जीवन में भाग ले। ये विशेषताएँ मंदिर को सीधे पंचांग से और सौर वर्ष के महान मोड़-बिंदुओं से जोड़ती हैं।

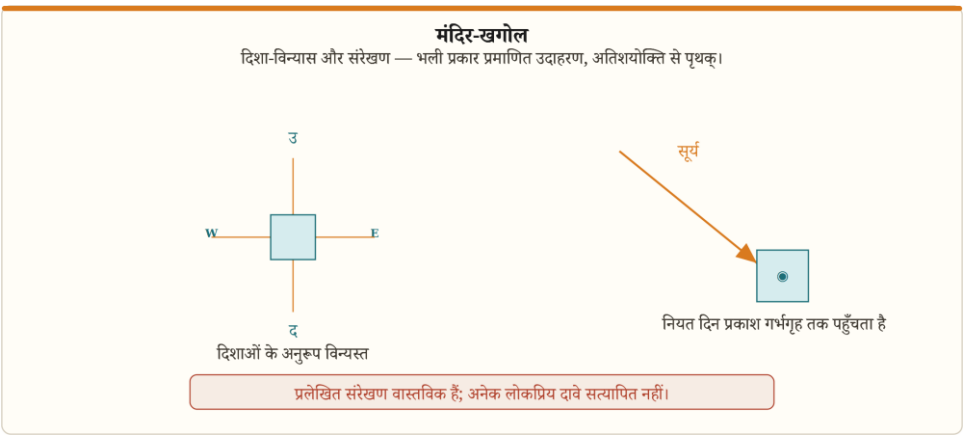

चित्र 37.1 — मंदिर-खगोल : दिशा-विन्यास और संरेखण, प्रमाणित उदाहरण।

ध्वनिकी की भाँति यहाँ भी विवेक आवश्यक है, क्योंकि मंदिर-खगोल ऐसा क्षेत्र है जहाँ यथार्थ, सत्यापित संरेखण उन लोकप्रिय दावों के साथ-साथ रहते हैं जो अतिरंजित अथवा असत्यापित हैं। प्रत्येक अभिकथित संरेखण सावधान परीक्षा में नहीं टिकता, और प्रत्येक विशेषता में आकाशीय महत्व खोजने का उत्साह प्रमाण से आगे निकल सकता है। सुदृढ़ दृष्टिकोण यह है कि भली प्रकार प्रमाणित प्रसंगों पर टिका जाए — सावधान अभिविन्यास, प्रलेखित सौर संरेखण — जो अपने आप में पर्याप्त प्रभावशाली हैं, और व्यापक अथवा असत्यापित दावों को उचित संयम से देखा जाए। यथार्थ उपलब्धि सुरक्षित है और उसे किसी स्फीति की आवश्यकता नहीं।

कोणार्क का सूर्य मंदिर, जो तेरहवीं शताब्दी में ओडिशा के तट पर उठाया गया, स्थापत्य के रूप में बना खगोल है। उसकी कल्पना स्वयं सूर्य के रथ के रूप में हुई, जिसे उकेरे गए अश्व खींचते हैं और जो बारह जोड़े महान पत्थर-चक्रों पर आरूढ़ है, और वह पूर्व की ओर विन्यस्त था जिससे उगते सूर्य का प्रकाश गर्भगृह की ओर पहुँचे। स्वयं चक्रों को प्रायः सूर्य-घड़ी के रूप में पढ़ा जाता है, और कहा जाता है कि उनके अरे तथा उनसे पड़ने वाली छायाएँ दिन के विभाजन अंकित करती हैं — यह पाठ व्यापक रूप से दोहराया जाता है, यद्यपि निर्माताओं के सटीक अभिप्राय पर विवाद है। सटीक प्रकार्य जो भी हो, संकल्पना अभ्रांत है : ऐसा मंदिर जिसे सूर्य के अपने वाहन की प्रतिमा के रूप में अभिकल्पित किया गया, आकाश की ओर विन्यस्त और ऐसे सौर प्रतीक-विधान से उकेरा गया जो सम्पूर्ण संरचना को काल और प्रकाश पर एक

ध्यान बना देता है। कि उसका मुख्य शिखर बहुत पहले गिर चुका है, यह उस खगोल की अनुभूति को और तीखा ही करता है जो कभी पत्थर में मूर्त था।

प्रसिद्ध सौर संरेखणों से आगे, आकाश के साथ मंदिर का सम्बन्ध नित्य विज्ञान का विषय था। किसी मंदिर के दिशा-विन्यास के लिए सच्ची दिशाओं का निर्धारण, और उसकी नींव रखने के लिए शुभ क्षणों का चयन, उसी खगोलीय तथा पंचांग-सम्बन्धी ज्ञान-पिंड से लेते थे जो अनुष्ठान-वर्ष का शासन करता था। मंदिर के उत्सव सूर्य और चंद्र की गतियों के अनुसार नियत होते थे, जिससे भवन और उसका जीवन आकाशीय पंचांग में बुने रहे, और सौर वर्ष के महान मोड़-बिंदुओं को उसके आचरणों में उनका उत्तर मिला। इस अर्थ में प्रत्येक मंदिर, न कि केवल कोई विरल खगोलीय आश्चर्य, आकाश के साथ स्वर-बद्ध था।

अपने खगोल में, जैसे अपने गणित और अपनी ध्वनिकी में, मंदिर ने इस सभ्यता के अमूर्त विज्ञानों को एकत्र किया और उन्हें पत्थर में स्थिर कर दिया, जिससे वह भवन ऐसा स्थान बन गया जहाँ संख्या, ध्वनि और आकाश का ज्ञान संरक्षित तथा दृश्यमान किया गया। किन्तु मंदिर केवल विज्ञान की कृति नहीं था; वह अपने समाज की केंद्रीय आर्थिक संस्थाओं में से एक भी था, और अब हम उसी सांसारिक तथा भली प्रकार प्रलेखित आयाम की ओर मुड़ते हैं।

और जानें · *मंदिर-खगोल — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch37

अध्याय अड़तीस:
मंदिर-अर्थव्यवस्था

अब हम मंदिर से विज्ञान की कृति के रूप में हटकर मंदिर की ओर अर्थतंत्र के इंजन के रूप में मुड़ते हैं — ऐसा आयाम जो उसके स्थापत्य से कम रोमानी है किन्तु कम महत्वपूर्ण नहीं, और जो असाधारण रूप से दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण पर टिका है। महान मंदिर इतिहास के लम्बे अंतरालों में अपने क्षेत्रों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्थाओं में थे, और उन्होंने पत्थर पर जो अभिलेख छोड़े वे हमें उनके आर्थिक जीवन का विस्तार से पुनर्निर्माण करने देते हैं। मंदिर को केवल उपासना-स्थल के रूप में समझना उसका आधा भाग चूक जाना है।

महान मंदिर पर्याप्त संसाधनों के स्वामी थे। उनके पास विस्तृत भूमि थी, उन्हें समृद्ध दान मिलते थे, और वे उनसे उत्पन्न उपज तथा राजस्व का प्रबंधन करते थे। वे बड़े नियोक्ता थे, जो लोगों की एक विशाल श्रेणी को सहारा देते थे — पुरोहित और विद्वान, किन्तु साथ ही संगीतकार, नर्तक, रसोइए, माली, लेखाकार, प्रहरी, और वे अनेक शिल्पी जिनके शिल्प को मंदिर टिकाए रखता था। मंदिर के चारों ओर विशिष्ट श्रम की एक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एकत्र होती थी, और वस्तुओं तथा सेवाओं की मंदिर की माँग उस नगर के वाणिज्यिक जीवन को अनुप्राणित करती थी जो उसके चारों ओर विकसित होता था।

मंदिर की आर्थिक भूमिका उन कार्यों तक विस्तृत थी जिन्हें हम अब वित्तीय कह सकते हैं। मंदिर जमा तथा दान प्राप्त करते थे और उनका काल-पर्यंत प्रबंधन करते थे, संसाधन उधार देते और निवेशित करते थे, और सम्पत्ति की सुरक्षा तथा प्रशासन के लिए विश्वसनीय संस्थाओं के रूप में कार्य करते थे। अभिलेख दानों की शर्तों को सावधान विवरण में दर्ज करते हैं — दी गई मूल राशि, अपेक्षित प्रतिफल, और वह प्रयोजन जिसकी सदा के लिए सेवा होनी थी — जो संसाधनों के दीर्घकालिक प्रबंधन की परिष्कृत व्यवस्थाओं को प्रकट करते हैं। मंदिर वस्तुतः अपने समुदाय के एक स्थिर आर्थिक लंगर के रूप में कार्य करता था, और वह यह भूमिका ठीक उस विश्वास तथा स्थायित्व के कारण निभा सकता था जिसे वह मूर्त करता था।

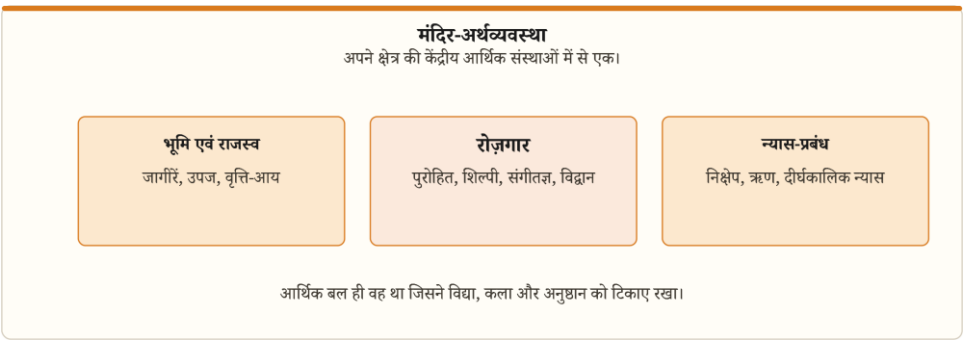

चित्र 38.1 — मंदिर-अर्थव्यवस्था : भूमि, रोज़गार और न्यास-प्रबंध।

यह आर्थिक आयाम यह समझने के लिए अनिवार्य है कि मंदिर ने शेष सब कुछ कैसे टिकाया जो उसने किया। विद्या, कला, अनुष्ठान, शिल्प — इन सबको सहारा चाहिए था, और वह मंदिर की आर्थिक सामर्थ्य ने दिया। मंदिर विश्वविद्यालय, कलाओं का केंद्र और समुदाय का स्थल इसलिए हो सका कि वह एक ऐसी आर्थिक संस्था भी था जो उन विद्वानों, कलाकारों तथा शिल्पियों को टिका सकती थी जिन्होंने उन भूमिकाओं को सम्भव बनाया। आध्यात्मिक और आर्थिक तनाव में नहीं, अपितु भागीदारी में थे; एक ने दूसरे को आधार दिया।

मंदिर का आर्थिक आयाम कहीं भी हम्पी से अधिक दृश्य नहीं, जो विजयनगर साम्राज्य की राजधानी थी, और जो पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में संसार के विशालतम और समृद्धतम नगरों में खड़ी थी। उसके महान मंदिरों के चारों ओर लम्बे स्तम्भ-युक्त बाज़ार चलते थे जहाँ, समकालीन यात्रियों के अनुसार, बहुमूल्य रत्न, कपास, मसाले और अश्व विस्मयकारी मात्रा में व्यापार किए जाते थे, जबकि जलसेतुओं, नहरों और सरोवरों का एक परिष्कृत जाल चट्टानी भूदृश्य के पार जल ले जाकर नगर तथा उसके खेतों को टिकाए रखता था। मंदिर और बाज़ार साथ-साथ खड़े थे, पवित्र और वाणिज्यिक एक ही नागर वस्त्र में गुँथे हुए, और जो खंडहर शेष हैं — उनमें पत्थर का रथ और विट्ठल मंदिर का प्रसिद्ध स्तम्भ-मंडप — वे आज भी अपने मंदिरों के चारों ओर संगठित एक विशाल अर्थव्यवस्था की रूपरेखा खींचते हैं। हम्पी एक सम्पूर्ण परित्यक्त नगर पर लिखा यह स्मरण है कि ये लोकातीत आश्रम नहीं, अपितु समृद्धि के इंजन और व्यापार के केंद्र थे।

महान मंदिरों का आर्थिक जीवन हमें उल्लेखनीय विस्तार से ज्ञात है, क्योंकि उसका इतना बड़ा भाग पत्थर में अभिलिखित हुआ। चोल-देश जैसे मंदिरों की भित्तियों को ढकने वाले

अभिलेख दानों को सटीक शर्तों के साथ दर्ज करते हैं — दी गई पूँजी, नियत भूमि, अपेक्षित प्रतिफल, और चिरकाल तक सेवा किया जाने वाला प्रयोजन, चाहे वह किसी दीपक का रखरखाव हो, विद्वानों का भोजन, अथवा किसी संगीतज्ञ का वेतन। इन अभिलेखों से इतिहासकारों ने अत्यंत परिष्कृत एक अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण किया है, जिसमें मंदिर संसाधन एकत्र करता था, विशेषज्ञों की एक विशाल शृंखला को नियुक्त करता था, भूमि तथा पशुधन का प्रबंध करता था, और अपनी सम्पत्ति समुदाय में पुनर्वितरित करता था। मंदिर वस्तुतः क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था की एक प्रमुख संस्था था, और उसके लेखे वहाँ उकेरे जाते थे जहाँ सब उन्हें पढ़ सकें।

मंदिर का आर्थिक जीवन इस त्रयी की दृष्टि के लिए प्रत्यक्ष प्रासंगिकता का पाठ वहन करता है। जो भी संस्था ज्ञान को एकत्र, संरक्षित और संचरित करने की आशा रखती है, और अभ्यास के समुदायों को टिकाना चाहती है, उसे आर्थिक रूप से व्यवहार्य होना होगा, उन लोगों को सहारा देने में समर्थ जो उसका कार्य करते हैं। मंदिर ठीक इसी का एक ऐतिहासिक प्रतिमान प्रस्तुत करता है — ज्ञान तथा संस्कृति वहन करने वाली ऐसी संस्था जो एक टिकाऊ आर्थिक आधार पर बनी हो। मंदिर के अर्थतंत्र से हम शासन में उसकी भूमिका की ओर मुड़ते हैं, जो उन सांसारिक कार्यों में से एक और है जिनके माध्यम से उसने अपने समाज के जीवन को संगठित किया।



और जानें · *मंदिर-अर्थव्यवस्था — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch38

अध्याय उनतालीस: मंदिर-शासन

मंदिर केवल दिव्य का गृह, विद्या का केंद्र और आर्थिक संस्था नहीं था; वह अनेक कालों और स्थानों में शासन तथा नागरिक संगठन का केंद्र भी था। मंदिर के चारों ओर और उसके भीतर वे सभाएँ तथा समितियाँ एकत्र होती थीं जिनके माध्यम से समुदाय अपने व्यापारों का प्रबंधन करते थे, और अभिलेखीय अभिलेख इस नागरिक जीवन के परिष्कार का उल्लेखनीय प्रमाण सुरक्षित रखते हैं। मंदिर-शासन का अध्ययन करना इस परम्परा की अपनी संस्थाओं में सामूहिक आत्म-संगठन का एक समृद्ध आचरण खोजना है।

मंदिरों का प्रबंधन संगठित निकायों द्वारा होता था — वे समितियाँ तथा सभाएँ जिन्हें उनके पर्याप्त संसाधनों का प्रशासन, उनके अनेक कार्यों का पर्यवेक्षण, और उन विवादों का निपटारा सौंपा गया था जो अनिवार्यतः उठते थे। किसी महान मंदिर का प्रबंधन एक पर्याप्त बड़ा उपक्रम था, जिसमें भूमि, श्रम, राजस्व, अनुष्ठान और दान का समन्वय आवश्यक था, और वह किसी एक हाथ के स्थान पर सामूहिक निर्णय-निर्माण की संरचित संस्थाओं के माध्यम से सम्पन्न होता था। ये निकाय अभिलेख रखते थे, प्रक्रियाओं का पालन करते थे, और ऐसी रीतियों से उत्तरदायी थे जिन्हें शेष बचे अभिलेख हमें आंशिक रूप से पुनर्रचित करने देते हैं।

उल्लेखनीय रूप से, मंदिरों से सम्बद्ध नागरिक जीवन स्थानीय स्वशासन की विस्तृत तथा औपचारिक प्रणालियों तक फैला था। अभिलेख ग्राम-सभाओं के ऐसे वृत्तांत सुरक्षित रखते हैं जिनमें सदस्यों के चयन की विस्तृत प्रक्रियाएँ, उत्तरदायित्वों का समितियों में विभाजन, और स्थानीय प्रशासन का संचालन वर्णित है — इन संस्थाओं में और उनके चारों ओर कार्यरत सहभागी स्थानीय शासन की एक विकसित परम्परा का प्रमाण। ऐसे अभिलेख प्रकट करते हैं कि मंदिर प्रायः यथार्थ परिष्कार के नागरिक क्रम का परिवेश तथा लंगर था, जिसमें समुदाय अपने साझा जीवन के बड़े भाग का स्वयं शासन करते थे।

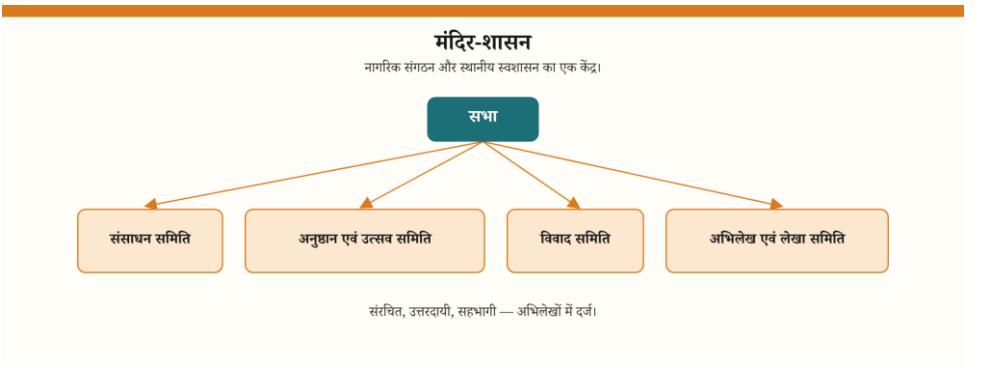

चित्र 39.1 — मंदिर-शासन : सभाएँ और समितियाँ।

इस शासक भूमिका में मंदिर एक बार पुनः अभिसरण के बिंदु के रूप में कार्य करता था — ऐसा स्थान जहाँ सामुदायिक जीवन के धार्मिक, आर्थिक और नागरिक आयाम मिलते और समन्वित होते थे। वही संस्था जो देवता को आवास देती थी, युवाओं को पढ़ाती थी और अर्थतंत्र को टिकाती थी, वह ढाँचा भी देती थी जिसके भीतर समुदाय स्वयं को संगठित और शासित करता था। यह अभिसरण मंदिर का बार-बार लौटने वाला लक्षण है, और इस सभ्यता के जीवन के लिए उसकी असाधारण केंद्रीयता का स्रोत।

श्रीरंगम का रंगनाथस्वामी मंदिर मंदिर को एक सम्पूर्ण क्रमबद्ध संसार के रूप में दिखाता है। कहीं भी विद्यमान विशालतम क्रियाशील मंदिर-परिसरों में से एक, वह सात संकेंद्रित प्राचीरों — प्राकारों — की एक शृंखला से घिरा है, जो गर्भगृह को चौड़े होते घेरों में वलयित करती हैं — और उन बाह्यतम प्राचीरों के भीतर मात्र कोई देवालय नहीं, अपितु एक सम्पूर्ण मंदिर-नगर है, जिसमें गलियाँ, आवास, बाज़ार और मंदिर के क्रम में जीती हुई एक जनसंख्या है। ऐसे स्थान का प्रशासन स्वयं में एक पर्याप्त नागरिक उद्यम था, जो एक ऐसे परिसर के पार भूमि, अनुष्ठान, श्रम और विवाद के समन्वय की माँग करता था जो वस्तुतः अपने देवता के चारों ओर संगठित एक नगर था। श्रीरंगम विशालतम पैमाने पर उसे दृश्य बनाता है जिसका तर्क इस अध्याय ने रखा है : कि मंदिर केवल कोई पवित्र स्थल नहीं, अपितु ऐसा ढाँचा था जिसके भीतर एक सम्पूर्ण समुदाय अपने साझा जीवन का शासन और परिपोषण करता था।

इस नागरिक परिष्कार का सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रमाण चोल-देश के उत्तरमेरूर से प्राप्त अभिलेखों का एक समुच्चय है, जो स्थानीय सभा का संविधान असाधारण विस्तार से दर्ज करते हैं — उसके सदस्यों से अपेक्षित योग्यताएँ, सरोवरों, उद्यानों, न्याय और स्वर्ण के भार से

युक्त समितियों में उनका विभाजन, और पात्र उम्मीदवारों में से उन्हें चिट्ठी द्वारा चुनने की एक प्रक्रिया, उन्हें हटाने के प्रावधानों सहित जो अपने कर्तव्य में असफल रहें। सटीक कार्य-प्रणाली जो भी रही हो, ये अभिलेख मंदिर में और उसके चारों ओर संचालित सहभागी स्थानीय स्वशासन की एक विकसित परम्परा प्रकट करते हैं, लिखित नियमों, परिभाषित पदों और उत्तरदायित्व की प्रक्रियाओं के साथ। यह इस किसी भी मान्यता का एक उल्लेखनीय संशोधन है कि ऐसी संस्थाएँ कोई आधुनिक अथवा विदेशी आविष्कार थीं।

मंदिर का शासक कार्य उसका एक व्यापक संस्था के रूप में हमारा चित्र पूर्ण करता है — आध्यात्मिक, शैक्षिक, आर्थिक और नागरिक, सब एक साथ। किन्तु हमने अभी मंदिर की उसकी सर्वाधिक लाक्षणिक क्रिया में परीक्षा नहीं की, उस क्रिया में जिसके लिए उसका सम्पूर्ण स्थापत्य और विज्ञान अस्तित्व में थे : अनुष्ठान का सम्पादन, और रूपांतरकारी अनुभव का सुविचारित गढ़न। अब हम मंदिर के उसी सावधानी से अभियांत्रित आयाम की ओर मुड़ते हैं।

और जानें · *मंदिर-शासन — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch39

अध्याय चालीस:
मंदिर-अनुष्ठान अभियांत्रिकी

अब हम उस क्रिया पर आते हैं जिसके लिए मंदिर अस्तित्व में था और जिसकी ओर उसके शेष सब आयाम अंततः निर्दिष्ट थे : अनुष्ठान का सम्पादन। इस संदर्भ में "अभियांत्रिकी" शब्द विचित्र लग सकता है, किन्तु वह उपयुक्त है, क्योंकि मंदिर का अनुष्ठानिक जीवन एक अत्यंत व्यवस्थित तथा संहिताबद्ध अभिकल्प का उत्पाद था — प्रतिमा, ध्वनि, गति, प्रकाश, गंध और मुद्रा का एक सावधानी से संरचित संयोजन, जिसका आशय उपासक में अनुभव का एक विशेष गुण उत्पन्न करना था। मंदिर इस अर्थ में अनुभव को गढ़ने का एक अभिकल्पित उपकरण था, और उसका अनुष्ठानिक जीवन अत्यंत सुविचारित रूप से अभियांत्रित था।

मंदिर के अनुष्ठान विस्तृत विधान-ग्रंथों से शासित थे जो यथार्थता के साथ निर्धारित करते थे कि उपासना कैसे सम्पादित हो — सेवाओं का दैनिक चक्र, अर्पण और उनका क्रम, बोले जाने वाले शब्द, की जाने वाली मुद्राएँ, और वे महान उत्सव तथा शोभायात्राएँ जो वर्ष को विरामित करती थीं। कुछ भी संयोग अथवा इच्छा पर नहीं छोड़ा गया था; सम्पूर्ण अनुष्ठानिक जीवन एक संहिताबद्ध तथा संचरणीय प्रणाली थी, जिसे प्रशिक्षित आचार्यों द्वारा परिशुद्धता से पढ़ाया और सम्पादित किया जाता था। यह मंदिर का मूल संचालन था, और उसका अभिकल्प तथा अनुरक्षण उसी कठोरता से हुआ जितनी उसके स्थापत्य की।

इस आयाम को इतना महत्वपूर्ण जो बनाता है वह यह है कि मंदिर का अनुष्ठान रूपांतरण की सेवा में इन्द्रियों का एक व्यापक संयोजन था। स्थापत्य उपासक को उज्ज्वल, खुले संसार से भीतर की ओर, छोटे, अंधकारमय, शक्तिशाली गर्भगृह की ओर खींचता था। ध्वनि, मंत्रोच्चार तथा संगीत और घंटानाद में, उस स्थान को भर देती थी। प्रकाश और छाया, अग्नि और गंध, प्रतिमा और मुद्रा — सब अपनी भूमिका निभाते थे। सम्पूर्ण इस प्रकार अभिकल्पित था कि उपासक को एक संरचित अनुभव से होकर ले जाए — बोध और भाव का एक सुविचारित गढ़न, किसी उन्नत अवस्था की ओर। यही कारण है कि अभियांत्रिकी की भाषा उपयुक्त है : मंदिर अनुभव उत्पन्न करने के लिए बनाया गया था, और उसने वह अभिकल्प से किया।

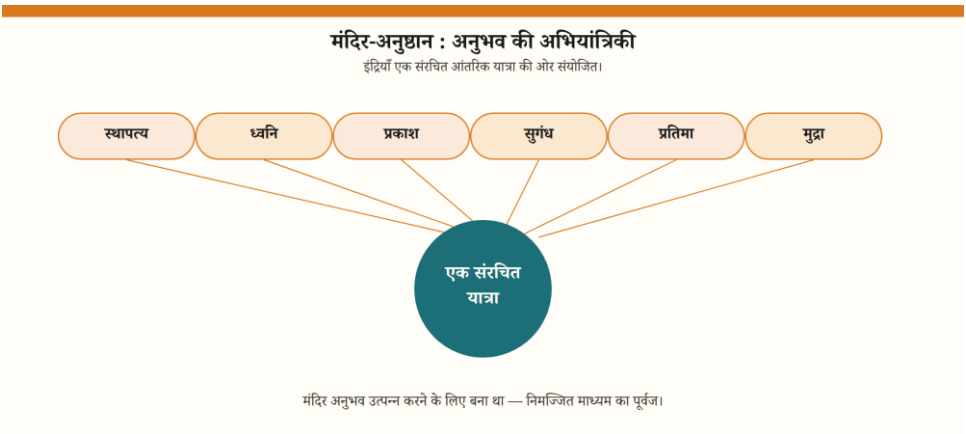

चित्र 40.1 — अनुष्ठान अनुभव की अभियांत्रिकी के रूप में : संयोजित इंद्रियाँ।

यहाँ यह परम्परा उस दृष्टि को सर्वाधिक प्रत्यक्ष रूप से स्पर्श करती है जिससे यह त्रयी अपना नाम लेती है और जिसकी ओर उसके परवर्ती खण्ड निर्माण करते हैं। क्योंकि यदि मंदिर इन्द्रियों के संयोजन के माध्यम से रूपांतरकारी अनुभव के सुविचारित गढ़न का उपकरण था, तो वह हमारे अपने युग की निमज्जित तथा अनुभवात्मक तकनीकों का प्रत्यक्ष पूर्वज है। किसी सम्पूर्ण, बहु-इन्द्रिय परिवेश के अभिकल्प की आकांक्षा जो किसी व्यक्ति को एक संरचित आंतरिक यात्रा से होकर ले जाए, प्राचीन है, और मंदिर उसका सर्वोच्च ऐतिहासिक साक्षात्कार है। इस प्रकाश में अनुभव के नए माध्यम उस कला की निरंतरता हैं जिसे इस परम्परा ने बहुत पहले पूर्णता तक पहुँचा दिया था।

मंदिर का अनुष्ठानिक जीवन अपने ही एक विस्तृत तकनीकी वाङ्मय से शासित था — आगम और सम्बद्ध विधि-ग्रंथ — जो सटीकता से विहित करते थे कि देवता की स्थापना और प्राण-प्रतिष्ठा कैसे हो, सेवाओं का दैनिक चक्र कैसे संचालित हो, और महान उत्सव कैसे खुलें। कुछ भी तात्कालिक सूझ पर नहीं छोड़ा गया : अर्पण का अनुक्रम, बोले जाने वाले शब्द, की जाने वाली मुद्राएँ, और स्वयं पूजा के समय — सब संहिताबद्ध और संचरित थे, और प्रशिक्षित पुरोहित उन्हें एक अनुशासन की परिशुद्धता से सम्पन्न करते थे। मंदिर का वर्ष अपने महान उत्सवों और शोभायात्राओं की ओर बढ़ता था, जिनमें देवता को जनों के बीच बाहर ले जाया जाता था, प्रतिमा, संगीत, प्रकाश और गति के एक समग्र संयोजन में — अभिकल्पित अनुभव, अपने सर्वाधिक सार्वजनिक और सर्वाधिक शक्तिशाली रूप में।

मंदिर के अनुष्ठान के हृदय में दर्शन का क्षण था — भीतरी गर्भगृह में देवता को देखना, और उसके द्वारा देखा जाना। मंदिर के अभिकल्प में सब कुछ इसी क्षण की ओर कार्य करता था : उज्ज्वल, खुले संसार से भीतर की ओर बढ़ती आत्मीयता के मंडपों से होते हुए उस छोटे, अंधकारमय, शक्तिपूर्ण प्रकोष्ठ तक की गति जहाँ प्रतिमा प्रतीक्षा करती थी; ध्वनि, गंध और ज्वाला का एकत्रीकरण; निकट पहुँचने का सम्पूर्ण नृत्य-विन्यास। यह सर्वाधिक सावधान अर्थ में अभियांत्रित एक अनुभव था, जिसका प्रयोजन उपासक के ध्यान को संकेंद्रित करना और साक्षात्कार के एक ही क्षण को पूर्णतम सम्भव अर्थ से आवेशित करना था।

इस पहचान को सावधानी और श्रद्धा के साथ धारण करना होगा, क्योंकि मंदिर की अनुष्ठान-अभियांत्रिकी ने पवित्र की सेवा की, और उसकी कला की कोई भी आधुनिक निरंतरता उस प्रयोजन-गहराई के प्रति उत्तरदायित्व वहन करती है। बिंदु यह नहीं कि तकनीक मंदिर की प्रतिकृति बना सकती है — वह न बना सकती है न बनाने का दुस्साहस करना चाहिए — अपितु यह कि अभिकल्पित अनुभव पर इस परम्परा का प्रभुत्व उनके लिए एक गहन संसाधन तथा पूर्व-उदाहरण है जो नए साधनों से अर्थपूर्ण अनुभव रचना चाहें। मंदिर के पवित्र अनुभव के संयोजन से हम उस जीवित पर्यावरण के साथ उसके सम्बन्ध की ओर मुड़ते हैं जिसने उसे घेरा और टिकाया।

और जानें · *मंदिर-अनुष्ठान अभियांत्रिकी — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*
divyadrishti.io/explore/v1/ch40

अध्याय इकतालीस: मंदिर-पारिस्थितिकी

मंदिर प्राकृतिक जगत् से पृथक् नहीं खड़ा था, अपितु उसमें बुना हुआ था, और उसका अभिकल्प उस पारिस्थितिक संवेदनशीलता को प्रतिबिम्बित करता था जिसकी परीक्षा हमने पूर्ववर्ती अध्याय में की। अपने स्थान-चयन में, अपनी जल-प्रणालियों में, अपने उद्यानों तथा उपवनों में मंदिर उस जीवित पर्यावरण से एकीकृत था जिसने उसे घेरा और टिकाया, और वह प्रायः अपने क्षेत्र के पारिस्थितिक तथा जल-वैज्ञानिक जीवन में एक बिंदु के रूप में कार्य करता था। मंदिर को समग्र रूप में देखने के लिए हमें उसे उसके भू-दृश्य में देखना होगा।

इन पारिस्थितिक विशेषताओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मंदिर-तालाब था — वह विशाल सोपान-युक्त जलाशय जो इतने अधिक मंदिरों से सम्बद्ध है। ये तालाब अनुष्ठानिक स्नान-स्थलों से कहीं अधिक थे; वे जल-प्रबंधन की कृतियाँ थीं जो वर्षा-जल एकत्र और संचित करती थीं, भूजल के पुनर्भरण को सहारा देती थीं, और ऋतुओं के चक्रों में मंदिर तथा समुदाय की जल-आवश्यकताओं की सेवा करती थीं। मानसून और शुष्क ऋतु की भूमि में ऐसे जलाशय अनिवार्य अवसंरचना थे, और मंदिर ने उनका अनुरक्षण करते हुए अपने क्षेत्र की जल-सुरक्षा में एक यथार्थ भूमिका निभाई।

मंदिर पवित्र वृक्षों, उद्यानों और उपवनों से भी सम्बद्ध थे, जो प्राकृतिक जगत् के प्रति इस परम्परा की श्रद्धा को स्वयं मंदिर के परिसर तक विस्तृत करते थे। विशेष वृक्ष सम्मानित और संरक्षित होते थे; उद्यान उपासना के पुष्प तथा सामग्री देते थे; और मंदिर के परिवेश से जुड़ी पवित्रता उनके भीतर के जीवन को एक मात्रा में संरक्षण देती थी। इस प्रकार मंदिर उस व्यापक परम्परा में सहभागी था, जिसकी परीक्षा पहले हुई, जो पारिस्थितिक संरक्षण को पवित्र आचरण के भीतर कूटबद्ध करती थी, जिससे श्रद्धा संरक्षण में अनूदित हो जाती थी।



चित्र 41.1 — मंदिर-पारिस्थितिकी : सरोवर, देव-वन और जल-प्रणालियाँ।

अपने पारिस्थितिक आयाम में मंदिर एक बार पुनः उस एकीकरण का उदाहरण है जो उसका परिभाषक लक्षण है। वही संस्था जिसने विज्ञानों को एकत्र किया, अर्थतंत्र को टिकाया और समुदाय को संगठित किया, वह अपने क्षेत्र की जल-प्रणालियों तथा जीवित पर्यावरण में भी अंतर्निहित थी, उनके अनुरक्षण में उतनी ही स्वाभाविकता से योगदान करती हुई जितनी वह जनों के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन में करती थी। मंदिर अपने भू-दृश्य पर कोई अतिक्रमण नहीं, अपितु उसमें एक सहभागी था, उस पारिस्थितिक क्रम में बँधा हुआ जिसमें वह बसता था।

मंदिर-सरोवर वास्तविक जल-अभियांत्रिकी के कर्म थे। महान सोपानित जलाशय, जो प्रायः नालियों की सावधान प्रणालियों से भरे जाते थे, वर्षा-जल एकत्र करते थे, शुष्क मासों तक जल संचित रखते थे, और उस भूजल के पुनर्भरण में सहायक होते थे जिस पर कुएँ तथा खेत निर्भर थे। अनेक क्षेत्रों में मंदिर सरोवरों और नालियों के बड़े जालों के भीतर खड़े थे जो आसपास की भूमि की सिंचाई करते थे, और इन जल-कर्मों का रखरखाव मंदिर के स्वीकृत उत्तरदायित्वों में था, जिसके लिए उसके दानों में व्यवस्था होती थी। मंदिर की देखभाल करना, आंशिक रूप से, एक सम्पूर्ण क्षेत्र की जल-सुरक्षा की देखभाल करना था — यह स्मरण कि मंदिर की पवित्रता और जीवन के प्रति उसकी व्यावहारिक सेवा कभी पृथक् वस्तुएँ नहीं थीं।

अपनी पारिस्थितिकी के साथ अब हमने मंदिर का उसके समस्त आयामों में सर्वेक्षण कर लिया है — विश्वविद्यालय के रूप में, स्थापत्य के रूप में, गणित, ध्वनिकी तथा खगोल के रूप में, अर्थतंत्र, शासन, अनुष्ठान और जीवित पर्यावरण के रूप में। जो शेष है वह इन अनेक मुखों को एक ही पहचान में समेटना है, और मंदिर को उस एकीकृत समग्र के रूप में देखना जो वह

था। वह संश्लेषण, और वह दृष्टि जो वह भविष्य की ओर खोलता है, इस भाग का समापन करने वाले अध्याय का विषय है।



और जानें · *मंदिर-पारिस्थितिकी — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch41

अध्याय बयालीस:
मंदिर : समुदाय का मंच

हमने मंदिर की मुख-दर-मुख परीक्षा की है — विद्या के स्थान के रूप में, स्थापत्य तथा विज्ञान की कृति के रूप में, आर्थिक इंजन के रूप में, शासन के केंद्र के रूप में, अनुष्ठान के उपकरण के रूप में, और पारिस्थितिकी के बिंदु के रूप में। शेष है उसे समग्र रूप में देखना, क्योंकि मंदिर का सच्चा महत्व इनमें से किसी एक भूमिका में नहीं, अपितु उनके एकीकरण में निहित है। वह महान अंतर्दृष्टि जिसकी ओर यह सम्पूर्ण भाग निर्माण करता रहा है, यह है कि मंदिर इस सभ्यता का एकीकृत करने वाला मंच था — वह एक संस्था जिसमें सभ्यतागत संरचना के सब स्तर मिलते, एक-दूसरे को सुदृढ़ करते और एक साथ जीवित हो उठते थे।

विचार कीजिए कि इसका अर्थ क्या है। मंदिर में इस सभ्यता की विश्व-दृष्टि पत्थर में दृश्यमान की गई; उसका ज्ञान-कोष पढ़ाया और संरक्षित हुआ; उसकी संचरण-संस्थाएँ एकत्र हुईं; उसके देह-धारण के आचरण अभिनीत हुए; उसकी भौतिक संस्कृति ने अपना उच्चतम रूप प्राप्त किया; और उत्सव, प्रतीक तथा समुदाय का उसका संयोजी ऊतक एक साथ बुना गया। मंदिर वह स्थान था जहाँ इस सभ्यता की सम्पूर्ण संरचना एक ही कार्यशील संस्था में अभिसरित हुई — आध्यात्मिक, शैक्षिक, आर्थिक, नागरिक, कलात्मक और पारिस्थितिक, सब एक साथ। वह शब्दशः वही मंच था जिस पर समुदाय का जीवन एकीकृत और टिकाया गया।

यही एकीकरण मंदिर को उसकी शक्ति देता था, और परवर्ती व्यवधान के अंतर्गत उसकी हानि ने ठीक इसी कारण इतनी व्यापक क्षति की। जब कोई संस्था किसी समुदाय की विद्या, अर्थतंत्र, शासन, कला और पवित्र जीवन को एक साथ बाँधती है, तब उसका दुर्बल होना इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में एक साथ अनुभव होता है। मंदिर को क्षति पहुँचाना किसी एक वस्तु को नहीं, अपितु अनेक को क्षति पहुँचाना था, क्योंकि वह वही बिंदु था जहाँ अनेक वस्तुएँ जुड़ी थीं। जिस केंद्रीयता ने मंदिर को इतना अनिवार्य बनाया, उसी ने उसके व्यवधान को इतना महँगा बनाया।



चित्र 42.1 — मंदिर सभ्यता के एकीकृत करने वाले मंच के रूप में।

और यहाँ, इस भाग के समापन पर, वह दृष्टि पूर्ण रूप से सामने आती है जिससे यह त्रयी अपना नाम लेती है। यदि मंदिर कभी इस सभ्यता का एकीकृत करने वाला मंच था — वह स्थान जहाँ ज्ञान, अनुभव, अर्थतंत्र और समुदाय एक जीवित समग्र में बँधे थे — तो हमारे अपने युग के लिए महान प्रश्न यह है कि क्या ऐसे किसी एकीकृत करने वाले मंच की पुनर्कल्पना और नवीनीकरण किया जा सकता है, उस सब पर आधारित जो नया ज्ञान और नई तकनीक अब सम्भव बनाते हैं। यही दिव्य दृष्टि की अनुप्राणक धारणा है : मंदिर का स्थान लेना नहीं, अपितु उससे सीखना कि मंदिर क्या था, और किसी नए युग के लिए ऐसी संस्थाएँ बनाना जो एक बार पुनः ज्ञान, अनुभव तथा समुदाय को एक जीवित और एकीकृत समग्र में एकत्र करें।

समग्र रूप में देखा जाए तो मंदिर पारम्परिक समुदाय का प्रचालन-तंत्र था — वह साझा मंच जिस पर उसका आध्यात्मिक, बौद्धिक, आर्थिक, नागरिक, कलात्मक और पारिस्थितिक जीवन — सब चलते थे, और जिसके माध्यम से वे एक ही क्रियाशील क्रम में समन्वित होते थे। यही एकीकृत करने वाली भूमिका, किसी एक प्रकार्य से कहीं अधिक, मंदिर को इतना केंद्रीय बनाती थी, और उसके विघटन को इतना महँगा; और सबसे बढ़कर यही वह भूमिका है जिससे दिव्य दृष्टि की दृष्टि सीखना चाहती है। लक्ष्य मंदिर की पुनरावृत्ति नहीं, उसका प्रतिस्थापन तो और भी नहीं, अपितु उस सिद्धांत को पकड़ना है जो उसमें मूर्त था — कि कोई सभ्यता तब सर्वाधिक स्वस्थ होती है जब उसका ज्ञान, उसका अनुभव और उसका समुदाय एक जीवित,

एकीकृत समग्र में एकत्र हों — और यह पूछना कि अपने ही युग के उपकरणों से ऐसा कोई एकीकृत करने वाला मंच नए सिरे से कैसे बनाया जा सकता है।

यही इस त्रयी में आगे आने वाले सब कुछ का सेतु है। आने वाला खण्ड उन तकनीकों का वर्णन करेगा जिनके माध्यम से ऐसा कोई एकीकृत करने वाला मंच बनाया जा सकता है — कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्रतिरूप, निमज्जित अनुभव, ज्ञान-ग्रिड। किन्तु इससे पूर्व कि हम इस परम्परा को एकत्र और संचरित करने के लिए कोई मंच बना सकें, हमें अंततः यह समझना होगा कि इस परम्परा ने स्वयं को कैसे संचरित किया — शिक्षण तथा आगे सौंपने की वे जीवित कलाएँ जिनके माध्यम से वह सब वहन हुआ जिसका हमने सर्वेक्षण किया। यही इस खण्ड के पाँचवें और अंतिम भाग का विषय है।



और जानें · *मंदिर : समुदाय का मंच — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch42

भाग चार · सारांश

मंदिर

आगे बढ़ने से पूर्व, इस भाग का सार।

मुख्य बिंदु

- मंदिर इस सभ्यता की एकीकृत संस्था थी — एक साथ विश्वविद्यालय, वेधशाला, कोष, कार्यशाला और सामुदायिक केंद्र।
- मंदिर-स्थापत्य ने गणित, अनुपात और ब्रह्मांड-दृष्टि को पत्थर में मूर्त किया।
- ध्वनिकी और खगोल संरचना में जोड़े गए नहीं, अपितु उसमें अभिकल्पित थे।
- मंदिर एक आर्थिक इंजन था जो शिल्पियों, संगीतकारों, विद्वानों और निर्धनों को पोषित करता था।
- उसकी शासन-व्यवस्था, अनुष्ठान-प्रणाली और पारिस्थितिकी एक परिष्कृत, आत्म-पोषी संस्थागत अभिकल्प दर्शाती है।
- मंदिर को केवल उपासना-स्थल पढ़ना उसके अधिकांश प्रयोजन की उपेक्षा करना है।
- साथ ही, प्रवेश और भागीदारी से जुड़ा बहिष्करण इस इतिहास का एक कठोर और अनदेखा न किया जाने योग्य पक्ष है।

चिंतन हेतु प्रश्न

- *आधुनिक जीवन में कौन-सी संस्था मंदिर की एकीकृत भूमिका का अंश भी निभाती है?*
- *आज मंदिर का कितना अर्थ पठनीय रह गया है, और उसे पुनः पढ़ने योग्य बनाने के लिए कौन-सी शब्दावली चाहिए?*

भाग पाँच

ज्ञान का संचरण

यह सम्पूर्ण ज्ञान नष्ट हो गया होता, यदि वे जीवित कलाएँ न होतीं जो इसे आगे ले गईं। संचरण इस खण्ड की धुरी रहा है; यहाँ हम उससे आमने-सामने मिलते हैं।

अध्याय तैंतालीस:

गुरु

संचरण के लिए इस परम्परा की प्रतिभा के ठीक हृदय में एक अकेली, अप्रतिस्थापनीय आकृति खड़ी है : गुरु, अर्थात् शिक्षक। हमने इस सम्पूर्ण खण्ड में तर्क दिया है कि कोई सभ्यता ज्ञान को आगे ले जाने की अपनी सामर्थ्य से जीती अथवा मरती है, और कि गहनतम ज्ञान ग्रंथों में नहीं, अपितु व्यक्तियों में जीवित रहता है। यह सत्य कहीं भी गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से अधिक सघन नहीं, जिसे परम्परा ने समस्त मानवीय बंधनों में सर्वाधिक पवित्र में गिना, और जो वह अनिवार्य इंजन था जिससे वह सब पीढ़ियों के पार सौंपा गया जिसका हमने सर्वेक्षण किया।

गुरु और शिष्य के बीच जो कुछ गया वह कभी मात्र सूचना नहीं था। तथ्य किसी भी पुस्तक से प्रतिलिपित किए जा सकते हैं; गुरु ने जो संचरित किया वह समझ, कौशल, चरित्र, और ज्ञान का वह मौन आयाम था जिसे कोई पाठ धारण नहीं कर सकता — वे असंख्य अनकहे विवेक-निर्णय, किसी अभ्यास का अनुभव, ध्यान का गुण, और स्वयं परम्परा की जीवित उपस्थिति। इस संचरण के लिए किसी लेन-देन की नहीं, अपितु एक सम्बन्ध की आवश्यकता थी, जो वर्षों तक टिका रहे, विश्वास, अनुशासन और श्रद्धा पर बना हो, और जिसमें शिष्य को केवल शिक्षित नहीं, अपितु एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में गढ़ा जाए। गुरु ने कोई विषय नहीं, अपितु एक आत्म दिया, जो परम्परा से गढ़ा गया और उसे आगे वहन करने योग्य था।

यही कारण है कि परम्परा ने शिक्षक को इतनी श्रद्धा से घेरा, और यही कारण है कि उसने शिक्षकों तथा शिष्यों की एक अखंडित शृंखला की कल्पना की — एक ऐसी परम्परा जो पीढ़ियों के पार पीछे तक जाती है, जिसकी प्रत्येक कड़ी एक जीवित व्यक्ति है जिसने यह परम्परा प्राप्त की और आगे सौंपेगा। यह शृंखला इस परम्परा की जीवन-रेखा थी। जब तक वह टिकी रही, ज्ञान जीवित रहा; जहाँ वह टूटी, कोई पुस्तकालय उस हानि की पूर्ण भरपाई नहीं कर सका, क्योंकि जो खोया वह जीवित वाहक था। ऐसे टूटने की भयंकर कीमत हमने एक पूर्ववर्ती अध्याय में देखी; यहाँ हम वह अमूल्य वस्तु देखते हैं जिसे वह टूटना नष्ट कर देता है।

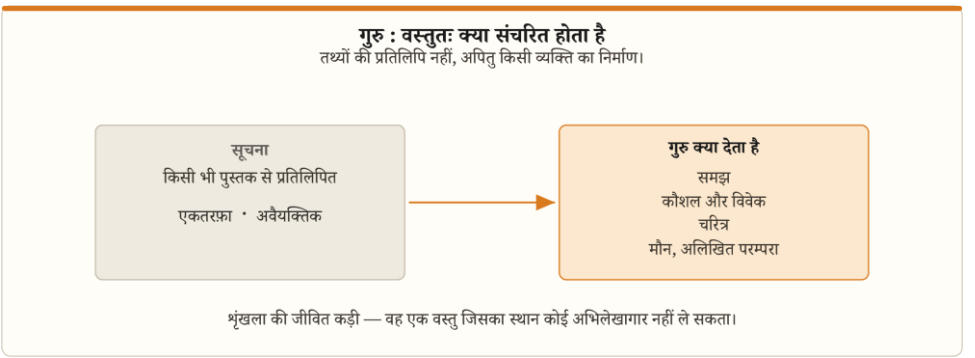

चित्र 43.1 — गुरु : जो संचरित होता है वह निर्माण है, तथ्यों की प्रतिलिपि नहीं।

गुरु की आकृति इस पुस्तक के केंद्रीय तर्क को एक ही सम्बन्ध में सघन कर देती है। हमने कहा है कि ज्ञान व्यक्तियों में जीवित रहता है और उन्हीं के माध्यम से संचरित होता है; और प्रज्ञा, अर्थात् ज्ञान का उच्चतम रूप, केवल उदाहरण तथा निर्माण के मंद, देह-धारित, वैयक्तिक सम्पर्क से ही संचरित हो सकती है। गुरु इसी सत्य का मूर्तिकरण है — यह जीवित प्रमाण कि किसी सभ्यता की गहनतम विरासत उसके अभिलेखों से नहीं, अपितु उसके सम्बन्धों से वहन होती है।

यह सम्बन्ध दोनों दिशाओं में चलता था। यदि गुरु समझ, चरित्र और जीवित परम्परा देता था, तो विद्यार्थी श्रद्धा लाता था — एक विश्वासपूर्ण खुलापन, ग्रहण करने की तत्परता — और उन दीर्घ वर्षों तक सेवा करने, सुनने तथा अभ्यास करने का अनुशासन जिनकी वास्तविक निर्माण को आवश्यकता होती है। परम्परा का आग्रह था कि उच्चतम कोटि का ज्ञान किसी अनौपचारिक अथवा अहंकारी मन द्वारा छीना नहीं जा सकता, अपितु उसे विनम्रता तथा निरंतर प्रयास से अर्जित करना पड़ता है, सम्यक् भाव से और सम्यक् व्यक्ति से पाकर। इस दृष्टि में संचरण किसी उपभोक्ता को दी गई सेवा नहीं, अपितु दोनों ओर के दायित्वों से युक्त एक पवित्र सम्बन्ध था।

इसका आगामी तकनीकों पर प्रत्यक्ष प्रभाव है, और यह एक दृढ़ सीमा निर्धारित करता है जिसका सम्मान यह त्रयी आद्यंत करेगी। हमारे युग के शिक्षण-यंत्र, चाहे कितने ही शक्तिशाली हों, गुरु नहीं हैं और न बन सकते हैं; वे सूचित कर सकते हैं, किन्तु वे किसी व्यक्ति को उस रीति से नहीं गढ़ सकते जिस रीति से कोई जीवित शिक्षक गढ़ता है। उनकी उचित भूमिका, जैसा परवर्ती खण्ड तर्क देंगे, मानव-शिक्षकों के कार्य में सहायता और उसका विस्तार करना है —

द्वार चौड़े करना, उन तक पहुँचना जिन तक कोई एक गुरु कभी नहीं पहुँच सकता था, उस शृंखला को सहारा देना — किन्तु उस अप्रतिस्थापनीय मानवीय कड़ी का स्थान लेना कभी नहीं। गुरु हमें डिजिटल युग की देहरी पर स्मरण कराता है कि हमारे साधन किसलिए हैं और उन्हें क्या होने का दुस्साहस कभी नहीं करना चाहिए। और गुरु के चारों ओर निर्माण की एक सम्पूर्ण संस्था विकसित हुई, जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं।



और जानें · *गुरु — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch43

अध्याय चौवालीस: गुरुकुल

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के चारों ओर गुरुकुल की संस्था विकसित हुई — गुरु का गृह, जिसमें शिष्य रहते और सीखते थे। इस शब्द का अनुवाद "विद्यालय" के रूप में करना उसकी लगभग प्रत्येक अनिवार्य बात खो देना है, क्योंकि गुरुकुल ऐसा स्थान नहीं था जहाँ कोई पाठों के लिए जाता हो, अपितु ऐसी जीवन-रीति थी जिसमें कोई प्रवेश करता था। शिष्य गुरु के साथ रहने आता था, गृह के दैनिक जीवन में भागीदार होता था, और वर्षों तक अधिगम के एक सम्पूर्ण परिवेश में निमज्जन के माध्यम से गढ़ा जाता था। इसमें गुरुकुल शिक्षा की एक ऐसी दृष्टि मूर्त करता है जो हमारी अपनी दृष्टि से गहन रूप से भिन्न है और उसके लिए शिक्षाप्रद।

गुरुकुल का हृदय निमज्जन था। अधिगम नियत घंटों तक सीमित अथवा शेष जीवन से पृथक् नहीं था; वह दैनिक अस्तित्व के सम्पूर्ण ताने-बाने में बुना हुआ था, कार्यों और सेवा में, आचारों और वार्तालापों में, प्रातः से रात्रि तक जिए गए गुरु के उदाहरण में। शिष्य ने परम्परा को केवल औपचारिक शिक्षण से नहीं, अपितु उससे गढ़े गए जीवन में सहभागिता से आत्मसात् किया, जिससे ज्ञान उस रीति से अर्जित हुआ जिस रीति से कोई बालक कोई भाषा अर्जित करता है — उसके भीतर तब तक रहकर जब तक वह अपनी न हो जाए। यह देह-धारण और परिवेश के माध्यम से संचरण है, गहनतम और सर्वाधिक टिकाऊ प्रकार का।

गुरुकुल ने सम्पूर्ण व्यक्ति को भी गढ़ा, केवल बुद्धि को नहीं। उसका लक्ष्य किसी शिष्य को सूचना से भरना नहीं, अपितु ज्ञान के साथ-साथ चरित्र, अनुशासन और प्रज्ञा का अनुशीलन करना था — ऐसा परिपक्व मनुष्य उत्पन्न करना जो इस परम्परा को वहन करने योग्य हो, न कि तथ्यों का कोई भंडार मात्र। अधिगम, सेवा, नीति और दैनिक अभ्यास एक ही निर्माण में एकीकृत थे, इस समझ पर कि चरित्र से विच्छिन्न ज्ञान अपूर्ण और यहाँ तक कि संकटपूर्ण है। गुरुकुल ने प्रज्ञा के लिए शिक्षित किया, उस पूर्ण अर्थ में जो इस पुस्तक ने उस शब्द को दिया है।

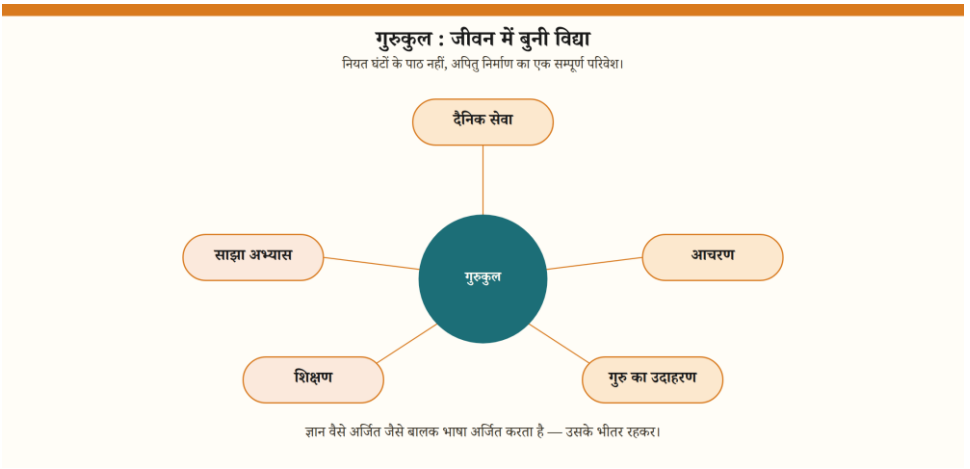

चित्र 44.1 — गुरुकुल : सम्पूर्ण जीवन में बुनी हुई विद्या।

हमारे द्वारा विकसित शब्दावली में गुरुकुल सभ्यतागत संरचना के संचरण-स्तर के लिए विशेष रूप से बनाई गई संस्था थी — ज्ञान-कोष को निमज्जन, सम्बन्ध और निर्माण के माध्यम से जीवित विरासत में बदलने का एक समर्पित परिवेश। वह उन महान इंजनों में से एक था जिनसे यह परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वयं को नवीनीकृत करती रही, और उसका स्वभाव हमें बहुत कुछ बताता है कि परम्परा शिक्षा को क्या मानती थी : विषय-वस्तु का वितरण नहीं, अपितु अभ्यास के किसी जीवित समुदाय के भीतर व्यक्तियों का निर्माण।

गुरुकुल का जीवन सुविचारित रूप से सरल और अनुशासित था। विद्यार्थी तपपूर्वक रहता था, गुरु तथा गृह की सेवा करता था, और भोर से पूर्व उठता था, और इसी साझा सरलता में राजाओं तथा सामान्य जनों के पुत्र प्रायः साथ-साथ अध्ययन करते थे, उनकी स्थिति जन्म से नहीं अपितु योग्यता तथा प्रयास से निर्धारित होती थी। यह तप आकस्मिक नहीं, अपितु शिक्षण-सम्बन्धी था : वह मन को स्थिर करता था, चरित्र बनाता था, और सिखाता था कि ज्ञान का सम्मान अनुशासन से किया जाता है। गुरुकुल ने केवल विद्वान् नहीं, अपितु व्यक्ति गढ़े — जो परम्परा की समझ में सदा शिक्षा का गहनतर प्रयोजन रहा।

गुरुकुल की शिक्षण-पद्धति एक विशिष्ट क्रम में चलती थी : पहले पाठ का स्मृति में सुरक्षित स्थापन, सटीक और पूर्ण, और तभी उसके अर्थ का उद्घाटन। आधुनिक मन को, जिसे कंठस्थीकरण पर समझ को वरीयता देने का प्रशिक्षण मिला है, यह उलटा लग सकता है; किन्तु इसमें प्रज्ञा थी। एक बार पूर्णतः कंठस्थ हुआ पाठ आजीवन सम्पत्ति बन जाता है, भीतर वहन

किया हुआ और किसी भी क्षण चिंतन के लिए उपलब्ध, और तत्पश्चात् उसका अर्थ एक सम्पूर्ण जीवन के पार गहराता जा सकता है, बिना स्वयं पाठ के कभी लुप्त हुए। इस पद्धति ने वस्तुतः एक स्थायी आंतरिक पुस्तकालय बनाया, और यही एक कारण है कि परम्परा का ज्ञान अपने मानव वाहकों में इतना टिकाऊ सिद्ध हुआ।

अधिगम को निमज्जन तथा निर्माण मानने वाली यह प्राचीन दृष्टि इस त्रयी के अंतिम खण्ड की चिंताओं से सीधे बोलती है, जो शिक्षा और उसके नवीनीकरण की ओर मुड़ता है। वह हमारी अपनी व्यवस्थाओं को परखने का एक मानदंड देती है, और यह स्मरण कि समृद्धतम अधिगम-परिवेश खंडित तथा लेन-देन-आधारित के स्थान पर सम्पूर्ण और निमज्जित होते हैं — ऐसा सिद्धांत जिसके हमारे युग की निमज्जित तकनीकों के लिए रोचक निहितार्थ हैं। अधिगम के परिवेश से हम उसकी लाक्षणिक पद्धति की ओर मुड़ते हैं, अर्थात् संवाद के जीवित आदान-प्रदान की ओर।



और जानें · *गुरुकुल — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*
divyadrishti.io/explore/v1/ch44

अध्याय पैंतालीस:
संवाद

यदि गुरु संचरण का हृदय था और गुरुकुल उसका परिवेश, तो संवाद उसकी लाक्षणिक पद्धति थी। भारत की परम्परा असाधारण मात्रा में वार्तालाप की परम्परा थी — प्रश्न और उत्तर की, चुनौती और प्रत्युत्तर की, गुरु तथा शिष्य के बीच खोजपूर्ण आदान-प्रदान की और प्रतिद्वंद्वी सम्प्रदायों के बीच सशक्त वाद की। हम उपनिषदों के महान संवादों और दर्शनों की वाद-संस्कृति से पहले ही मिल चुके हैं; यहाँ हम स्वयं संवाद पर ज्ञान-संचरण की एक पद्धति के रूप में विचार करते हैं, और ऐसी पद्धति के रूप में जिसकी प्रज्ञा को पुनः प्राप्त करना हमारे अपने युग के लिए हितकर होगा।

संवाद-पद्धति इस गहन समझ पर टिकी है कि ज्ञान वस्तुतः किसी मन में जड़ कैसे जमाता है। समझ को सरलतः एक व्यक्ति से दूसरे में उँडेला नहीं जा सकता; उसे अध्येता में जगाना होता है, जो कार्य का एक अंश स्वयं करता है। संवाद ठीक यही सिद्ध करता है। प्रश्न के माध्यम से गुरु शिष्य के अपने चिंतन को गति में लाता है; चुनौती के माध्यम से वह प्रकट करता है कि शिष्य ने केवल कल्पना की थी कि वह समझता है; और प्रत्युत्तर के माध्यम से वह शिष्य को ऐसी समझ की ओर ले जाता है जिस तक वह वास्तविक अर्थ में स्वयं पहुँचा है। इस रीति से अर्जित ज्ञान उधार लिया हुआ नहीं, अपितु अपना होता है, और वह किसी भी व्याख्यान की पहुँच से कहीं गहरे बैठता है।

इस परम्परा के महान संवाद इस पद्धति को उसकी ऊँचाई पर दिखाते हैं। गुरु विरले ही किसी सिद्धांत की सरलतः घोषणा करता है; इसके स्थान पर एक प्रश्न रखा जाता है, कोई अपर्याप्त उत्तर दिया और परखा जाता है, पहले के नीचे कोई गहनतर प्रश्न उद्घाटित होता है, जब तक कि शिष्य चरण-दर-चरण ऐसे साक्षात्कार तक न पहुँचा दिया जाए जो निष्क्रिय रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता था। और वाद-सभाओं में वही सिद्धांत समकक्षों के बीच कार्यरत था : विरोधी पक्षों के अनुशासित संघर्ष के माध्यम से सत्य का अनुसरण, जहाँ प्रत्येक को अपने प्रबलतम रूप में स्वयं को कहना और प्रबलतम आपत्तियों का उत्तर देना विवश था। संवाद ज्ञान की कोई प्रस्तावना नहीं, अपितु वही प्रक्रिया थी जिससे ज्ञान परिष्कृत और संचरित होता था।

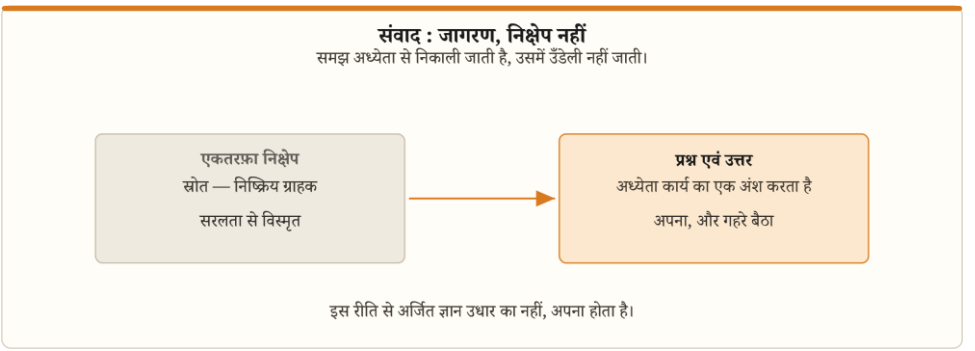

चित्र 45.1 — संवाद : समझ जगाई गई, जमा नहीं की गई।

यह पद्धति ज्ञान तथा सूचना के उस भेद को विशेष स्पष्टता से मूर्त करती है जो इस पुस्तक के केंद्र में है। सूचना एक ही दिशा में, स्रोत से प्राप्तकर्ता तक, बिना किसी सक्रिय सहभागिता के संचरित की जा सकती है; ज्ञान नहीं। उसे अध्येता के अपने मन के संलग्न होने की आवश्यकता है, और संवाद वही रूप है जो वह संलग्नता लेती है। जिस परम्परा ने यह समझा, उसने अपनी शिक्षण-पद्धति को घोषणा के स्थान पर वार्तालाप के चारों ओर बनाया, और परिणामस्वरूप मात्र कंठस्थीकरण के स्थान पर समझ उत्पन्न की।

शिक्षक और विद्यार्थी की आत्मीयता से आगे, संवाद की संस्कृति ने महान शास्त्रार्थों में सार्वजनिक तथा औपचारिक रूप लिया। विद्वत्-सभाएँ प्रतिद्वंद्वी विद्वानों को विवाद करते सुनने के लिए एकत्र होती थीं, कभी बहुत कुछ दाँव पर लगाकर, और ऐसे विवाद के नियम स्वयं अध्ययन का विषय थे — सत्य को लक्ष्य बनाने वाले ईमानदार तर्क और मात्र विजय को लक्ष्य बनाने वाले वितंडा के बीच का भेद सावधानी से खींचा जाता था। जिस परम्परा ने अपने गहनतम मतभेद आदेश से नहीं, अपितु संरचित सार्वजनिक तर्क से निपटाए, उसने ऐसी मानसिक आदत परिपोषित की जिसमें प्रत्येक पक्ष को धारण किए जाने से पूर्व उसकी रक्षा करनी पड़ती थी। यही तर्कशील स्वभाव, किसी भी सिद्धांत जितना ही, परम्परा की धरोहर है।

संवाद करने वाले यंत्र बनाते हुए किसी युग के लिए यहाँ एक पाठ है। परम्परा का संवाद कभी सूचना का मात्र आदान-प्रदान नहीं था; वह अध्येता के अपने विचार को जगाने, चुनौती देने, बाहर खींचने, और प्रश्न से उस समझ की ओर ले जाने के लिए अभिकल्पित था जिस तक विद्यार्थी स्वयं पहुँचेगा और इसलिए जिसका वह स्वामी होगा। उसी भाव में बनी कोई संवादात्मक तकनीक — विचार को उकसाने के लिए, न कि उत्तर बाँटने के लिए; उतना ही

पूछने के लिए जितना बताने के लिए — अधिगम की एक वास्तविक सहायक हो सकती है; जो केवल प्रत्युत्तर पहुँचाने के लिए बनी हो, चाहे कितनी ही प्रवाहपूर्ण, वह इसकी विपरीत होगी। हमारे संवादात्मक यंत्र विचार को गहरा करेंगे अथवा कुंद, यह इस पर निर्भर करेगा कि हम किस प्रकार का बनाना चुनते हैं।

इस परम्परा की संवाद-प्रज्ञा वार्तालापी यंत्रों के युग के लिए एक सूचक पाठ वहन करती है। नई तकनीकें अपने सर्वोत्तम रूप में संवादात्मक तथा प्रत्युत्तर-शील हैं, प्रश्न और उत्तर में समर्थ, और इसमें एक यथार्थ अवसर है — यदि ऐसे साधन इस परम्परा के संवाद की भावना में अभिकल्पित हों, अर्थात् केवल उत्तर देने के स्थान पर अध्येता की समझ को बाहर लाने तथा जगाने के लिए। वे चिंतन को गहरा करेंगे अथवा उसे केवल वितरित करेंगे, यह इस पर निर्भर करेगा कि वे उस रीति से वार्तालाप करने के लिए बने हैं या नहीं जिस रीति से कोई सच्चा शिक्षक वार्तालाप करता है। किन्तु संवाद से आगे इस परम्परा ने यह आग्रह किया कि गहनतम ज्ञान अंततः केवल समझा नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव में साक्षात् किया जाना चाहिए — जो आगामी अध्याय का विषय है।

और जानें · *संवाद — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch45

अध्याय छियालीस:
अनुभव

ग्रंथों, शिक्षकों और तर्कयुक्त संवाद के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा के बावजूद भारत की परम्परा ने अपने गहनतम स्तर पर इन सबसे परे किसी वस्तु पर आग्रह किया : प्रत्यक्ष अनुभव पर। जो ज्ञान केवल उत्तराधिकार में मिला, विश्वास किया गया अथवा बौद्धिक रूप से ग्रहण किया गया रह जाए, वह इस परम्परा के आकलन में अपूर्ण था। उच्चतम ज्ञान को साक्षात् किया जाना था — व्यक्ति के अपने अनुभव में सत्यापित, प्राधिकार पर स्वीकार किए जाने के स्थान पर प्रत्यक्ष भेंट से यथार्थ बनाया हुआ। अनुभवजन्य साक्षात्कार पर यह आग्रह इस परम्परा के सर्वाधिक विशिष्ट तथा कठिन लक्षणों में है, और वह इस पर एक सीमा निर्धारित करता है कि संचरण का कोई भी बाह्य साधन अंततः क्या सिद्ध कर सकता है।

यही कारण है कि परम्परा ने अध्ययन के साथ-साथ अभ्यास तथा साक्षात्कार पर इतना भार रखा। ग्रंथ पढ़ लेना, तर्कों पर प्रभुत्व पा लेना और किसी गुरु की शिक्षा प्राप्त कर लेना आवश्यक था किन्तु पर्याप्त नहीं; उस ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभव में जीवित किया जाना था, चाहे योग तथा ध्यान के अनुशासनों के माध्यम से, अभ्यास की रूपांतरकारी भेंटों के माध्यम से, अथवा समझ के जिए हुए साक्षात्कार में मंद परिपाक के माध्यम से। परम्परा ने अंततः न पुस्तक के प्राधिकार पर विश्वास किया और न गुरु के शब्द पर भी, अपितु उसके प्रत्यक्ष दर्शन पर जिसने सत्य को स्वयं साक्षात् किया हो।

यहाँ एक गहन ज्ञान-मीमांसा कार्यरत है। परम्परा ने समझा कि गहनतम सत्य — चेतना के विषय में, आत्मा के विषय में, यथार्थ के स्वभाव के विषय में — शब्दों में उसे पूर्णतः नहीं सम्प्रेषित किए जा सकते जिसने उनका अनुभव न किया हो, उतना ही जितना मिठास का स्वाद उसे नहीं सम्प्रेषित किया जा सकता जिसने कभी चखा न हो। शब्द संकेत कर सकते हैं, शिक्षक मार्ग दिखा सकते हैं, अभ्यास तैयार कर सकते हैं, किन्तु अंतिम चरण अध्येता को अपने ही अनुभव की प्रयोगशाला में लेना होगा। यह ऐसे प्रकार का ज्ञान है जो उस वस्तु की ठीक सीमा पर स्थित है जिसे संचरित किया जा सकता है, और जिसे अंतिम विश्लेषण में प्रत्यक्षतः अर्जित करना ही होगा।



चित्र 46.1 — अनुभव : बाह्य साधन तैयार करते हैं; साक्षात्कार अकेले पहुँचा जाता है।

अनुभव पर यह आग्रह सीधे इस परम्परा के अंतर्जीवन के महान अनुशासनों से और मनुष्य को साक्षात्कार तथा रूपांतरण में समर्थ मानने वाली उसकी सम्पूर्ण दृष्टि से जुड़ता है। वह संचरण की उस सम्पूर्ण परियोजना की बाह्य सीमा भी चिह्नित करता है जिससे यह भाग सरोकार रखता है। सब कुछ — गुरु, गुरुकुल, संवाद, ग्रंथ, अभ्यास — अंततः इसीलिए अस्तित्व में है कि अध्येता को उसके अपने प्रत्यक्ष अनुभव की देहरी तक पहुँचाया जाए, जिसके आगे कोई बाह्य साधन उसे नहीं ले जा सकता। संचरण भूमि तैयार करता है; साक्षात्कार फसल है, और वह केवल अध्येता की अपनी मिट्टी में उगती है।

परम्परा का ज्ञान-मीमांसा-शास्त्र अनुभव पर इसी आग्रह को प्रतिबिंबित करता था। ज्ञान के जिन वैध साधनों को उसने स्वीकार किया — प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त का शब्द — उनमें शब्द किसी व्यक्ति को दूर तक ले जा सकता था, किन्तु उच्चतम शिक्षाएँ उससे परे ऐसे ज्ञान की ओर संकेत करती थीं जिसे पूर्ण होने के लिए अपने ही अनुभव में सत्यापित करना पड़ता था। किसी सत्य को प्रामाणिकता के आधार पर, चाहे कितनी ही निर्दोष, ग्रहण कर लेना उसे जान लेना नहीं था; गुरु और शास्त्र का वचन मार्ग दिखाता था, किन्तु अंतिम पग ऐसा दर्शन था जिसे प्रत्येक को स्वयं सम्पन्न करना पड़ता था। परम्परा ने अंततः उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष साक्षात्कार पर विश्वास किया जिसने मार्ग पर चलकर देखा हो।

परम्परा यह आग्रह करते कभी नहीं थकी कि मानचित्र वह भूमि नहीं है — कि साक्षात्कार की किसी अवस्था का सर्वाधिक सटीक वर्णन स्वयं वह साक्षात्कार नहीं है, जैसे किसी देश का

मानचित्र वह देश नहीं है। यह भाषा के विषय में निराशा का उपदेश नहीं, अपितु उसकी भूमिका के विषय में स्पष्टता है : शब्द संकेत करते हैं, दिशा देते हैं, और प्रस्तुत करते हैं, और तत्पश्चात् उस अनुभव की देहरी पर अलग रख दिए जाने चाहिए जिसकी ओर वे संकेत करते हैं। जिस परम्परा ने यह समझा उसने अपनी उच्चतम शिक्षाएँ चंद्रमा की ओर संकेत करती अंगुलियों के रूप में बनाईं, सावधान रहते हुए कि अंगुली को कभी चंद्रमा न समझ लिया जाए, और यह स्मरण कराते हुए कि संकेत, चाहे कितना ही कुशल, वह दर्शन नहीं है।

परवर्ती खण्ड जिन अनुभव-तकनीकों का अन्वेषण करेंगे, उनके लिए यह अध्याय एक उच्च आकांक्षा और एक स्पष्ट सीमा — दोनों निर्धारित करता है। निमज्जित तथा अनुभवात्मक माध्यम एक यथार्थ आश्वासन रखते हैं : इस परम्परा के विषय में केवल सूचना ही नहीं, अपितु उसके जिए हुए अनुभव का कुछ अंश सम्प्रेषित करने का, किसी व्यक्ति को भेंट के उतना निकट लाने का जितना केवल पाठ कभी नहीं ला सकता था। यह एक यथार्थ तथा योग्य सम्भावना है, और वह दिव्य दृष्टि की धारणा के हृदय में स्थित है। फिर भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार पर इस परम्परा का आग्रह हमें स्मरण कराता है कि सर्वाधिक शक्तिशाली अभिकल्पित अनुभव भी एक तैयारी और एक संकेत ही रहता है, स्वयं अंतिम साक्षात्कार नहीं, जिस तक प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए पहुँचना होगा। इस परम्परा की प्राचीनतम अनुभवजन्य शिक्षण-विधियों में स्वयं यात्रा थी — तीर्थ, जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं।

और जानें · *अनुभव — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch46

अध्याय सैंतालीस:
तीर्थयात्रा

इस परम्परा के सर्वाधिक उल्लेखनीय और सबसे कम सराहे गए संचरण-रूपों में तीर्थ है — पवित्र स्थलों की वह पवित्र यात्रा जो शताब्दियों में असंख्य करोड़ों ने की। तीर्थ गति के माध्यम से शिक्षा है, इस परम्परा के पवित्र भूगोल को भूमि पर और यात्री की देह में लिखने का एक उपाय। उसे संचरण के रूप में समझना यह देखना है कि इस सभ्यता ने यात्रा के माध्यम से स्वयं को कैसे पढ़ाया, और अपने विशाल तथा विविध भू-भाग को एक ही पवित्र समग्र में कैसे बाँधा।

इस उपमहाद्वीप का मानचित्रण, इस परम्परा की कल्पना में, पवित्र स्थानों से सघन एक भू-दृश्य के रूप में हुआ — नदियाँ और पर्वत, मंदिर और तीर्थ-घाट, कथा तथा साहचर्य से पवित्र किए गए स्थल। तीर्थ ने इन स्थानों को जालों में बुना, और तीर्थयात्री ने उनके बीच यात्रा करते हुए इस सभ्यता का पवित्र भूगोल किसी पुस्तक से नहीं, अपितु पाँवों के तलवों और मार्ग के श्रम से सीखा। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रकार का देह-धारित, अनुभवजन्य ज्ञान था : इस परम्परा का अर्थ-मानचित्र भौतिक यात्रा में खींचा हुआ, और उसकी कथाएँ ठीक उन्हीं स्थानों में भेंट की गईं जहाँ वे घटित हुई मानी जाती थीं।

तीर्थ ने एक विशाल तथा विविध सभ्यता को एक अनुभूत एकता में बाँधने का शक्तिशाली कार्य भी किया। इस भूमि के किसी एक कोने से आया तीर्थयात्री, किसी दूरस्थ पवित्र स्थल तक यात्रा करते हुए, इस परम्परा के सम्पूर्ण भू-भाग को एक ही पवित्र क्षेत्र के रूप में खोजता था, और प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक जीवन-वृत्ति के सहयात्रियों से भेंट करता था। तीर्थ के महान जालों ने इस उपमहाद्वीप की दूरस्थ सीमाओं को एक सभ्यतागत समग्र में सिल दिया, न केवल ज्ञान अपितु किसी एकल पवित्र क्रम से सम्बद्ध होने का साझा बोध भी संचरित करते हुए, जो स्थानीय तथा क्षेत्रीय भेद से परे था।

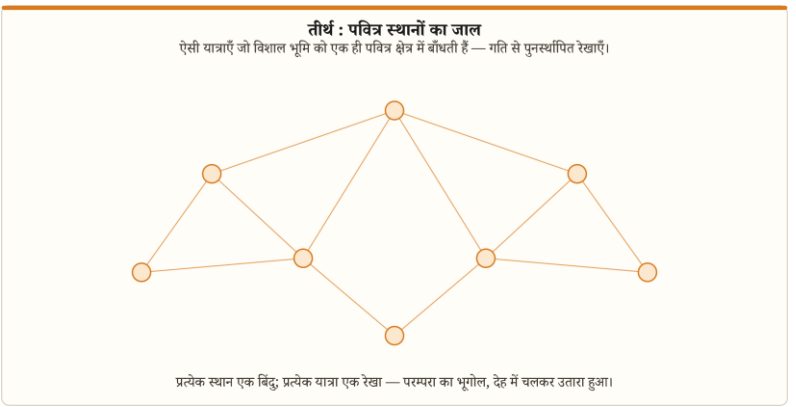

चित्र 47.1 — तीर्थ : पवित्र स्थानों का एक जाल, जिसकी रेखाएँ देह में चलकर उतारी गईं।

इस पुस्तक द्वारा विकसित जाल-शब्दावली में तीर्थ रेखाओं का एक महान जनक था — ऐसे संयोजन जो स्थानों को कथाओं से, यात्रियों को साझा भूगोल से, और किसी विशाल भूमि के क्षेत्रों को एक-दूसरे से बाँधते थे। यह ऐसा संचरण था जो स्थान से होकर और देह से होकर चलता था, इस परम्परा के अर्थ को भू-भाग में वितरित करता हुआ और यात्रा के अनिवार्य अनुभव के माध्यम से उसे तीर्थयात्री पर अंकित करता हुआ। उत्सव और शिल्प की भाँति उसने ज्ञान को जिए हुए आचरण में बसाया, जहाँ उसे भूलना कठिन था और मिटाना उससे भी कठिन।

पवित्र भूगोल को तीर्थयात्रा से एक साथ बँधे पवित्र स्थानों के महान जालों में ठोस आकार मिला — भूमि भर में बिखरे शिव को पवित्र स्थल, उपमहाद्वीप की दिशागत सीमाओं पर चार धाम, सात पुरियाँ, नदियों के संगम। इन यात्राओं को करना परम्परा के अर्थ-मानचित्र को अपने ही चरणों से अंकित करना था और सम्पूर्ण भूमि को एक ही पवित्र क्षेत्र के रूप में खोजना था, जिसे असंख्य तीर्थयात्रियों की गति ने एक साथ सिल दिया हो। एक विशाल और विविध सभ्यता को एक अनुभूत एकता में बाँधने में इस साझा पवित्र भूगोल के बोध से अधिक शायद ही किसी वस्तु ने काम किया, जिस पर शताब्दियों तक मिलकर चला गया।

पवित्र यात्रा की इस संस्कृति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति कुम्भ मेला है, नदियों के संगम पर वह महान आवर्ती सम्मेलन जो तीर्थयात्रियों को ऐसी संख्या में खींचता है जिसकी बराबरी पृथ्वी पर कोई सभा नहीं करती। कि लाखों लोग, एक विशाल भूमि के पार और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से, किसी एक पवित्र स्थान पर खगोलीय रूप से नियत समय पर अभिसरित हों — और अनेक शताब्दियों से ऐसा करते आए हों — यह चौंकाने वाले पैमाने पर सभ्यतागत संचरण

की एक परिघटना है। ऐसी सभा में परम्परा एक जनसमूह की देहों और साझा अनुभव में स्वयं को नवीनीकृत करती है, और किसी पवित्र स्थान तथा समय पर एक साथ आने के सरल, शक्तिशाली कर्म से एक विविध जन को एक अनुभूत समुदाय में बाँधती है।

तीर्थ, सम्भवतः अप्रत्याशित रूप से, आगामी तकनीकों की अधिक भावोद्दीपक सम्भावनाओं में से एक की ओर संकेत करता है। यदि पवित्र यात्रा लोगों को उन स्थानों से जोड़ने का एक उपाय थी जहाँ वे अन्यथा कभी नहीं पहुँच पाते, तो हमारे युग की निमज्जित तकनीकें उस संयोजन के विस्तार की सम्भावना खोलती हैं — आभासी यात्रा और पवित्र स्थलों पर दूरस्थ उपस्थिति, उन्हें अर्पित जो यात्रा नहीं कर सकते, बिना स्वयं भौतिक तीर्थ के अप्रतिस्थापनीय मूल्य को विस्थापित किए। परवर्ती खण्ड इस सम्भावना को सावधानी से उठाएँगे। स्थान से होकर की गई पवित्र यात्रा से हम इस परम्परा के काल से होकर संचरण की ओर मुड़ते हैं — उत्सव की पुनरावर्ती लय की ओर।

और जानें · *तीर्थयात्रा — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch47

अध्याय अड़तालीस:
उत्सव

यदि तीर्थ ने इस परम्परा को स्थान के माध्यम से संचरित किया, तो उत्सव ने उसे काल के माध्यम से संचरित किया। भारत का पंचांग उत्सवों से सघन है, और प्रत्येक उत्सव किसी आयोजन के अवसर से कहीं अधिक है; वह संचरण का एक कार्य है, एक पुनरावर्ती पुनरभिनय जिसके माध्यम से इस परम्परा की कथाएँ, मूल्य और ब्रह्मांड-दृष्टि आगे ले जाई जाती हैं और प्रत्येक पीढ़ी पर नए सिरे से अंकित की जाती हैं। उत्सव-वर्ष की लय में इस सभ्यता ने ऋतुओं के परिवर्तन के पार स्वयं को आनंदपूर्वक और अविस्मरणीय रूप से पढ़ाया।

संचरण के रूप में उत्सव की प्रतिभा उसकी लय और उसकी सार्वभौमिकता में निहित है। जिस सत्य से एक बार भेंट हो वह विस्मृत हो सकता है; जो सत्य प्रतिवर्ष, अपनी नियत ऋतु में पुनरभिनीत हो, किसी जीवन-काल की प्रतीक्षा तथा स्मृति में बुना हुआ, वह अमिट हो जाता है। उत्सव अपना अर्थ शिक्षण के माध्यम से नहीं, अपितु सहभागिता के माध्यम से वहन करता है — साझा तैयारी, अनुष्ठान, पुनःकथित कथा, एकत्र समुदाय के माध्यम से — जिससे सबसे छोटा बालक भी केवल भाग लेकर, वर्ष-दर-वर्ष, इस परम्परा को तब तक आत्मसात् कर लेता है जब तक उसके अर्थ ऋतुओं जितने परिचित न हो जाएँ। यह सामुदायिक, देह-धारित, लयबद्ध सहभागिता के माध्यम से संचरण है, और वह सब तक पहुँचता है।

प्रत्येक उत्सव वस्तुतः एक आवधिक शिक्षण है। वह किसी कथा का पुनरभिनय करता है, किसी सिद्धांत का सम्मान करता है, ब्रह्मांडीय अथवा ऋतु-चक्र के किसी क्षण को चिह्नित करता है, और ऐसा करते हुए इस परम्परा की विश्व-दृष्टि का एक अंश एक साथ सम्पूर्ण समुदाय तक पुनः संचरित करता है। ब्रह्मांड-विज्ञान अनुष्ठान में वहन होता है, नीति पुनःकथित कथा में, और सम्बद्धता का बोध उस एकत्रीकरण में। और चूँकि उत्सव केवल सीखा नहीं, अपितु जिया जाता है, उसका ज्ञान वहीं संचित होता है जहाँ हमने इस परम्परा का सर्वाधिक टिकाऊ ज्ञान संचित देखा है — सामान्य जीवन के ताने-बाने में बुने हुए आचरण में, जहाँ वह उसे अतिजीवित कर लेता है जिसे पुस्तकालय नहीं कर सकते।

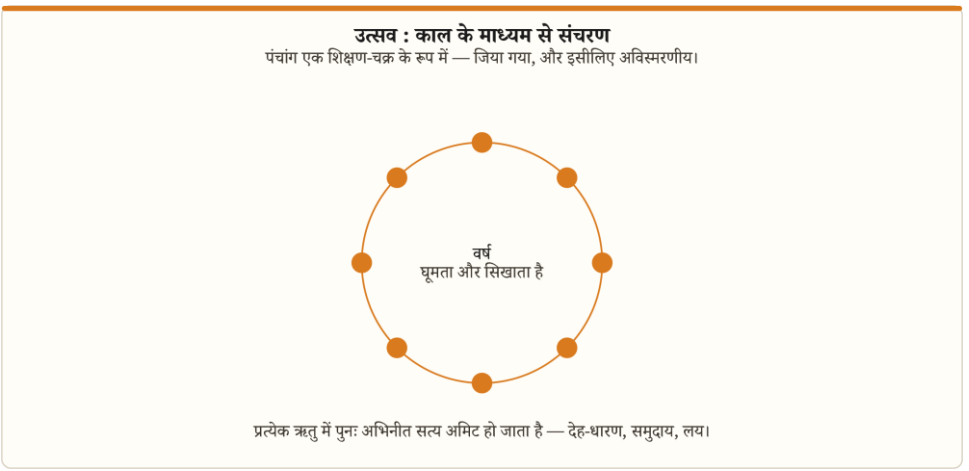

चित्र 48.1 — उत्सव : वर्ष के घूमने के माध्यम से संचरण।

यह हमें इस परम्परा की प्रत्यास्थता के गहनतम स्रोतों में से एक पर लौटाता है, जिसकी परीक्षा इस खण्ड में बहुत पहले हुई। उत्सव-पंचांग में अंतर्निहित ज्ञान वह ज्ञान है जो वर्ष की लय और समुदाय के आचरण में जीवित रहता है, और उसे नष्ट करना असाधारण रूप से कठिन है, क्योंकि उसे मिटाने के लिए स्वयं समुदाय के जीवन को मिटाना पड़ेगा। उत्सव देह-धारण और समुदाय और लय का संयोग है, और वह उन कारणों में है जिनसे इस परम्परा की आत्मा उसके ग्रंथों तथा संस्थाओं पर हुए प्रत्येक आघात के बीच टिकी रही।

उत्सव-पंचांग सूर्य, चंद्र और ऋतु की लय से निकटता से बँधा था, जिससे परम्परा की शिक्षा प्राकृतिक वर्ष के घूमने पर वहन होती रही। उत्सव अयनांतों और फ़सलों को, चंद्र की कलाओं और नक्षत्रों के बीच सूर्य के संक्रमण को अंकित करते थे, पवित्र कथाओं को उन कृषि तथा आकाशीय चक्रों में बुनते हुए जिन पर जीवन निर्भर था। अतः उत्सव मनाना एक साथ ब्रह्मांड और परम्परा — दोनों के साथ काल में जीना था, और वर्ष-दर-वर्ष, बिना सचेत अध्ययन के, उत्सव में वहन एक ब्रह्मांड-विज्ञान और एक नीति ग्रहण करना था।

उत्सव-पंचांग भव्य रूप से विविध भी था, जो क्षेत्र से क्षेत्र और समुदाय से समुदाय भिन्न था, यद्यपि वह कथाओं तथा अर्थों के एक साझा भंडार से लेता था। जो उत्सव उत्तर में एक नाम से जाना जाता और एक रीति से मनाया जाता, वह दक्षिण में सर्वथा भिन्न रूप में मनाया जा सकता था, और प्रत्येक क्षेत्र ने साझा विरासत में अपना जोड़ा। यह विविधता दुर्बलता नहीं, अपितु शक्ति थी : उसने महान परम्परा को प्रत्येक स्थान के विशेष जीवन में बुन दिया, और

उसका अर्थ यह था कि सम्पूर्ण अतिरेकी रूप से वहन हुआ, असंख्य स्थानीय रूपों में, जिससे कोई एक दमन उसे मौन नहीं कर सका।

उत्सव की शक्ति हमें स्मरण कराती है कि सर्वाधिक प्रभावी संचरण प्रायः सर्वाधिक आनंदपूर्ण और सर्वाधिक सामुदायिक होता है — गम्भीर शिक्षण से नहीं, अपितु साझा उत्सव, सहभागिता और उल्लास से वहन किया हुआ। यह ऐसा सिद्धांत है जिसे स्मरण रखना किसी भी ऐसे युग के लिए हितकर होगा जो अपनी विरासत संचरित करना चाहे, और उसकी इस विषय से स्पष्ट प्रासंगिकता है कि जीवित परम्पराएँ नए साधनों से कैसे टिकाई और साझा की जा सकती हैं। उत्सव, तीर्थ और दैनिक जीवन — सबमें बुने हुए तत्वों में कथा थी, इस परम्परा के समस्त वाहनों में सर्वाधिक सार्वभौम, और अब हम कथा-कथन की ओर मुड़ते हैं।

और जानें · *उत्सव — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch48

अध्याय उनचास:
कथा

हमने महान महाकाव्यों पर पहले इस परम्परा के स्मारकों के रूप में विचार किया; यहाँ हम स्वयं कथा-कथन पर संचरण की उन सर्वाधिक सार्वभौम तथा टिकाऊ तकनीकों में से एक के रूप में विचार करते हैं जो इस सभ्यता के पास थीं। महाकाव्यों से आगे कथाओं का एक विशाल सागर था — नीति-कथाएँ और लोक-कथाएँ, उपदेश-कथाएँ और अद्भुत-कथाएँ, वे आख्यान जो दादियाँ, घुमंतू चारण और मंदिर-कथावाचक कहते थे — जिनके माध्यम से इस परम्परा की प्रज्ञा, नीति और विश्व-दृष्टि प्रत्येक आयु और प्रत्येक विद्या-स्तर के सब लोगों तक पहुँची। कथा सरलतः इस परम्परा की सर्वाधिक लोकतांत्रिक शिक्षिका थी।

संचरण के वाहन के रूप में कथा की शक्ति मानव-मन के स्वभाव में निहित है, जो अमूर्तन की तुलना में आख्यान को कहीं अधिक सरलता से स्मरण रखता है। सीधे कहा गया कोई नैतिक सिद्धांत सहज ही विस्मृत हो जाता है; वही सिद्धांत किसी स्मरणीय कथा में मूर्त होकर, ऐसे पात्रों से वहन होकर जिनकी हमें चिंता होने लगे, स्मृति में बैठ जाता है और जीवन-भर लौटता रहता है। परम्परा ने इसे गहराई से समझा और उपदेशपरक कथाओं के महान संग्रह उत्पन्न किए, जिनमें आचरण, विवेक और संसार की रीतियों के विषय में प्रज्ञा ऐसी कथाओं में बाँधी गई जो इतनी आनंददायक थीं कि पीढ़ियों के पार और सभ्यताओं के पार भी कही और पुनःकही जाती रहीं, अपने उद्गम की भूमि से बहुत दूर तक यात्रा करती हुई।

कथाओं में आयु और विद्या की प्रत्येक सीमा के पार अर्थ वहन करने की उल्लेखनीय सामर्थ्य भी होती है। वही कथा किसी बालक को अपनी सतह से आनंदित कर सकती है और किसी वृद्ध को अपनी गहराई से शिक्षित; उसका आनंद निरक्षर ले सकता है और उस पर मनन विद्वान कर सकता है; वह अपनी सतह पर कोई सरल पाठ धारण कर सकती है और उसके नीचे कोई गहन सत्य। इस स्तरण ने कथा को यह सामर्थ्य दी कि वह परम्परा को एक साथ समाज के प्रत्येक अंश तक संचरित करे, जहाँ प्रत्येक वह ग्रहण करे जो वह ग्रहण करने को तैयार हो, और श्रोता के बढ़ने के साथ वह और अधिक देती रहे। संचरण के कुछ ही उपकरण इतने दक्ष अथवा इतने समावेशी हैं।

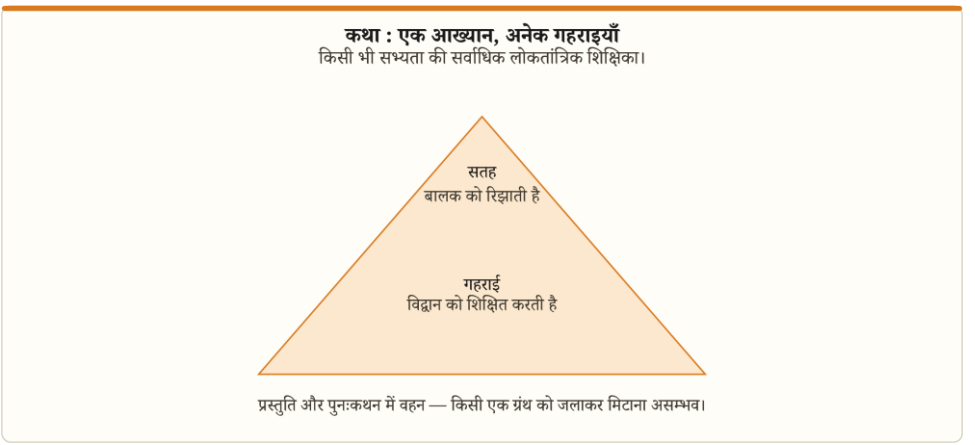

चित्र 49.1 — कथा : एक आख्यान, अनेक गहराइयों पर पढ़ा गया।

उत्सव और शिल्प की भाँति कथा भी केवल पृष्ठ पर नहीं, अपितु आचरण तथा प्रस्तुति में जीवित रही, असंख्य कहने वालों द्वारा असंख्य पुनःकथनों में वहन होती हुई, प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक अवसर के अनुरूप ढलती हुई। इससे उसे वही प्रत्यास्थता मिली जिसका अनुसरण हमने इस परम्परा के अन्य देह-धारित रूपों में किया है : असंख्य वाणियों में वितरित, किसी एक पाठ से बँधी नहीं, किसी पांडुलिपि को नष्ट करके मिटाना असम्भव। कथा इसलिए बची कि वह कहने में जीवित थी, और कहना सर्वत्र था।

परम्परा के कथाकारों ने आख्यान में प्रज्ञा वहन करने की परिष्कृत तकनीकें विकसित कीं, जिनमें प्रमुख कथा-चौखट थी, जिसमें कथाएँ कथाओं के भीतर घोंसला बनाती हैं, एक कथा का कोई पात्र दूसरी कहता हुआ, जिससे विवेक अथवा राजनीति पर एक सम्पूर्ण विवेचन परस्पर-गुँथी नीति-कथाओं के प्रपात के रूप में प्रस्तुत हो सकता था। पंचतंत्र, जो ठीक इसी युक्ति पर बना और जिसका प्रयोजन युवा राजकुमारों को संसार की रीतियाँ सिखाना था, अनुवाद में भाषाओं और महाद्वीपों के पार यात्रा करता रहा, और मानव-इतिहास में कथाओं के सर्वाधिक व्यापक रूप से फैले संग्रहों में से एक बन गया। यहाँ कथा महान शक्ति और पहुँच की शिक्षण-तकनीक के रूप में प्रकट होती है — सतह पर आनंददायक, नीचे गहन प्रयोजनपूर्ण।

कथा का संचरण स्वयं एक जीवित वृत्ति था। पारम्परिक वाचक और प्रस्तोता — कथाकार और उनके अनेक क्षेत्रीय समकक्ष — महान आख्यानों को गाँव-गाँव ले जाते थे, किसी महाकाव्य को अनेक रात्रियों में एक मुग्ध श्रोता-समूह के सम्मुख खोलते हुए, पाठ, गीत,

व्याख्या और प्रस्तुति को मिलाते हुए। उनके माध्यम से परम्परा उन अनेकों तक पहुँची जो पढ़ नहीं सकते थे, और उन तक शुष्क उपदेश के रूप में नहीं, अपितु अर्थ से आवेशित मनोरंजन के रूप में पहुँची। कथाकार पूर्णतम अर्थ में जनों का शिक्षक था, और परम्परा का बचा रहना इन विनम्र प्रस्तोताओं का उतना ही ऋणी है जितना किसी विद्वान् का।

इस परम्परा की कथा-प्रतिभा स्वाभाविक रूप से हमारे अपने युग के माध्यमों से जुड़ती है, जो अपने सर्वोत्तम रूप में आख्यान के नए उपकरण ही हैं — चलता हुआ चित्र, संवादात्मक कथा, वह कथा जिसमें प्रवेश किया जाए। ये कथा-कथन की प्राचीन कलाओं के वंशज हैं, और वे उनकी शक्ति तथा उनका उत्तरदायित्व — दोनों उत्तराधिकार में पाते हैं। परवर्ती खण्ड यह अन्वेषण करेंगे कि इस परम्परा की कथाएँ इन नए रूपों में कैसे जीवित रह सकती हैं और यात्रा कर सकती हैं। कथा से सर्वाधिक निकटता से बँधी कलाओं में संगीत था, जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं — ऐसी कला जिसने इस परम्परा को केवल अर्थ के माध्यम से नहीं, अपितु भाव के प्रत्यक्ष संचरण के माध्यम से वहन किया।



और जानें · *कथा — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch49

अध्याय पचास:
संगीत

संचरण की इस परम्परा की कलाओं में संगीत का स्थान सर्वोच्च सम्मान का है, क्योंकि वह उसे वहन करता है जिसे अकेला उच्चारित शब्द नहीं कर सकता — भाव, मनःस्थिति, भक्ति, और आत्मा की अवस्थाएँ, जो एक प्राणी से दूसरे तक सीधे सम्प्रेषित होती हैं। जैसा हमने देखा, वेद के ध्वन्यात्मक हृदय और ध्वनि के साथ गहन संलग्नता में जड़ जमाए हुए, भारत की संगीत-परम्परा संसार की महान निरंतर कलाओं में से एक बनी, और देह-धारित संचरण के उसके सर्वाधिक कठिन विद्यालयों में से एक।

इस परम्परा का शास्त्रीय संगीत सूक्ष्म तथा परिष्कृत आधारों पर बना है — वे राग-ढाँचे जो किसी प्रस्तुति को आकार और रंग देते हैं, ताल की जटिल संरचनाएँ, स्वर की वे सूक्ष्म श्रेणियाँ जो इस संगीत को उसकी असाधारण अभिव्यंजक विस्तृति देती हैं। किन्तु हमारे प्रयोजन के लिए उसका सर्वाधिक उल्लेखनीय लक्षण यह है कि उसे सीखा और आगे सौंपा कैसे जाता है। इस गहराई का संगीत-ज्ञान स्वर-लिपि में नहीं पकड़ा जा सकता; वह प्रशिक्षित कान में, अनुशासित कंठ में, अभ्यास के असंख्य परिष्कारों में जीवित रहता है, और गुरु-शिष्य सम्बन्ध में वर्षों के घनिष्ठ, वैयक्तिक शिष्यत्व के माध्यम से गुरु से शिष्य तक संचरित होता है। संगीत अपने शुद्धतम रूप में देह-धारित ज्ञान है।

संगीत ने इस परम्परा में अपने आप में एक मार्ग के रूप में भी सेवा की, न कि केवल एक कला के रूप में। भक्ति-गीत और सामूहिक कीर्तन में संगीत पवित्र का वाहन बन गया, भक्ति के संचरण तथा जागरण का ऐसा साधन जो बुद्धि को लाँघकर सीधे हृदय तक पहुँच सकता था। ऐसे संगीत के माध्यम से इस परम्परा के गहनतम भाव उन विशाल संख्याओं तक पहुँचे जो सम्भवतः उसका दर्शन कभी नहीं पढ़तीं, समुदायों को साझा भाव तथा साझा भक्ति में एक करते हुए। संगीत ने सिद्धांत नहीं, अपितु अनुभव संचरित किया — पवित्र का अनुभूत यथार्थ, ध्वनि के माध्यम से सम्प्रेषित।

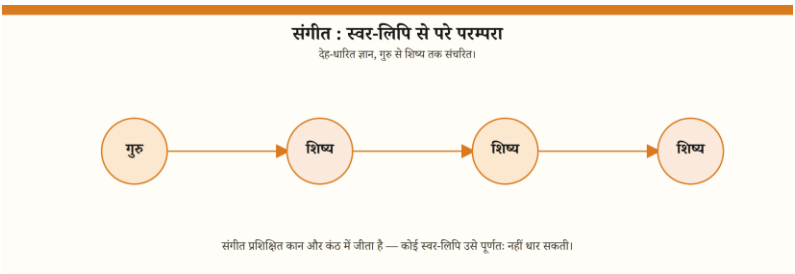

चित्र 50.1 — संगीत : स्वर-लिपि से परे एक जीवित परम्परा।

यह संगीत को उस देह-धारित, अनुभवजन्य ज्ञान का सर्वोच्च उदाहरण बनाता है जिसे इस खण्ड ने बार-बार इस परम्परा की सर्वाधिक अमूल्य तथा सर्वाधिक भंगुर विरासत के रूप में पहचाना है। यह ऐसा ज्ञान है जो पूर्णतः जीवित अभ्यासियों और उनकी अखंडित परम्पराओं में जीवित रहता है, जिसे किसी अभिलेख तक घटाया नहीं जा सकता, और जो उसकी संचरण-शृंखला के टूटने पर पूर्णतः लुप्त हो जाएगा। शताब्दियों के पार इस संगीत का अतिजीवन इस परम्परा की संचरण-कलाओं की सामर्थ्य का प्रमाण है, और जीवित परम्परा पर उसकी निर्भरता इस बात का स्मरण कि उनकी निरंतरता पर कितना कुछ दाँव पर लगा है।

परम्परा मानती थी कि प्रत्येक राग, अपनी विशिष्ट गति और भाव के साथ, किसी विशेष समय, ऋतु अथवा भावना के अनुकूल है, और श्रोता में एक विशेष भावात्मक अवस्था जगाने में समर्थ — भाव का एक सूक्ष्म विज्ञान, जो स्वयं संगीत की संरचना में अंतर्निहित है। और भक्ति-गीत की धाराओं में, भक्त संतों के पदों से आगे, संगीत पवित्र का प्रत्यक्ष वाहन बन गया, जो सामान्य जनों के हृदयों तक, उनकी अपनी भाषाओं में, ऐसा धार्मिक भाव ले गया जिसे कोई ग्रंथ सम्प्रेषित नहीं कर सकता था। इस प्रकार संगीत ने वह संचरित किया जो तर्क नहीं कर सका : भाव, भक्ति, और पवित्र का अनुभूत यथार्थ, जो ध्वनि के माध्यम से एक सत्ता से दूसरी तक सीधे पहुँचा।

इस संगीत को सबसे बढ़कर जो पृथक् करता है वह यह है कि उसे कभी मात्र पुनरुत्पादित नहीं किया जाता, अपितु प्रस्तुति में सदा पुनः रचा जाता है। राग के अनुशासन के भीतर संगीतज्ञ आशु-रचना करता है, एक गहन उत्तराधिकृत व्याकरण से लेते हुए, जीवित क्षण में ऐसा कुछ रचता है जो ठीक उस रूप में पहले कभी अस्तित्व में नहीं रहा और न कभी पुनः रहेगा। यह संचरण और नवीनीकरण का एक ही कर्म में संगलन है : परम्परा एक साथ आगे सौंपी जाती

और नई बनाई जाती है, प्रत्येक प्रस्तुति में, जिससे संगीत एक साथ सहस्रों वर्ष पुराना और नितांत उपस्थित है। यह जीवित परम्परा का एक पूर्ण प्रतीक है — अपने स्रोत के साथ अविच्छिन्न, और कभी समाप्त नहीं।

ऐसी किसी कला को नए साधनों से संरक्षित तथा संचारित करने के किसी भी प्रयास के लिए संगीत एक स्पष्ट और विनम्र बनाने वाला मानदंड निर्धारित करता है। अभिलेखन प्रस्तुतियों को संरक्षित कर सकता है और उनकी पहुँच बढ़ा सकता है, और नए साधन शिक्षण के कार्य में सहारा दे सकते हैं, किन्तु स्वयं जीवित कला केवल गुरु से शिष्य तक के वैयक्तिक संचरण से ही जाती है, और उसका विकल्प कोई तकनीक नहीं हो सकती। यह ऐसा विषय है जिससे हम पुनः मिलेंगे, और वह उस कला पर भी समान बल से लागू होता है जो संगीत, कथा और मुद्रा को एक ही देह-धारित समग्र में जोड़ती है — शास्त्रीय नृत्य, जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं।

और जानें · *संगीत — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch50

अध्याय इक्यावन:
नृत्य

शास्त्रीय नृत्य में इस परम्परा ने सम्भवतः संचरण की अपनी सर्वाधिक पूर्ण कला प्राप्त की — एक ऐसा सम्पूर्ण रूप जो संगीत, कथा, मुद्रा, अभिव्यक्ति और अर्थ को एक ही देह-धारित समग्र में जोड़ता है। इस परम्परा में नृत्य कभी मात्र गति नहीं है; वह एक भाषा है, गति में शास्त्र, नर्तक की प्रशिक्षित देह के माध्यम से पवित्र कथाएँ कहने और इस परम्परा के गहनतम भाव सम्प्रेषित करने का साधन। उसका अध्ययन करना संचरण से उसके सर्वाधिक एकीकृत तथा बहु-इन्द्रिय रूप में भेंट करना है।

शास्त्रीय नृत्य उल्लेखनीय परिष्कार के एक संहिताबद्ध विज्ञान से शासित था, जो प्रदर्शन-कलाओं पर इस परम्परा के आधारभूत ग्रंथ में निर्धारित है और शताब्दियों में विस्तृत किया गया। इस विज्ञान ने मुद्रा की एक विस्तृत शब्दावली निर्धारित की, जिसमें हाथ तथा देह एक परिशुद्ध भाषा बनाते हैं जो कथाएँ कहने और अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है, और अभिव्यक्ति की एक सूक्ष्म कला जिसके माध्यम से नर्तक मानवीय तथा दिव्य भाव की सम्पूर्ण श्रेणी सम्प्रेषित करता है। इस प्रकार नृत्य संचार की एक यथार्थ प्रणाली था, जो वैसे सीखा जाता था जैसे कोई भाषा सीखी जाती है, और जो इस परम्परा की कथाओं तथा भावों को अत्यंत परिशुद्धता और शक्ति से वहन करने में समर्थ था।

मंदिर और उसके अनुष्ठानिक जीवन से घनिष्ठ रूप से बँधा हुआ नृत्य देह-धारित धर्मशास्त्र तथा आख्यान के रूप में कार्य करता था — पवित्र कथाओं को अभिनीत करने और उन्हें उपस्थित करने का उपाय, इस परम्परा के अर्थों को अमूर्त सिद्धांत के रूप में नहीं, अपितु जीवित, गतिशील, अनुभूत अनुभव के रूप में संचरित करने का। नर्तक की देह में कथा और संगीत और मुद्रा और भक्ति संचरण के एक ही कार्य में संगलित हो जाते थे जो दर्शक को एक साथ अनेक इन्द्रियों से संलग्न करता था, और वह सम्प्रेषित करता था जो कोई एक माध्यम नहीं कर सकता था। वह वस्तुतः स्वयं मंदिर-अनुष्ठान के अतिरिक्त इस परम्परा का सर्वाधिक पूर्ण अभिकल्पित अनुभव था।

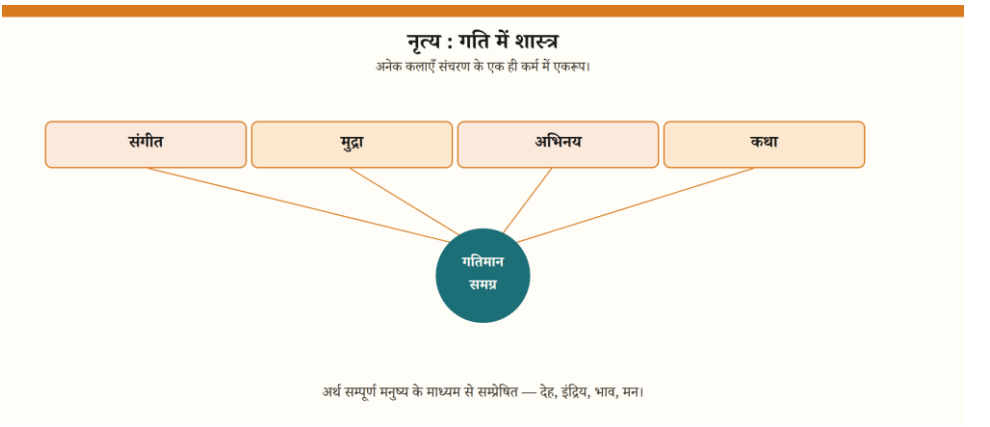

चित्र 51.1 — नृत्य : संचरण के एक ही कर्म में एकरूप अनेक कलाएँ।

इस परम्परा के संगीत की भाँति यह कला भी पूर्णतः गुरु तथा शिष्य की अखंडित परम्पराओं के माध्यम से कठोर, वैयक्तिक, देह-धारित संचरण पर निर्भर थी। मुद्रा तथा अभिव्यक्ति का विशाल भंडार, प्रशिक्षित देह का अनुशासन, भाव सम्प्रेषित करने की सूक्ष्म कला — सब जीवित अभ्यासियों में जीवित थे और केवल वर्षों के घनिष्ठ शिष्यत्व से ही जाते थे। यहाँ पुनः इस परम्परा का सर्वाधिक अमूल्य तथा सर्वाधिक असुरक्षित ज्ञान-रूप है : देह-धारित, अपनी पूर्णता में अनभिलेख्य, और अपनी जीवित परम्पराओं की निरंतरता पर पूर्णतः निर्भर।

प्रदर्शन-कलाओं का सिद्धांत पंद्रह से अधिक शताब्दी पूर्व भरत को श्रेय दिए गए उस विशाल ग्रंथ में प्रस्तुत हुआ, नाट्यशास्त्र में, जिसने नाटक, नृत्य और संगीत का एक साथ विश्लेषण किया और परम्परा को उसका चिरस्थायी रस-सिद्धांत दिया — वह आसुत भावात्मक "स्वाद" जो कोई प्रस्तुति किसी प्रस्तुत दर्शक में जगाती है। इस परम्परा में नृत्य कभी मात्र तमाशा नहीं था, अपितु सम्प्रेषण की एक अनुशासित कला, भंगिमा तथा अभिव्यक्ति की एक संहिताबद्ध शब्दावली के साथ, जो पवित्र कथाएँ कहने और मानवीय तथा दिव्य भाव की सम्पूर्ण शृंखला सम्प्रेषित करने में समर्थ थी। परम्परा की अपनी समझ में वह दृश्य बना हुआ शास्त्र था — धर्मशास्त्र, कथा और भाव, जो प्रशिक्षित तथा गतिमान देह में वहन हुए।

नृत्य, इतनी कलाओं तथा इन्द्रियों को एक ही संचरणकारी समग्र में जोड़ता हुआ, इस परम्परा की उस अंतर्दृष्टि का पूर्णतम साक्षात्कार है कि गहनतम संचरण सम्पूर्ण मनुष्य को संलग्न

करता है — देह, इन्द्रियाँ, भाव और मन, सब एक साथ। यह अंतर्दृष्टि, कि अर्थ सर्वाधिक शक्तिशाली रूप से एकीकृत, बहु-इन्द्रिय, देह-धारित अनुभव के माध्यम से सम्प्रेषित होता है, ठीक उस दृष्टि के हृदय में स्थित है जिसकी ओर यह त्रयी निर्माण करती है, और वह पूर्ण बल से लौटेगी जब हम इस युग की निमज्जित तकनीकों पर विचार करेंगे। गतिशील कलाओं से हम चिरस्थायी कलाओं की ओर मुड़ते हैं — उस दृश्य कला की ओर जिसके माध्यम से इस परम्परा ने अपना ज्ञान प्रतिमा तथा रूप में लिखा।

और जानें · *नृत्य — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch51

अध्याय बावन:

कला

इस परम्परा की दृश्य कलाएँ — उसकी मूर्तिकला, चित्रकला और मूर्ति-विधान — संचरण की एक विशाल तथा चिरस्थायी प्रणाली बनाती हैं, इस परम्परा के ज्ञान को प्रतिमा तथा रूप में लिखने का उपाय, ताकि उसे वे सब पढ़ सकें जिन्होंने उसकी भाषा सीख ली हो। जहाँ उच्चारित शब्द बीत जाता है और पाठ निरक्षर के लिए बंद रहता है, वहाँ प्रतिमा टिकी रहती है और सबसे बोलती है। अपनी दृश्य कलाओं के माध्यम से इस परम्परा ने अपनी कथाएँ, अपना ब्रह्मांड-विज्ञान और अपने मूल्य ऐसे रूप में संचरित किए जो एक साथ टिकाऊ, सार्वजनिक और सार्वभौम रूप से सुलभ था।

इस परम्परा की दृश्य कला पर्याप्त परिशुद्धता के संहिताबद्ध विधानों से शासित थी, विशेषतः पवित्र प्रतिमाओं के निर्माण में। देवताओं के रूप, अनुपात, मुद्राएँ, आयुध और आसन विस्तार से निर्धारित थे, जिससे प्रत्येक प्रतिमा एक पठनीय पाठ बन जाती थी, अपना अर्थ किसी भी ऐसे दर्शक तक वहन करती हुई जिसने वह दृश्य भाषा पढ़ना सीख लिया हो। कोई पवित्र प्रतिमा कोई मुक्त आविष्कार नहीं, अपितु सिद्धांत तथा कथा का रूप में सावधान कूटबद्धन थी, और उसकी परिपाटियों में प्रवीण व्यक्ति के लिए वह किसी भी लिखित पृष्ठ जितनी स्पष्टता से बोलती थी — आँख के माध्यम से ब्रह्मांड-विज्ञान, आख्यान और मूल्य सिखाती हुई।

इससे दृश्य कलाओं को ऐसी संचरणकारी पहुँच मिली जिसकी समता कुछ ही अन्य माध्यम कर सकते थे। किसी मंदिर की प्रतिमा अथवा किसी भित्ति का चित्र निरंतर और सबको पढ़ाता था — विद्वान और निरक्षर, युवा और वृद्ध, निवासी और गुज़रता हुआ तीर्थयात्री, सब समान रूप से। उसके लिए न साक्षरता चाहिए थी न इस परम्परा की समृद्ध दृश्य शब्दावली से परिचय के अतिरिक्त कोई शिक्षण, जो जीवन-भर के निमज्जन से आत्मसात् हो जाती थी। अपनी प्रतिमाओं के माध्यम से इस परम्परा ने अपनी शिक्षाएँ सम्पूर्ण समुदाय की आँखों के सम्मुख स्थायी रूप से रख दीं, पीढ़ियों के पार मौन और अनंत रूप से संचरित करते हुए।

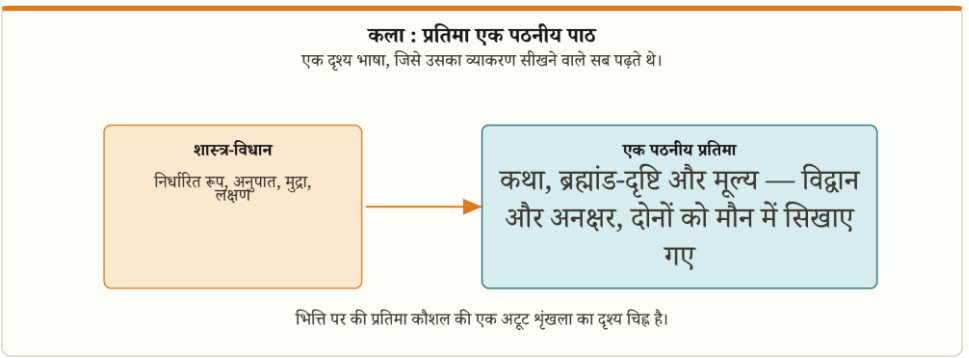

चित्र 52.1 — कला : प्रतिमा एक पठनीय पाठ के रूप में।

इस कला के पीछे कलाकारों तथा शिल्पियों की परम्पराएँ खड़ी थीं जो इन विधानों और इन कौशलों को वहन करती थीं, शिष्यत्व के माध्यम से वह विशाल व्यावहारिक ज्ञान संचरित करती हुईं जिसे कोई पुस्तिका पूर्णतः धारण नहीं कर सकती थी। जैसा हमारे द्वारा सर्वेक्षित प्रत्येक कला में हुआ, जीवित ज्ञान अभ्यासियों में निवास करता था, और उसकी निरंतरता गुरु से शिष्य तक देह-धारित कौशल तथा उत्तराधिकार में मिली परिपाटी के अखंडित संचरण पर निर्भर थी। भित्ति पर की प्रतिमा संचरण की उस अदृश्य शृंखला का दृश्य चिह्न थी जो पीढ़ियों के पार पीछे तक जाती है।

दृश्य परम्परा मूर्तिकला से आगे चित्रकला की एक समृद्ध कला तक फैली — वे भित्ति-चित्र जो कभी मंदिर तथा प्रासाद की दीवारें ढकते थे, जिनमें अजंता के प्राचीन गुहा-चित्र सर्वाधिक प्रसिद्ध बचे हुए अवशेष हैं, और लघुचित्र तथा पांडुलिपि-चित्रण की परवर्ती परम्पराएँ। यहाँ भी एक विधान निर्माण का शासन करता था : चित्रकला पर ग्रंथ अनुपात, भंगिमा और भाव के चित्रण को विहित करते थे, जिससे चित्रित प्रतिमा, उकेरी हुई की भाँति, एक साझा दृश्य व्याकरण के भीतर एक पठनीय वक्तव्य थी। इन प्रतिमाओं के माध्यम से परम्परा ने अपनी कथाएँ और अपने आदर्श सबकी आँखों के सम्मुख रखे, हर उस व्यक्ति को निरंतर और मौन रूप से पढ़ाते हुए जिसने उन रूपों को पढ़ना सीख लिया हो।

प्रतिमा पर परम्परा का प्रभुत्व पत्थर जितना ही धातु तक भी फैला। चोल-देश में मधूच्छिष्ट-विधि से ढाली गई कांस्य मूर्तियाँ — सबसे बढ़कर नटराज शिव — विश्व-कला की सर्वोच्च उपलब्धियों में गिनी जाती हैं, जो निर्दोष तकनीकी नियंत्रण को ऐसी आध्यात्मिक अभिव्यंजना से जोड़ती हैं जिसे विरले ही पार किया गया है। ऐसी आकृति ढालना एक साथ

एक परिष्कृत धातु-विद्या और एक संहिताबद्ध प्रतिमा-विधान पर अधिकार रखना था, और एक सम्पूर्ण धर्मशास्त्र को ऐसे रूप में उँडेलना था जिसे शोभायात्रा में ले जाया जा सके और सब देख सकें। यहाँ परम्परा की दृश्य कला अपने शिखरों में से एक पर पहुँचती है, और तकनीक, अर्थ तथा सौंदर्य के अपने पूर्णतम संगलनों में से एक पर।

दृश्य कलाएँ, कूटबद्ध अर्थ की टिकाऊ तथा पठनीय वाहक होने के नाते, इस परम्परा के उन तत्वों में हैं जो हमारे युग की तकनीकों के माध्यम से संरक्षण तथा संचरण के लिए सर्वाधिक स्वाभाविक रूप से उपयुक्त हैं, क्योंकि वे दृश्य विरासत को अत्यंत निष्ठा से अभिलिखित, संयोजित और सम्प्रेषित कर सकती हैं — एक सम्भावना जिसका अन्वेषण परवर्ती खण्ड करेंगे। फिर भी गहनतर पाठ वही है जो इस सम्पूर्ण भाग में बार-बार लौटा है : कि प्रत्येक कलाकृति के पीछे कौशल की एक जीवित परम्परा खड़ी है, जिसके बिना उस कलाकृति का नवीनीकरण नहीं हो सकता। वह पाठ इस परम्परा के शिल्पों में अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति तक पहुँचता है, जिनकी ओर हम अब मुड़ते हैं।



और जानें · *कला — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch52

अध्याय तिरपन:
शिल्प

भारत की शिल्प-परम्पराओं में हम देह-धारित ज्ञान से उसके शुद्धतम तथा सर्वाधिक सघन रूप में भेंट करते हैं — ऐसा ज्ञान जो पूर्णतः प्रशिक्षित हाथ और अभ्यस्त आँख में जीवित रहता है, जिसे अपना सार खोए बिना लिखा नहीं जा सकता, और जो केवल किसी गुरु के अधीन करने के दीर्घ शिष्यत्व से ही जाता है। इस सभ्यता के विशाल तथा विविध शिल्प, बुनाई और धातु-कर्म से लेकर मंदिर-निर्माण और प्रतिमा-निर्माण तक, असाधारण गहराई के व्यावहारिक ज्ञान-पिंड वहन करते थे, जो वंशानुगत परम्पराओं तथा कार्यशाला के धैर्यपूर्ण अनुशासन के माध्यम से पीढ़ियों के पार संचरित हुए।

किसी शिल्प-परम्परा में धारित ज्ञान बड़े अंश में मौन होता है — अनुभव, विवेक और कौशल का विषय जो स्पष्ट नियम तक घटाए जाने का प्रतिरोध करता है। बुनकर का धागे का बोध, धातु-कर्मी का अग्नि का पठन, मूर्तिकार का पत्थर का विवेक : इन्हें वर्णन से नहीं, अपितु केवल वर्षों के निर्देशित अभ्यास से, किसी गुरु की दृष्टि के नीचे देखने, अनुकरण करने और संशोधित होने से ही अर्जित किया जा सकता है, जब तक वह कौशल दूसरा स्वभाव न बन जाए। यही कारण है कि शिल्प सदैव शिक्षण के स्थान पर शिष्यत्व के माध्यम से संचरित हुआ, और यही कारण है कि उसका ज्ञान किसी पाठ में नहीं पकड़ा जा सकता।

चूँकि यह ज्ञान इतनी पूर्णता से अभ्यासी में जीवित रहता है, शिल्प-परम्पराएँ एक साथ अत्यंत टिकाऊ और तीव्र रूप से भंगुर हैं। टिकाऊ, क्योंकि कोई जीवित शिल्प अभ्यास के माध्यम से स्वयं को निरंतर नवीनीकृत करता है और किसी पांडुलिपि की हानि के विरुद्ध कवचित है; भंगुर, क्योंकि वह पूर्णतः गुरु तथा शिष्य की अखंडित शृंखला पर निर्भर है, और उस शृंखला के टूटने पर एक ही पीढ़ी में अपुनर्प्राप्य रूप से लुप्त हो सकता है। जब कोई शिल्प-परम्परा उत्तराधिकारियों के बिना समाप्त होती है, तब जो लुप्त होता है वह केवल कोई तकनीक नहीं, अपितु शताब्दियों में संचित मौन ज्ञान का एक पिंड है, जिसे कोई अभिलेख लौटा नहीं सकता क्योंकि वह कभी अभिलेखों में धारित था ही नहीं।



चित्र 53.1 — शिल्प : हाथों में मौन ज्ञान, और उसकी भंगुरता।

यह शिल्पों को इस पुस्तक की केंद्रीय चिंता का एक गम्भीर प्रतीक बनाता है। हमने आद्यंत तर्क दिया है कि किसी सभ्यता का सर्वाधिक अमूल्य ज्ञान व्यक्तियों में जीवित रहता है और संचरण से जाता है, और कि संचरण का टूटना उसे नष्ट कर देता है जिसे संरक्षण पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। यह कहीं भी शिल्प से अधिक सत्य नहीं, जहाँ ज्ञान विशुद्धतः देह-धारित है और किसी परम्परा की हानि पूर्ण। किसी सभ्यता के शिल्पों का स्वास्थ्य वास्तविक अर्थ में उसके संचरण के स्वास्थ्य का माप है, और उनकी असुरक्षा इस बात का माप कि पुनर्जीवन के कार्य में क्या दाँव पर लगा है।

शिल्प, इतिहास के बहुत बड़े भाग में, श्रेणियों में संगठित थे — जो अपने व्यवसायों का नियमन करती थीं, मानक बनाए रखती थीं, शिष्यों को प्रशिक्षित करती थीं, और किसी शिल्प की संचित तकनीक एक पीढ़ी से दूसरी तक पहुँचाती थीं। इन वंशगत समुदायों के भीतर अत्यंत गहन व्यावहारिक ज्ञान का एक पिंड धारित और संचरित होता था : वह धातु-विद्या जिसने प्रसिद्ध जंग-रोधी लोहा और प्राचीन संसार भर में व्यापार किया गया बहुमूल्य वूट्ज़ इस्पात उत्पन्न किया, वे वस्त्र-कौशल जिन्होंने भारतीय वस्त्र को तीन महाद्वीपों में वाणिज्य का विषय बनाया, और कुम्हार, उत्कीर्णक तथा बुनकर की असंख्य तकनीकें। यह ऐसा ज्ञान था जो हाथों में जीता था और शिष्यता से संचरित होता था, और उसकी जीवंतता सभ्यता के संचरण के स्वास्थ्य का एक माप थी।

आधुनिक युग में परम्परा के शिल्पों की नियति स्वयं संचरण की कथा का एक शिक्षाप्रद अध्याय है। भारत के वस्त्र-कौशल, जो सहस्राब्दियों में परिष्कृत हुए, कभी संसार के बहुत बड़े भाग को वस्त्र देते थे और एक विशाल व्यापार के केंद्र में खड़े थे; औद्योगीकरण तथा

औपनिवेशिक नीति के दबावों में इनमें से अनेक शिल्प-अर्थव्यवस्थाएँ ध्वस्त हो गईं, और उनके साथ असंख्य पीढ़ियों में बने तकनीक के पिंड चले गए। कुछ बचे, जिन्हें शिल्पियों के दृढ़ समुदायों ने वहन किया; अन्य लुप्त हो गए, अथवा एक धागे पर लटके हैं। यह कथा एक सजीव स्मरण है कि कोई शिल्प-परम्परा, चाहे कितनी ही प्राचीन और निपुण, विलोप से सदा केवल एक टूटी पीढ़ी की दूरी पर रहती है — और कि उसका संरक्षण जीवित आचार्यों को टिकाए रखने का विषय है, न कि मात्र उनके उत्पादों की प्रशंसा का।

ऐसे किसी भी प्रकल्प के लिए जो इस ज्ञान को संरक्षित तथा नवीनीकृत करना चाहे, शिल्प कठिनतम चुनौती प्रस्तुत करते हैं और सबसे कम भ्रम की अनुमति देते हैं। उनका ज्ञान डिजिटलीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह किसी ऐसे रूप में जीवित ही नहीं जिसे डिजिटलीकरण पकड़ सके; उसे केवल स्वयं जीवित परम्पराओं को टिकाकर ही सहारा दिया जा सकता है, और जो भी तकनीक सहायता की आशा रखे उसे उसी प्रयोजन की सेवा करनी होगी, न कि उसका विकल्प बनने का दुस्साहस। शिल्प हमें अंततः और अभ्रांत रूप से स्मरण कराते हैं कि इस सम्पूर्ण उपक्रम का लक्ष्य जीवित संचरण का नवीनीकरण है, अभिलेखों का संचय नहीं। और इन सब कलाओं तथा शिल्पों के, संचरण के इन सब रूपों के नीचे वह प्रधान माध्यम था जिससे यह परम्परा सोचती और बोलती थी — उसकी भाषा, जिसकी ओर मुड़कर हम इस भाग का समापन करते हैं।



और जानें · *शिल्प — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch53

अध्याय चौवन:

भाषा

हम संचरण की इस परम्परा की कलाओं का अपना सर्वेक्षण उस माध्यम से समाप्त करते हैं जो इन सबके नीचे है : भाषा। प्रत्येक पाठ, प्रत्येक शिक्षा, प्रत्येक संवाद और कथा और मंत्रोच्चार भाषा में वहन हुआ, और इस परम्परा की भाषाएँ — सबसे बढ़कर संस्कृत, किन्तु साथ ही वह महान भाषा-कुल भी जो उसके साथ-साथ और उससे विकसित हुआ — वे प्रधान पात्र थे जिनमें यह सम्पूर्ण विरासत धारित और आगे सौंपी गई। भाषा की बात किए बिना संचरण की बात करना किसी नदी का वर्णन उसके जल के बिना करना होगा।

इस कथा में संस्कृत का विशेष स्थान है, और हम उसके उल्लेखनीय गुणों की एक झलक पहले ही पा चुके हैं — उसके व्याकरण का वह परिष्कार, जो औपचारिक कठोरता की ऐसी ऊँचाई तक पहुँचा जिसकी समता विरले ही हुई, और उसकी संरचना की परिशुद्धता। यह ऐसी भाषा थी जो शताब्दियों में परिष्कृत होकर एक असाधारण रूप से यथार्थ तथा अभिव्यंजक उपकरण बन गई, जो दर्शन के सूक्ष्मतम भेदों और संरक्षण की कठिनतम अपेक्षाओं को वहन करने में समर्थ थी। संस्कृत में इस परम्परा के पास केवल संचार का साधन नहीं, अपितु काल के पार जटिल ज्ञान के यथार्थ संचरण के लिए एक सूक्ष्मता से अभियांत्रित पात्र था, और हमारे द्वारा सर्वेक्षित कोष का बहुत बड़ा भाग उस भाषा से अविभाज्य है जिसमें वह रचा गया।

चूँकि भाषा संचरण का पात्र है, किसी भाषा का भाग्य और उसके द्वारा वहन किए गए ज्ञान का भाग्य एक साथ बँधे हैं। जब संचरण की कोई भाषा जीवित प्रयोग से बाहर हो जाती है, तब उसमें कूटबद्ध ज्ञान पहुँच से परे बहने लगता है, और उसके ग्रंथ ऐसे बंद द्वार बन जाते हैं जिनकी कुंजियाँ कहीं खो चुकी हैं। हमने एक पूर्ववर्ती अध्याय में देखा कि किसी जन का उसकी विद्या-भाषाओं से विच्छेद औपनिवेशिक व्यवधान के गहनतम घावों में था, जिसने एक विशाल विरासत तक पहुँच उसे नष्ट करके नहीं, अपितु उसे अपठनीय बनाकर काट दी। संचरण की किसी भाषा को खोना उस सब तक पहुँच खोना है जो वह धारण करती है।

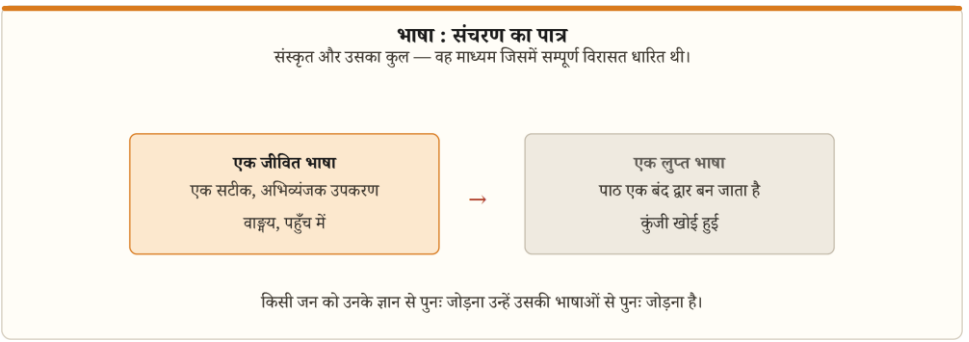

चित्र 54.1 — भाषा : वह पात्र; खोई हुई भाषा एक बंद द्वार है।

इससे यह निकलता है कि इस परम्परा की भाषाओं की पुनःप्राप्ति तथा नवीनीकरण कोई सीमांत चिंता नहीं, अपितु एक केंद्रीय चिंता है — सम्भवतः सर्वाधिक केंद्रीय, क्योंकि भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा इस विरासत के प्रत्येक अन्य अंश तक पहुँचा जाता है। किसी जन को उसके ज्ञान से पुनः जोड़ना बड़े अंश में उसे उन भाषाओं से पुनः जोड़ना है जिनमें वह ज्ञान जीवित है, और समझ के उन सेतुओं का पुनर्निर्माण करना है जिन्हें विच्छेद ने नष्ट किया। भाषा इस सभ्यता का अंतिम संयोजी ऊतक है, और उस ऊतक की पुनर्स्थापना उस पुनर्जीवन के लिए मूलभूत है जिसका प्रस्ताव यह त्रयी रखती है।

न ही परम्परा का भाषाई जीवन संस्कृत तक सीमित था। शास्त्रीय भाषा के साथ-साथ प्राकृतें फलीं-फूलीं और, समय के साथ, महान क्षेत्रीय भाषाएँ — तमिल, जिसका अपना शास्त्रीय साहित्य दो सहस्राब्दी पीछे तक जाता है, और आगे चलकर तेलुगु, कन्नड़, बांग्ला, हिंदी और शेष — प्रत्येक परम्परा की कथाओं, दर्शन और भक्ति का वाहन बनती गई। विशेषतः भक्ति-आंदोलनों ने पवित्र को जनों की दैनिक बोली में ले जाया, जिससे विरासत एक वाणी में नहीं, अपितु अनेक में संचरित हुई। अतः किसी जन को उनके ज्ञान से पुनः जोड़ना एक साथ अनेक भाषाओं का श्रम है — और ठीक वैसा श्रम जिसमें हमारे अपने युग की अनुवाद-शक्तियाँ, पहली बार, बड़े पैमाने पर सहायता कर सकने में समर्थ हैं।

और ठीक यहीं इस परम्परा का हमारे युग की तकनीकों से सर्वाधिक आशाजनक मिलनों में से एक सामने आता है। अब उभर रही सर्वाधिक शक्तिशाली सामर्थ्यों में भाषाओं के पार कार्य करने की क्षमता है — अनुवाद करने की, व्याख्या करने की, किसी एक जिह्वा के पाठ को किसी अन्य के पाठक के लिए खोलने की, और इस परम्परा की भाषाओं को, स्वयं संस्कृत

सहित, ऐसे सुलभ बनाने की जैसी वे पहले कभी नहीं थीं। यदि संचरण का टूटना बड़े अंश में भाषाओं का विच्छेद था, तो जो साधन भाषाओं को पुनः जोड़ सकते हैं वे इस मरम्मत के ठीक हृदय पर प्रहार करते हैं। परवर्ती खण्ड इसका गहराई से अन्वेषण करेंगे। अभी, भाषा हमारे संचरण-सर्वेक्षण को उसके समापन तक ले आती है — और उसके साथ यह सम्पूर्ण प्रथम खण्ड अपनी ही देहरी के निकट पहुँचता है।



और जानें · *भाषा — मूल स्रोत, चर्चा और अग्रिम पठन।*

divyadrishti.io/explore/v1/ch54

भाग पाँच · सारांश:
ज्ञान का संचरण

आगे बढ़ने से पूर्व, इस भाग का सार।

मुख्य बिंदु

- यह सम्पूर्ण ज्ञान उन जीवित कलाओं के बिना नष्ट हो गया होता जो इसे वहन करती रहीं — संचरण ही इस खण्ड की धुरी है।
- गुरु-शिष्य सम्बन्ध अविभाज्य केंद्र था : ज्ञान के साथ विवेक और चरित्र भी हस्तांतरित होते थे।
- गुरुकुल, संवाद और प्रत्यक्ष अनुभव मिलकर एक ऐसी शिक्षण-पद्धति बनाते थे जिसका लक्ष्य समझ था, सूचना नहीं।
- तीर्थ, उत्सव, कथा, संगीत, नृत्य, कला और शिल्प सजावट नहीं, अपितु वितरित संचरण-अवसंरचना थे।
- भाषा — विशेषतः उसकी अनुशासित परिशुद्धता — इसीलिए विकसित की गई कि अर्थ शताब्दियों तक अक्षुण्ण रहे।
- मौन ज्ञान, जो केवल अभ्यास और सान्निध्य से मिलता है, सर्वाधिक संकटग्रस्त है क्योंकि उसका कोई लिखित विकल्प नहीं।
- जो सभ्यता संचरण में निपुण होती है वह अपने ज्ञान को चक्रवृद्धि करती है; जो उपेक्षा करती है वह प्रत्येक पीढ़ी में पुनः आरम्भ करती है।

चिंतन हेतु प्रश्न

- *इनमें से कौन-से संचरण-मार्ग आज भी कार्यरत हैं, और कौन-से चुपचाप टूट चुके हैं?*
- *यदि संचरण ही निर्णायक सामर्थ्य है, तो उसे अपने समय में पुनर्स्थापित करने के लिए हमें क्या करना होगा?*

दिव्य दृष्टि
एक सभ्यता के लिए तंत्रिका-तंत्र

ग्यारह चिंतन — इस त्रयी की दृष्टि, उसके अपने स्वर में।

निबंध एक:
दिव्य दृष्टि का परिचय

"हम मानव इतिहास की महानतम तकनीकी क्रांतियों में से एक को जी रहे हैं — और प्रश्न यह है कि क्या वह किसी सभ्यता की प्रज्ञा को प्रवाहित बनाए रखने में हमारी सहायता कर सकती है।"

चिंतनों की यह शृंखला सार्वजनिक रूप से आरम्भ हुई थी, मानवता की प्राचीनतम जीवित ज्ञान-परम्पराओं में से एक के भविष्य पर एक खुले संवाद के रूप में। उसे यहाँ एकत्र और गहन किया गया है, क्योंकि पूर्ववर्ती अध्यायों के तर्क ने अब उसे अर्जित कर लिया है। हमने देखा कि सभ्यता एक जीवित ज्ञान-प्रणाली है; कि वह केवल तब तक टिकती है जब तक उसका ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी तक बहता रहे; और कि हमारा अपना युग — उस महान विच्छेद के पश्चात् पहली बार — ऐसे साधन रखता है जो उस प्रवाह को सभ्यतागत पैमाने पर पुनर्स्थापित करने में सक्षम हैं। दिव्य दृष्टि वह नाम है जो हमने ऐसा ही एक साधन बनाने के प्रयास को दिया है।



चित्र — दिव्य दृष्टि का परिचय।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्रतिरूप और निमज्जित तकनीकें यह रूपांतरित कर रही हैं कि हम कार्य कैसे करते हैं, सीखते कैसे हैं और संसार से मिलते कैसे हैं। जिस प्रश्न से यह दृष्टि आरम्भ होती है वह सरल है, और वह आगे सब कुछ में प्रवाहित रहता है : क्या यही तकनीकें भारत की सभ्यतागत विरासत को सुरक्षित रखने और बाँटने में हमारी सहायता कर सकती हैं — किसी मृत अभिलेखागार के रूप में नहीं, अपितु जीवित, अनुभव-योग्य प्रज्ञा के रूप में?

भारत की विरासत स्मारकों और पांडुलिपियों से कहीं आगे तक जाती है। वेद और उपनिषद्, इतिहास और पुराण, भागवत और ब्रह्मसूत्र, योग और आयुर्वेद, मंदिर-स्थापत्य तथा शास्त्रीय कलाएँ और विशाल मौखिक परम्पराएँ — ये सब मिलकर विश्व द्वारा उत्पन्न सर्वाधिक समृद्ध ज्ञान-तंत्रों में से एक बनाते हैं। फिर भी उसका बहुत बड़ा भाग पहुँच से दूर बना हुआ है, विशेषतः युवाओं के लिए और प्रत्येक महाद्वीप में बिखरे वैश्विक भारतीय प्रवासी समुदाय के लिए। विरासत विद्यमान है; पहुँच संकुचित हो गई है।

अतः दिव्य दृष्टि की कल्पना किसी और अनुप्रयोग के रूप में नहीं, न किसी आभासी तीर्थ-सेवा के रूप में, अपितु भारतीय ज्ञान प्रणालियों के लिए एक डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र के रूप में की गई है, जो पाँच प्रतिज्ञाओं पर खड़ा है। संरक्षण — सभ्यता के ज्ञान, परम्पराओं और विरासत को टिकाऊ डिजिटल रूप में सुरक्षित रखना। अनुभव — उभरती तकनीकों के माध्यम से पवित्र स्थानों, इतिहासों और आचरणों तक निमज्जित पहुँच खोलना। अधिगम — भारतीय ज्ञान प्रणालियों को सर्वत्र के अध्येताओं के लिए आकर्षक, संरचित और सुलभ बनाना। शोध — विद्वानों और संस्थाओं को वे डिजिटल साधन तथा साझा मंच देना जिनकी अब उनके कार्य को आवश्यकता है। और संयोजन — जिज्ञासुओं, शिक्षकों, मंदिर-न्यासों, विश्वविद्यालयों, नीति-निर्माताओं और प्रवासी समुदाय को एक जीवित समग्र में जोड़ने वाला वैश्विक तंत्र बुनना।

इनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा पूर्ववर्ती खण्ड के किसी न किसी निष्कर्ष का सीधा उत्तर है। हमने तर्क दिया कि पुनर्जीवन के बिना संरक्षण शव-लेपन है; और इसीलिए यह मात्र डिजिटलीकरण की परियोजना नहीं, अपितु ज्ञान को पुनः देह-धारण, संचरण और नवीनीकरण में लाने की परियोजना है। यह यात्रा परम्परा को प्रतिस्थापित करने की नहीं, अपितु उसकी पहुँच बढ़ाने की है; शिक्षकों को प्रतिस्थापित करने की नहीं, अपितु अधिगम को सशक्त करने की; तीर्थ को प्रतिस्थापित करने की नहीं, अपितु एक भंगुर विरासत को उन तक पहुँचाने की जो सम्भवतः कभी उसके सम्मुख साक्षात् खड़े न हो सकें। इन पृष्ठों की भाषा में यह किसी सभ्यतागत जाल की कटी हुई रेखाओं के पुनर्निर्माण का प्रयास है। यह किसी तकनीकी पहल से अधिक है। यह यह सुनिश्चित करने की दिशा में एक योगदान है कि भारत की कालातीत प्रज्ञा आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करती रहे।

तंत्र शब्द पर ठहरना उचित है, क्योंकि वह सावधानी से और युग की धारा के विरुद्ध चुना गया है। इस क्षण की सहज-प्रवृत्ति कोई उत्पाद बनाने की है — कोई एक अनुप्रयोग, स्वामित्व और नियंत्रण में, जिसे कोई उपयोगकर्ता खोलता और बंद करता है। किन्तु किसी सभ्यता का ज्ञान उत्पाद नहीं है; वह ग्रंथों, शिक्षकों, स्थानों, आचरणों और समुदायों का एक जीवित जाल है, और उसकी सेवा केवल वही वस्तु कर सकती है जिसका स्वभाव वैसा ही हो : एक खुला, संयुक्त, बहु-भागीदार तंत्र जिसमें विद्वान, संस्थाएँ, मंदिर और जिज्ञासु प्रत्येक कुछ देते हैं और प्रत्येक कुछ लेते हैं। दिव्य दृष्टि की कल्पना इसी भाव में हुई है — किसी परकोटे में बंद उद्यान के रूप में नहीं जिससे धन कमाया जाए, अपितु एक साझा नागरिक तथा सांस्कृतिक अवसंरचना के रूप में, किसी सभ्यता की विरासत के लिए एक साझा संपदा के रूप में।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"दिव्य दृष्टि — दिव्य का अनुभव कीजिए। प्रज्ञा को समझिए। सभ्यता को सुरक्षित रखिए।"

निबंध दो:
जब ज्ञान बहना बंद कर देता है

"प्रत्येक सभ्यता अपने स्मारकों से स्मरण की जाती है। प्रत्येक सभ्यता इसलिए टिकती है कि उसका ज्ञान बहता रहता है।"

जब हम महान सभ्यताओं का विचार करते हैं, तब हमारा मन सबसे पहले उनके स्मारकों की ओर जाता है — मिस्र के पिरामिड, रोम का कोलोसियम, माचू पिच्चू, भारत के मंदिर। किन्तु कोई स्मारक हमें केवल यह बताता है कि कोई सभ्यता थी। यह ज्ञान है जो हमें बताता है कि वह टिकी क्यों। किसी सभ्यता का सच्चा बल कभी उसके स्मारकों की ऊँचाई अथवा उसके राज्यों की सम्पत्ति से नहीं मापा गया, अपितु अपनी प्रज्ञा को सुरक्षित रखने, उसे विकसित करने और उसे अक्षुण्ण रूप से एक पीढ़ी से दूसरी तक पहुँचाने की उसकी सामर्थ्य से।

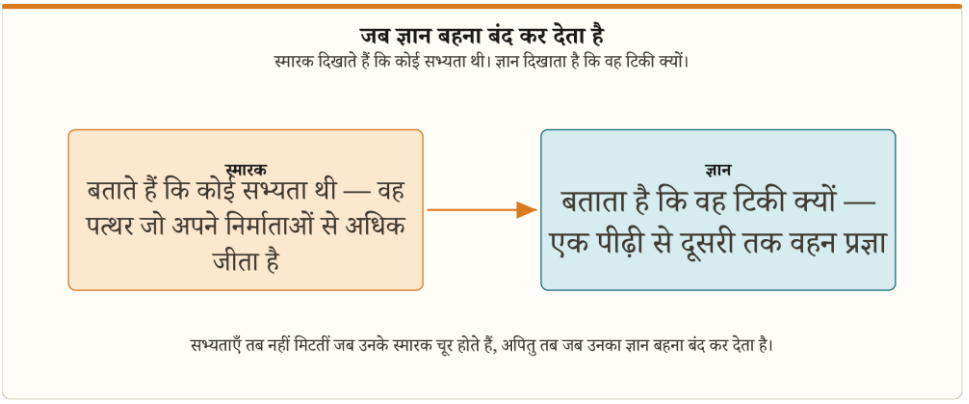

चित्र — जब ज्ञान बहना बंद कर देता है।

इतिहास एक शांत और असुविधाजनक पाठ पढ़ाता है : सभ्यताएँ विरले ही रातोंरात लुप्त होती हैं। वे धीरे-धीरे मंद पड़ती हैं, तब जब ज्ञान का प्रवाह दुर्बल होता है — जब कथाएँ अब कही नहीं जातीं, परम्पराएँ अब समझी नहीं जातीं, भाषाएँ अब बोली नहीं जातीं, और युवा सूचना तो उत्तराधिकार में पाते हैं किन्तु उसका संदर्भ खो देते हैं। जैसा पूर्ववर्ती अध्यायों ने विस्तार से तर्क किया, किसी सभ्यता की मृत्यु मूलतः संचरण की मृत्यु है।

भारत की यात्रा ठीक इसलिए असाधारण है कि सहस्रों वर्षों तक उसका ज्ञान कभी केवल पुस्तकों पर निर्भर नहीं रहा। वह गुरुओं और गुरुकुलों, मंदिरों और मठों, उत्सवों और तीर्थों, संगीत और स्थापत्य तथा दैनिक जीवन की लय से होकर बहा। कोई मंदिर, जैसा आगे का एक निबंध आग्रहपूर्वक कहेगा, कभी मात्र पूजा-स्थल नहीं था; वह एक विश्वविद्यालय था, एक वेधशाला, दर्शन तथा स्थापत्य की पाठशाला, संगीत, विज्ञान और समुदाय का घर। यहाँ ज्ञान संचित नहीं किया जाता था। वह अनुभव किया जाता था।

आज हम एक अद्वितीय क्षण पर खड़े हैं। मानवता को सूचना तक इससे बड़ी पहुँच कभी नहीं मिली; और अर्थपूर्ण समझ कभी इससे बड़े दबाव में नहीं रही। अगली पीढ़ी डिजिटल अनुभवों से सीखती है, प्रवासी समुदाय प्रत्येक महाद्वीप पर फैला है, और कृत्रिम बुद्धिमत्ता यह पुनर्गठित कर रही है कि ज्ञान खोजा कैसे जाता है। अब प्रश्न यह नहीं कि क्या तकनीक अधिगम को रूपांतरित करेगी — वह कर चुकी है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या तकनीक किसी सभ्यता के ज्ञान को जीवित रखने में सहायता कर सकती है : क्या वह केवल पांडुलिपियाँ नहीं, अपितु अर्थ भी सुरक्षित रख सकती है।

हमें विश्वास है कि वह कर सकती है — परम्परा को प्रतिस्थापित करके नहीं, अपितु उसकी पहुँच बढ़ाकर; शिक्षकों को प्रतिस्थापित करके नहीं, अपितु कालातीत ज्ञान को अधिक खोज-योग्य, निमज्जित और आकर्षक बनाकर। यही प्रतीति उन विचारों में से एक है जिसने दिव्य दृष्टि को प्रेरित किया : एक ऐसा डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र जिसमें संरक्षण, निमज्जित अनुभव, शिक्षा, शोध और वैश्विक सहयोग एक साथ आते हैं जिससे भारत की प्रज्ञा बहती रहे। क्योंकि जो सबसे बड़ी विरासत हम पीछे छोड़ सकते हैं वह हमारे स्मारक नहीं हैं। वह वह प्रज्ञा है जिसने उन्हें जन्म दिया।

एक सामान्य-सी हानि पर विचार कीजिए। कोई ताड़पत्र पांडुलिपि, शताब्दियों पुरानी, किसी पारिवारिक संग्रह अथवा किसी मंदिर के भंडार में पड़ी है; जिस भाषा में वह लिखी है उसे घर का कोई जीवित सदस्य नहीं पढ़ सकता, और जो परम्परा उसकी व्याख्या करती, वह घटकर शून्य हो चुकी है। पांडुलिपि बची है — उसे कल ही स्कैन करके सदा के लिए सुरक्षित किया जा सकता है — और फिर भी उसके भीतर का ज्ञान पहले ही जा चुका है, किसी ऐसी भाषा और ऐसे संदर्भ के पीछे बंद जिसे अब कोई नहीं दे सकता। इसे उन असंख्य पांडुलिपियों, आचरणों और मौखिक परम्पराओं से गुणा कीजिए जो इसी दशा में हैं, और स्पष्ट होगा कि

संकट मुख्यतः संरक्षण का नहीं, अपितु संयोजन का है : किसी जन और ऐसी विरासत के बीच की जीवित कड़ी को पुनर्स्थापित करने का जो अभी-अभी पहुँच से बाहर खिसक गई है।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"सभ्यताएँ तब लुप्त नहीं होतीं जब उनके स्मारक चूर होते हैं। वे तब लुप्त होती हैं जब उनका ज्ञान अब अनुभव, साझा और जिया नहीं जाता।"

निबंध तीन:
क्या तकनीक अगली गुरु बन सकती है?

"तकनीक को कभी प्रज्ञा का स्थान नहीं लेना चाहिए। उसे प्रज्ञा को प्रत्येक जिज्ञासु तक पहुँचाने में सहायता करनी चाहिए।"

इतिहास भर में प्रत्येक सभ्यता ने अपने ज्ञान को सुरक्षित रखने और संचरित करने के लिए अपने समय की सर्वाधिक उन्नत तकनीक की ओर हाथ बढ़ाया — शिलालेख और ताड़पत्र पांडुलिपियाँ, ताम्रपत्र और कागज़, मुद्रण-यंत्र, रेडियो, दूरदर्शन, अंतर्जाल। प्रत्येक छलाँग ने मानव-ज्ञान की पहुँच चौड़ी की। फिर भी उनमें से किसी एक ने भी शिक्षक का स्थान नहीं लिया। प्रत्येक ने अधिक मनों तक पहुँचने की शिक्षक की शक्ति को बढ़ाया।



चित्र — क्या तकनीक अगली गुरु बन सकती है?

अब हम ऐसी ही एक और छलाँग के आरम्भ पर खड़े हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता यह बदल रही है कि हम खोजते, सीखते और रचते कैसे हैं; निमज्जित तकनीकें यह पुनर्परिभाषित कर रही हैं कि हम संसार का अनुभव कैसे करते हैं; डिजिटल प्रतिरूप हमें स्थानों को असाधारण निष्ठा के साथ सुरक्षित रखने देते हैं; ज्ञान-ग्राफ विचार के विशाल पिंडों के पार विचारों को जोड़ते हैं। प्रलोभन यह पूछने का होता है कि क्या तकनीक गुरु का स्थान ले सकती है। वह नहीं ले सकती — और यह प्रश्न स्वयं इस बात को नहीं समझता कि गुरु है क्या।

गुरु सूचना के हस्तांतरण से कहीं अधिक करता है। गुरु दृष्टि गढ़ता है, चरित्र बनाता है, मान्यताओं को चुनौती देता है और रूपांतरण का मार्गदर्शन करता है। यह ठीक वही भेद है जो पूर्ववर्ती अध्यायों ने सूचना के, जिसकी प्रतिलिपि बन सकती है, और प्रज्ञा के, जो केवल किसी जीवित सम्बन्ध में ही परिपक्व हो सकती है, बीच किया था। सूचना के परिचालन पर बनी कोई भी प्रणाली वह नहीं दे सकती जो शिक्षक और विद्यार्थी के बीच बहता है। किन्तु तकनीक अवरोध हटा सकती है। वह ज्ञान को खोज-योग्य बना सकती है, उसे सुरक्षित रख सकती है जो अन्यथा लुप्त हो जाता, निमज्जित अधिगम सम्भव कर सकती है, और विद्वानों को महाद्वीपों के पार जोड़ सकती है — जिससे टोरंटो में बैठा कोई युवा जिज्ञासु नालंदा में विचरण कर सके, कोणार्क के प्रतीक-विधान को खोल सके, अथवा उपनिषदों के संवाद में ऐसे प्रवेश कर सके जिसकी एक दशक पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

तो सम्भवतः तकनीक की भूमिका गुरु बनना नहीं, अपितु वह मार्ग बनना है जो प्रत्येक जिज्ञासु को किसी गुरु तक ले जाए। आध्यात्मिक तकनीक को हम इसी रूप में समझते हैं — धर्म के लिए तकनीक नहीं, न परम्परा को प्रतिस्थापित करती तकनीक, अपितु सभ्यता की सेवा में तकनीक : एक ऐसा अनुशासन जो कृत्रिम बुद्धिमत्ता, निमज्जित अनुभव, डिजिटल प्रतिरूप, बहुभाषी ज्ञान-प्रणालियों और सहयोगी शोध को एक साथ लाकर मानवता की प्राचीनतम जीवित परम्पराओं में से एक को सुरक्षित रखे, खोजे और बाँटे।

यह दिव्य दृष्टि के पीछे के आधारभूत विचारों में से एक है — एक ऐसा डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र जिसमें तकनीक प्रज्ञा के आगे नहीं, अपितु उसके साथ खड़ी होती है, और प्रज्ञा को पहले से कहीं दूर तक यात्रा करने में सहायता करती है। क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी उन कालातीत प्रश्नों तक पहुँच की अधिकारी है जिन्होंने सहस्रों वर्षों तक मानवता को गढ़ा है।

एक वास्तविक संकट है जिसे नाम देना और जिससे सावधान रहना आवश्यक है। असावधानी से बनी कोई तकनीक वस्तुतः गुरु का अभिनय करने का प्रयास कर सकती है — घोषणाएँ बाँटती हुई, किसी बहुल परम्परा को किसी एक प्रामाणिक स्वर में समतल करती हुई, प्रज्ञा का आभास देती हुई किन्तु उसका सार नहीं, और जिज्ञासुओं को जीवित शिक्षकों की ओर ले जाने के स्थान पर उनसे दूर खींचती हुई। अतः आध्यात्मिक तकनीक को उत्तरदायित्व के साथ बनाना उसे सुविचारित रूप से अंतर्निहित विनम्रता के साथ बनाना है : साधनों को ऐसा बनाना कि वे स्वयं से परे संकेत करें, परम्परा के अनेक स्वरों को किसी एक से प्रतिस्थापित करने के स्थान पर सुरक्षित रखें, और मानव शिक्षक तथा जीवित परम्परा को सदा केंद्र में रखें। ऐसी तकनीक की कसौटी यह नहीं कि वह कितना कर सकती है, अपितु यह कि वह उसकी कितनी निष्ठा से सेवा करती है जो केवल मनुष्य ही कर सकते हैं।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"तकनीक प्रश्नों के उत्तर दे सकती है। प्रज्ञा हमें सिखाती है कि कौन-से प्रश्न पूछने योग्य हैं।"

निबंध चार:
मंदिर : एक ज्ञान-तंत्र

"मंदिरों ने आस्था से कहीं अधिक सुरक्षित रखा। उन्होंने एक सभ्यता सुरक्षित रखी।"

आज अधिकांश लोगों से पूछिए कि मंदिर क्या है, और वे उत्तर देंगे : पूजा का स्थान। वे ग़लत नहीं हैं — किन्तु वे किसी कहीं बड़ी वस्तु का केवल एक आयाम देख रहे हैं। शताब्दियों तक भारत के मंदिर अब तक बने सर्वाधिक परिष्कृत ज्ञान-तंत्रों में से थे। विश्वविद्यालय, शोध-केंद्र, संग्रहालय और संगीत-सभागार के आधुनिक पार्थक्य से बहुत पूर्व मंदिर एक साथ ये सब था।



चित्र — मंदिर : एक ज्ञान-तंत्र।

यह पूर्ववर्ती खण्ड के एक पूरे भाग का तर्क था, और उसे दृष्टि के स्वर में पुनः कहना उचित है। मंदिर के भीतर और उसके चारों ओर गुरुकुलों तथा पाठशालाओं के माध्यम से शिक्षा फली-फूली; अटूट परम्पराओं में सुरक्षित संगीत और नृत्य; ज्यामिति, ध्वनिकी तथा

संरचनात्मक अभिकल्प में उल्लेखनीय परिशुद्धता का स्थापत्य और अभियांत्रिकी; दिशा-विन्यास तथा पंचांग में कूटबद्ध खगोल; आयुर्वेद की चिकित्सा-परम्पराएँ; महाकाव्य, काव्य और प्रस्तुति का साहित्य; और अन्नदान से लेकर सामाजिक कल्याण तक समुदाय का सामूहिक जीवन। मंदिर कोई पृथक् संरचना नहीं, अपितु एक जीवित तंत्र था जिसके माध्यम से ज्ञान विद्वानों, शिल्पियों, पुरोहितों, संगीतज्ञों, वैज्ञानिकों, यात्रियों और सामान्य नागरिकों के बीच निरंतर बहता रहता था।

सम्भवतः यही कारण है कि भारत की इतनी बौद्धिक परम्पराएँ सहस्राब्दियों तक टिकीं। ज्ञान पुस्तकालयों तक सीमित नहीं था; वह स्वयं जीवन में अंतर्निहित था। और यह एक ऐसे उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है जिसे कृत्रिम बुद्धिमत्ता तथा निमज्जित तकनीक का युग मंद करने के स्थान पर तीखा करता है। हमारा कार्य केवल इन भव्य संरचनाओं को सुरक्षित रखना नहीं है। वह उन ज्ञान-तंत्रों को सुरक्षित रखना है जिन्हें टिकाए रखने के लिए वे बनाई गई थीं।

तो कल्पना कीजिए कि कोई भावी पीढ़ी किसी प्राचीन मंदिर से किसी स्मारक के रूप में नहीं, अपितु उस जीवित विश्वविद्यालय के रूप में मिल सके जो वह कभी था — यह समझते हुए कि उसका स्थापत्य क्यों महत्वपूर्ण था, उसकी ज्यामिति ने गहन सिद्धांतों को कैसे अभिव्यक्त किया, उसके प्रकोष्ठों में संगीत क्यों गूँजा, खगोल ने उसके अभिकल्प को कैसे गढ़ा, और प्रत्येक पत्थर विद्या के किसी बृहत्तर क्रम से कैसे जुड़ा था। यह दिव्य दृष्टि के पीछे की आकांक्षाओं में से एक है : केवल मंदिरों को डिजिटल रूप में पुनर्रचित करना नहीं, अपितु उन असाधारण ज्ञान-तंत्रों को पुनः खोजना जिन्हें उन्होंने कभी पोषित किया।

क्योंकि जब हम किसी मंदिर को सुरक्षित रखते हैं, तब हम एक स्मारक सुरक्षित रखते हैं। जब हम उसका ज्ञान सुरक्षित रखते हैं, तब हम एक सभ्यता सुरक्षित रखते हैं।

मंदिर को ज्ञान-तंत्र के रूप में पुनः प्राप्त करना घड़ी को पीछे मोड़ना नहीं, अपितु एक परखे हुए अभिकल्प से सीखना है। मंदिर की प्रतिभा एकीकरण थी — विद्या, कला, अर्थतंत्र और समुदाय का एक ही जीवित समग्र में एकत्रीकरण — और वह सिद्धांत नए रूपों में ले जाया जा सकता है। किसी डिजिटल रूप से पुनर्कल्पित विरासत-स्थल को मात्र त्रिआयामी प्रतिमान होने की आवश्यकता नहीं जिसे बाहर से सराहा जाए; वह पुनः विद्या का स्थान बन सकता है, जहाँ उसके स्थापत्य का गणित, उसके दिशा-विन्यास का खगोल, वह संगीत जो कभी उसके

प्रकोष्ठों को भरता था, और वह समुदाय जिसकी उसने कभी सेवा की — सब उपस्थित और बोधगम्य बनाए जाएँ। लक्ष्य केवल संरचना ही नहीं, अपितु ज्ञान के उस तंत्र को भी पुनर्स्थापित करना है जिसे धारण करने के लिए वह संरचना बनी थी।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"मंदिर मात्र पत्थर में बनी संरचना नहीं है। वह ज्ञान में बनी एक सभ्यता है।"

निबंध पाँच:
सूचना पढ़ाना, प्रज्ञा खोना?

"सूचना मन को भरती है। प्रज्ञा व्यक्ति को रूपांतरित करती है।"

मानव इतिहास में ज्ञान कभी इतना सुलभ नहीं रहा। क्षणों में कोई बुद्धिमान प्रणाली लगभग किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकती है; विद्यार्थी अपनी जेबों में पूरे पुस्तकालय लिए चलते हैं; कल्पनीय लगभग प्रत्येक विषय को समझाने के लिए कोई वीडियो विद्यमान है। और फिर भी, ठीक इसी प्रचुरता के बीच, चिंता, एकाकीपन, भ्रम और अर्थ की खोज संसार भर में बढ़ते जा रहे हैं। क्यों?



चित्र — सूचना पढ़ाना, प्रज्ञा खोना?

सम्भवतः इसलिए कि हम सूचना के हस्तांतरण में असाधारण रूप से निपुण हो गए हैं और प्रज्ञा के परिपोषण में कहीं कम सफल। पूर्ववर्ती खण्ड ने इसी भेद को अपनी धुरी बनाया था। सूचना बताती है कि क्या; ज्ञान समझाता है कि कैसे; प्रज्ञा पूछती है कि क्यों। सूचना हमें यंत्र बनाने में सहायता कर सकती है; प्रज्ञा हमें समाज बनाने में सहायता करती है। सूचना हमें बताती है कि सफल कैसे हुआ जाए; प्रज्ञा हमें स्मरण कराती है कि सफलता क्यों महत्वपूर्ण है। ये एक ही वस्तु के तीन आकार नहीं, अपितु तीन भिन्न वस्तुएँ हैं, और कोई सभ्यता पहली में डूब सकती है जबकि तीसरी के लिए भूखी हो।

प्राचीन भारतीय शिक्षा यह समझती थी। विद्या का प्रयोजन कभी मात्र आजीविका नहीं था; वह सम्पूर्ण व्यक्ति का निर्माण था। विद्यार्थी से केवल कंठस्थ करने की नहीं, अपितु निरीक्षण करने, प्रश्न पूछने, चिंतन करने, अभ्यास करने, अनुभव करने और रूपांतरित होने की अपेक्षा थी। यही कारण है कि इस परम्परा ने दर्शन को गणित के साथ, खगोल को चिंतन के साथ, संगीत को ध्यान के साथ, स्थापत्य को ब्रह्मांड-दृष्टि के साथ और चिकित्सा को नीति के साथ बुना। विद्या कभी खंडित नहीं थी। वह एकीकृत थी।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता इस प्राचीन अंतर्दृष्टि को नए सिरे से तात्कालिक बना देती है। ज्यों-ज्यों यंत्र सूचना के परिचालन में बेहतर होते जाते हैं, त्यों-त्यों विशिष्ट रूप से मानवीय सामर्थ्य — जिज्ञासा, विवेक, सृजनशीलता, करुणा, नीति, प्रयोजन — अधिक मूल्यवान होती जाती हैं, कम नहीं। इन्हें डाउनलोड नहीं किया जा सकता। इन्हें परिपोषित करना होता है। तो शिक्षा का भविष्य प्राचीन प्रज्ञा और आधुनिक तकनीक के बीच का कोई चुनाव नहीं, अपितु दोनों का एक साथ आना है।

कल्पना कीजिए ऐसे अधिगम-तंत्र की जिसमें विद्यार्थी भारतीय ज्ञान प्रणालियों के विषय में केवल पढ़ते नहीं, अपितु उन्हें अनुभव करते हैं, उनका अन्वेषण करते हैं, उनसे प्रश्न करते हैं, और उन्हें आधुनिक विज्ञान तथा समकालीन चुनौतियों से जोड़ते हैं। यह दिव्य दृष्टि के पीछे की दीर्घकालिक आकांक्षाओं में से एक है : ऐसी निमज्जित यात्राएँ रचना जिनमें सूचना समझ बने, समझ अनुभव बने, और अनुभव क्रमशः परिपक्व होकर प्रज्ञा बने। क्योंकि सर्वोत्तम शिक्षा हमें केवल आजीविका कमाने के लिए तैयार नहीं करती। वह हमें प्रयोजन के साथ जीने के लिए तैयार करती है।

दाँव सबसे ऊँचे युवाओं के लिए हैं, जो सूचना की इसी प्रचुरता और प्रज्ञा की इसी दुर्लभता के भीतर बड़े हो रहे हैं। आज कोई बालक किसी भी तथ्य को क्षणों में पा सकता है और फिर भी उसे कभी यह न सिखाया जाए कि किसी जीवन को कैसे तौला जाए, किसी अनिश्चय को कैसे वहन किया जाए, अथवा यह कैसे विवेचित किया जाए कि चाहने योग्य क्या है — ठीक वही सामर्थ्य जिन्हें बनाने में कोई खंडित, सूचना-केंद्रित शिक्षा सबसे कम सक्षम है। इसके विपरीत परम्परा की अंतर्दृष्टि पर आधारित कोई शिक्षा विवेक, चरित्र और प्रयोजन के परिपोषण को तथ्यों के हस्तांतरण जितनी ही गम्भीरता से लेगी, और नई तकनीकों का उपयोग अधिक सूचना अधिक तेज़ी से पहुँचाने के लिए नहीं, अपितु उन निमज्जित, चिंतनशील,

निर्माणकारी अनुभवों को रचने के लिए करेगी जिनसे प्रज्ञा वस्तुतः उगती है। यह सुविचारित रूप से बनाने योग्य भविष्य है, क्योंकि वह स्वयं नहीं आएगा।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"भविष्य उनका नहीं है जो सर्वाधिक जानते हैं, अपितु उनका है जो सर्वाधिक गहराई से समझते हैं।"

निबंध छह:
क्या कृत्रिम बुद्धिमत्ता प्रज्ञा सीख सकती है — अथवा केवल सूचना?

"कृत्रिम बुद्धिमत्ता लाखों उत्तर जान सकती है। प्रज्ञा सही प्रश्न पूछने से आरम्भ होती है।"

कृत्रिम बुद्धिमत्ता मानवता की महान तकनीकी उपलब्धियों में से एक बन गई है। वह लिखती और अनुवाद करती है, सॉफ़्टवेयर बनाती और चित्रों का विश्लेषण करती है, संगीत रचती और संवाद करती है। प्रत्येक दिन वह अधिक तीव्र, अधिक सक्षम, अधिक प्रवाहपूर्ण होती जाती है। और तब स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठता है : क्या वह प्रज्ञ हो सकती है?



चित्र — क्या कृत्रिम बुद्धिमत्ता प्रज्ञा सीख सकती है — अथवा केवल सूचना?

उत्तर पूर्णतः इस पर निर्भर है कि प्रज्ञा से हमारा अभिप्राय क्या है। यदि प्रज्ञा मात्र सूचना का संचय होती, तो सम्भवतः किसी दिन वह हो सकती। किन्तु यदि प्रज्ञा सत्य को विवेचित करने, नैतिक विवेक का प्रयोग करने, दुःख को समझने, अनिश्चय के सम्मुख विनम्र बने रहने और करुणा के साथ आचरण करने की सामर्थ्य है — तो हम एक सर्वथा भिन्न संवाद में प्रविष्ट हो चुके हैं। सूचना संचित की जा सकती है, ज्ञान व्यवस्थित किया जा सकता है, प्रतिरूप पहचाने जा सकते हैं, पूर्वानुमान उत्पन्न किए जा सकते हैं। प्रज्ञा संचित नहीं होती। वह परिपोषित होती है।

भारतीय परम्परा ने यह भेद बहुत पहले किया, यह मानते हुए कि कोई व्यक्ति विपुल ज्ञान रख सकता है और फिर भी प्रज्ञा से रहित हो सकता है, और तदनुसार उसने केवल ज्ञान को ही नहीं, अपितु विवेक को, अनुभव के परिपाक को और आत्म-साक्षात्कार को भी मूल्य दिया। शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध तथ्यों के हस्तांतरण के लिए नहीं, अपितु विवेक तथा चरित्र के परिपोषण के लिए था। जैसा पूर्ववर्ती अध्यायों ने तर्क किया, यह ठीक वही क्षेत्र है जिसमें कोई सूचना-तकनीक प्रवेश नहीं कर सकती।

सम्यक् रूप से देखा जाए तो यह प्रतिद्वंद्विता की नहीं, अपितु साझेदारी की ओर संकेत करता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता संस्तुति दे सकती है, किन्तु निर्णय मनुष्यों को करना होगा; वह अनुकूलित कर सकती है, किन्तु यह मनुष्यों को निर्धारित करना होगा कि अनुकूलन योग्य क्या है; वह सम्भावनाएँ उत्पन्न कर सकती है, किन्तु प्रयोजन मानवता को चुनना होगा। कल्पना कीजिए ऐसी बुद्धि की जो विद्वानों को सहस्रों पांडुलिपियों में नौवहन करने में सहायता करे, जो वेदों, उपनिषदों और गीता के पार अवधारणाओं को जोड़े, जो किसी अध्येता को उसकी अपनी भाषा में कठिन विचारों से होकर ले जाए, जो प्राचीन ज्ञान को युवाओं की पहुँच में लाए। ऐसे भविष्य में यंत्र शिक्षक नहीं बनता; वह शिक्षक का सहायक बनता है। वह जिज्ञासु का स्थान नहीं लेता; वह जिज्ञासु को सशक्त करता है। वह सत्य को परिभाषित नहीं करता; वह हमें उसका अन्वेषण करने में सहायता करता है।

यही वह सिद्धांत है जो दिव्य दृष्टि का मार्गदर्शन करता है : ऐसी कृत्रिम बुद्धिमत्ता बनाना नहीं जो भारतीय ज्ञान प्रणालियों की ओर से बोले, अपितु ऐसी जो मानवता को उन्हें अधिक गहराई से खोजने और उनसे जुड़ने में सहायता करे, सदैव उन विद्वानों, शिक्षकों और जीवित परम्पराओं की सेवा में जो उनके सच्चे संरक्षक बने हुए हैं। क्योंकि कृत्रिम बुद्धिमत्ता सूचना को

असाधारण गति से संसाधित कर सकती है। केवल प्रज्ञा ही यह निर्णय कर सकती है कि वस्तुतः महत्वपूर्ण क्या है।

व्यवहार में यह साझेदारी कैसी दिख सकती है? कल्पना कीजिए किसी विद्वान की जो किसी विशाल और बिखरी हुई पांडुलिपि-परम्परा में कार्य कर रहा है, और उसकी सहायता में ऐसी बुद्धिमान प्रणाली है जो भाषाओं के पार पढ़ सकती है, प्रत्येक प्रासंगिक भाष्य सामने ला सकती है, और किसी अवधारणा को सहस्र वर्षों के विवाद में अनुसरण कर सकती है — घंटों में वह पुनःप्राप्ति करती हुई जिसमें कभी पूरा जीवन लगता था, और विद्वान के अपने विवेक को उस कार्य के लिए मुक्त करती हुई जो केवल विवेक ही कर सकता है। कल्पना कीजिए संसार में कहीं भी बैठे किसी अध्येता की, जिसे उसकी अपनी भाषा में किसी कठिन पाठ से होकर ले जाया जा रहा है, जो सदैव पूछ सकता है, और जिसे सदैव उन जीवित शिक्षकों तथा परम्पराओं की ओर संकेत किया जाता है जो सच्चे स्रोत बने हुए हैं। प्रत्येक स्थिति में यंत्र मानवीय प्रज्ञा को बढ़ाता है, उसे देने का दावा किए बिना — और यही वह सम्बन्ध है जो बनाने योग्य है, तथा ठीक वही जिसे सावधानी से बनाना होगा, क्योंकि वह उतनी ही सरलता से दूसरी दिशा में भी जा सकता है।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"कृत्रिम बुद्धिमत्ता सूचना को असाधारण गति से संसाधित कर सकती है। केवल प्रज्ञा यह निर्णय कर सकती है कि वस्तुतः महत्वपूर्ण क्या है।"

निबंध सात:
अगली क्रांति अर्थ की है

"इक्कीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी चुनौती सूचना की दुर्लभता नहीं है। वह अर्थ की दुर्लभता है।"

हम सूचना से इस प्रकार घिरे हैं जिस प्रकार हमसे पूर्व कोई पीढ़ी नहीं थी। प्रत्येक क्षण लाखों वीडियो देखे जाते हैं और सहस्रों शोध-पत्र प्रकाशित होते हैं; कृत्रिम बुद्धिमत्ता बिना रुके सामग्री उत्पन्न करती है; जाल कभी नहीं सोता। मानवता ने कभी इतना अधिक उत्पन्न नहीं किया। और फिर भी कुछ विचित्र रूप से अनुपस्थित प्रतीत होता है। इतिहास के सर्वाधिक संयुक्त युग में लोग प्रयोजन के लिए, पहचान के लिए, अपनेपन के लिए, अर्थ के लिए — उत्तरोत्तर अधिक — खोज रहे हैं।



चित्र — अगली क्रांति अर्थ की है।

कारण सम्भवतः यह है कि सूचना और अर्थ एक वस्तु नहीं हैं। सूचना हमारे प्रश्नों का उत्तर देती है; अर्थ हमारे जीवन का उत्तर देता है। सूचना समझाती है कि कोई वस्तु काम कैसे करती है; अर्थ बताता है कि वह महत्वपूर्ण क्यों है। सूचना दक्षता बढ़ाती है; अर्थ दिशा देता है। सूचना अर्थव्यवस्थाएँ बनाती है; अर्थ सभ्यताएँ बनाता है। यही कारण है कि प्राचीनतम ज्ञान-परम्पराएँ प्रासंगिक बनी हुई हैं : वे कभी मात्र सूचना के हस्तांतरण के लिए नहीं लिखी गईं। वे जिज्ञासा जगाने के लिए रची गई थीं।

यह उल्लेखनीय है कि उनमें से कितनी उत्तरों से नहीं, अपितु प्रश्नों से आरम्भ होती हैं। उपनिषद् प्रश्न से खुलते हैं, गीता विषाद से, योगसूत्र अनुशासन से, ब्रह्मसूत्र जिज्ञासा से, वेद विस्मय से। कोई भी सरल समाधान का वचन नहीं देती। प्रत्येक आजीवन खोज की यात्रा का आमंत्रण देती है। हमारी तकनीकें, जिनमें कृत्रिम बुद्धिमत्ता भी है, हमें अपने से पूर्व की किसी भी पीढ़ी से अधिक सूचना खोजने में सहायता कर सकती हैं — किन्तु वे यह निर्णय नहीं कर सकतीं कि किसी जीवन को अर्थ क्या देता है। वह अपरिहार्य रूप से मानवीय खोज बनी रहती है।

यहाँ भारतीय ज्ञान प्रणालियाँ आधुनिक संसार के लिए कुछ गहन रूप से प्रासंगिक प्रस्तुत करती हैं। वे हमसे आग्रह करती हैं कि हम सूचना से आगे बढ़कर समझ की ओर जाएँ, समझ से आगे अनुभव की ओर, अनुभव से आगे प्रज्ञा की ओर — ठीक वही आरोहण जिसका पूर्ववर्ती खण्ड ने अनुसरण किया। सम्भवतः अगली डिजिटल क्रांति तीव्रतर संसाधकों अथवा विशालतर प्रतिमानों से परिभाषित होगी ही नहीं, अपितु तकनीकी बुद्धि को सभ्यतागत प्रज्ञा से विवाहित करने की हमारी सामर्थ्य से : ऐसी तकनीकें बनाने से जो हमें केवल अधिक उत्पादक नहीं, अपितु अधिक विचारशील, अधिक संयुक्त, अधिक उत्तरदायी, अधिक मानवीय बनाएँ।

यह दिव्य दृष्टि के पीछे की आकांक्षाओं में से एक है — केवल ज्ञान सुरक्षित रखना नहीं, अपितु ऐसे अर्थपूर्ण अनुभव रचना जिनमें लोग सूचना का उपभोग मात्र न करें, अपितु विचारों से जुड़ें, गहन प्रश्न पूछें, और अपनी खोज की यात्रा आरम्भ करें। क्योंकि सभ्यताएँ उस सूचना की मात्रा से स्मरण नहीं की जातीं जो उन्होंने उत्पन्न की। वे उस अर्थ से स्मरण की जाती हैं जो उन्होंने मानवता को दिया।

ठीक महान प्रश्नों के पास से जल्दबाज़ी में न गुज़रने का परम्परा का यह अस्वीकार ही उसे उत्तरों में डूबते युग में मूल्यवान बनाता है। हमारी तकनीकें उत्तर उत्पन्न करने के इंजन हैं —

किसी भी प्रश्न का, तत्क्षण, प्रचुरता में — और फिर भी गहनतम मानवीय आवश्यकताएँ उस प्रकार के उत्तरों से पूरी होती ही नहीं। यह जानना कि किसी का जीवन क्यों महत्वपूर्ण है, हानि कैसे सही जाए, प्रयास करने योग्य क्या है — यह सूचना पुनःप्राप्त करने का विषय नहीं, अपितु अर्थ की किसी जीवित परम्परा के भीतर निरंतर चिंतन का विषय है। यही वह है जो प्रज्ञा-परम्पराएँ देती हैं, और जिसका स्थान आँकड़ों की कोई मात्रा नहीं ले सकती : अधिक उत्तर नहीं, अपितु बेहतर प्रश्न, और उनकी अनुशासित, आजीवन खोज।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"सूचना हमें बताती है कि क्या हो रहा है। अर्थ हमें समझने में सहायता करता है कि वह महत्वपूर्ण क्यों है।"

निबंध आठ:
क्या किसी सभ्यता का अनुभव किया जा सकता है?

"कुछ ज्ञान पढ़े जाने के लिए है। सर्वोच्च ज्ञान अनुभव किए जाने के लिए है।"

कल्पना कीजिए कि आप किसी ऐसे व्यक्ति को हिमालय समझाने का प्रयास कर रहे हैं जिसने उसे कभी देखा नहीं। आप उसकी ऊँचाई बता सकते हैं, छायाचित्र दिखा सकते हैं, भूविज्ञान प्रस्तुत कर सकते हैं, यहाँ तक कि कोई निष्ठावान त्रिआयामी प्रतिमान भी बना सकते हैं — और फिर भी यह नहीं पहुँचा सकते कि उसके सम्मुख खड़ा होना क्या होता है। कुछ ज्ञान केवल सूचना के माध्यम से हस्तांतरित नहीं हो सकता। सभ्यताएँ भी बहुत कुछ वैसी ही हैं।



चित्र — क्या किसी सभ्यता का अनुभव किया जा सकता है?

आज हम इतिहास को पाठ्य-पुस्तकों से पढ़ते हैं, स्थापत्य को रेखाचित्रों से, दर्शन को व्याख्यानों से, संस्कृति को वृत्तचित्रों से, शास्त्र को अनुवाद से। किन्तु क्या यह पर्याप्त है? क्या ऐसी सभ्यता को, जिसे खुलने में सहस्रों वर्ष लगे, केवल उसके विषय में पढ़कर समझा जा सकता है? सम्भवतः नहीं — क्योंकि सभ्यताएँ तथ्यों के संग्रह नहीं हैं। वे जीवित अनुभव हैं : भोर में वैदिक आवृत्ति की ध्वनि, किसी प्राचीन वृक्ष के नीचे किसी जिज्ञासु का मौन, किसी मंदिर की ज्यामिति का अपना गणित उद्घाटित करना, किसी एक नियत दिन गर्भगृह तक पहुँचता सूर्य-प्रकाश, बिना किसी लिखित शब्द के पत्थर में उत्कीर्ण दर्शन। ये मात्र कलाकृतियाँ नहीं हैं। ये अनुभव हैं, और अनुभव समझ को ऐसे रचता है जैसे सूचना कभी नहीं कर सकती।

यही कारण है कि, जैसा पूर्ववर्ती अध्यायों ने आग्रहपूर्वक कहा, भारत का ज्ञान कभी निष्क्रिय उपभोग के लिए नहीं था। वह सुने जाने, देखे जाने, प्रश्नित किए जाने, अभ्यस्त किए जाने, अनुभव किए जाने, जिए जाने के लिए था। और यहाँ हमारे युग की निमज्जित तकनीकें एक ऐसा अवसर देती हैं जो किसी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पास नहीं था। कल्पना कीजिए नालंदा में विचरण करने की जैसा वह पंद्रह शताब्दी पूर्व खड़ा था; उसके विनाश से पूर्व के मूल सोमनाथ मंदिर के भीतर खड़े होने की; अनुकरण के माध्यम से कोणार्क की खगोलीय प्रतिभा को खोजने की; खजुराहो के प्रतीक-विधान को खोलने की; किसी हिमालयी शिक्षक के पास, आभासी रूप से बैठकर, अपनी भाषा में उपनिषद् सुनने की; सहस्र मील दूर किसी उत्सव में इस भाव के साथ सम्मिलित होने की कि दूरी नहीं, उपस्थिति है।

यह अब विज्ञान-कथा नहीं है; यह तकनीकी रूप से सम्भव होता जा रहा है। वास्तविक प्रश्न यह नहीं कि क्या हम ऐसे अनुभव बना सकते हैं, अपितु यह कि क्या हम अपनी सभ्यता को ऐसी रीतियों से सुरक्षित रखना चुनेंगे जिन्हें भावी पीढ़ियाँ वस्तुतः अनुभव कर सकें। यह दिव्य दृष्टि के पीछे की आकांक्षाओं में से एक है : डिजिटल अभिलेखागारों से आगे बढ़कर डिजिटल अनुभवों की ओर, संरक्षण से आगे सहभागिता की ओर, सूचना से आगे रूपांतरण की ओर।

क्योंकि किसी सभ्यता को उसके विषय में पढ़कर कभी पूर्णतः नहीं समझा जाता। उसे उसका अनुभव करके समझा जाता है।

ऐसे अनुभव बनाना एक वास्तविक उत्तरदायित्व लेना है, और उसे नाम देना उचित है। किसी पवित्र स्थान अथवा आचरण की कोई निमज्जित प्रस्तुति तटस्थ नहीं होती; वह यह चुनाव करती है कि क्या दिखाना है और कैसे, और वह उतनी ही सरलता से तुच्छ बना सकती है जितनी सरलता से प्रकाशित कर सकती है, पवित्र को तमाशे तक और सूक्ष्म को किसी विशेष प्रभाव तक घटाते हुए। इस कार्य को भली प्रकार करना उसे विनम्रता के साथ और उनके मार्गदर्शन में करना है जो जीवित परम्पराओं को वहन करते हैं — प्रभावशाली नवीनता का नहीं, अपितु वास्तविक भेंट का लक्ष्य रखना, और सदा स्मरण रखना कि अभिकल्पित अनुभव एक द्वार है, गंतव्य नहीं। इस प्रकार प्रयुक्त होने पर ये तकनीकें लाखों को ऐसी विरासत के निकट ला सकती हैं जिस तक वे अन्यथा कभी नहीं पहुँच सकते थे; असावधानी से प्रयुक्त होने पर वे उसे सस्ता कर सकती हैं। चुनाव हमारा है।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"सूचना किसी सभ्यता की कथा कहती है। अनुभव हमें उसका अंग बनने देता है।"

निबंध नौ:
यदि प्रत्येक बालक इसका अनुभव कर सकता

"हम अपने पूर्वजों से सम्पत्ति उत्तराधिकार में पाते हैं। सभ्यता हमें केवल तब उत्तराधिकार में मिलती है जब हम उसकी प्रज्ञा का अनुभव करते हैं।"

प्रत्येक पीढ़ी, अपनी रीति से, वही प्रश्न पूछती है : हमें अपने बच्चों के लिए क्या पीछे छोड़ना चाहिए? बेहतर विद्यालय, बेहतर वृत्ति, बेहतर तकनीक, बेहतर अवसर — ये सब महत्वपूर्ण हैं। किन्तु एक और विरासत है, जो इनसे भी अधिक मूल्यवान है : पहचान की विरासत, मूल्यों की, प्रज्ञा की, इस समझ की कि हम कहाँ से आते हैं और हमारी सभ्यता सहस्रों वर्षों तक क्यों टिकी।



चित्र — यदि प्रत्येक बालक इसका अनुभव कर सकता।

आज अनेक बच्चे विश्व के महान स्मारकों के नाम उससे बहुत पहले जान लेते हैं जब वे कोणार्क, नालंदा, हम्पी, काशी अथवा श्रीरंगम के पीछे की कथाएँ सुनते हैं। वे नवीनतम तकनीक में सरलता से विचरण करते हैं, फिर भी उन्होंने कभी किसी प्राचीन मंदिर की स्थापत्य-प्रतिभा से, भारत की खगोलीय परम्पराओं की परिशुद्धता से, अथवा उपनिषदों को सजीव करने वाले प्रश्नों से भेंट नहीं की। यह जिज्ञासा के अभाव से नहीं है। यह इसलिए है कि हमने अभी तक यह पुनर्कल्पित नहीं किया कि डिजिटल युग में सभ्यतागत ज्ञान का अनुभव कैसे किया जा सकता है।

कल्पना कीजिए किसी बालक की जो निमज्जित यथार्थ में नालंदा के गलियारों में चल रहा है, समस्त एशिया से आए विद्वानों को दर्शन, गणित और चिकित्सा पर विवाद करते देख रहा है; मूल सोमनाथ मंदिर के भीतर खड़ा है, न केवल उसका सौंदर्य अपितु उसकी अभियांत्रिकी और अर्थ भी समझता हुआ; यह अन्वेषण करता हुआ कि कोणार्क का स्थापत्य किसी खगोलीय उपकरण के रूप में कैसे कार्य करता था। कल्पना कीजिए कि प्रत्येक प्रतिमा अंतःक्रियात्मक हो जाए, प्रत्येक अभिलेख बोधगम्य, प्रत्येक मंदिर एक जीवित कक्षा, और प्रत्येक प्रश्न किसी और खोज तक ले जाए। यह अब इतिहास का कंठस्थीकरण नहीं है। यह सभ्यता का अनुभव है।

जब बच्चे अपनी विरासत का अनुभव करते हैं, तब वे मात्र तथ्य स्मरण नहीं रखते। उनमें जिज्ञासा विकसित होती है, अहंकार-रहित गौरव, पूर्वाग्रह-रहित सम्मान, और उस विविधता के लिए गहन सराहना जो सदैव भारत की सबसे बड़ी शक्तियों में रही है। तकनीक अब एक असाधारण अवसर देती है — कक्षा को प्रतिस्थापित करने का नहीं, अपितु उसका विस्तार करने का; शिक्षक को प्रतिस्थापित करने का नहीं, अपितु उसे सशक्त करने का; और यह सुनिश्चित करने का कि प्रत्येक बालक, चाहे उसका भूगोल, भाषा अथवा परिस्थिति कुछ भी हो, मानवता की प्राचीनतम जीवित सभ्यताओं में से एक की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक सम्पदा तक पहुँच सके।

यह दिव्य दृष्टि के पीछे की आकांक्षाओं में से एक है : ऐसे निमज्जित, बहुभाषी, अंतःक्रियात्मक अनुभव रचना जो भावी पीढ़ियों को भारतीय ज्ञान प्रणालियों को देखने, सुनने, खोजने और समझने दें जैसा पारम्परिक शिक्षा अकेले नहीं दे सकती। क्योंकि कोई सभ्यता स्वतः उत्तराधिकार में नहीं मिलती। प्रत्येक पीढ़ी को उसे पुनः खोजना होता है।

यहाँ संस्कृति के साथ-साथ न्याय का भी प्रश्न है। किसी सभ्यता की विरासत की सम्पदा कभी समान रूप से नहीं बँटी : वह इस पर निर्भर रही कि कोई कहाँ जन्मा, कौन-सी भाषा बोली, कैसी शिक्षा वहन कर सका, और क्या महान स्थल तथा शिक्षक उसकी पहुँच में थे। तकनीक, सम्यक् दिशा में लगाई जाए, तो उन अवरोधों को घोलना आरम्भ कर सकती है — किसी दूरस्थ गाँव के बालक तक वही निमज्जित, बहुभाषी पहुँच ले जाते हुए जो किसी महानगर के बालक तक, और प्रवासी समुदाय तक वैसी ही जैसी स्वदेश में रहने वालों तक। किसी सभ्यता की विरासत को प्रत्येक बालक के लिए, भूगोल अथवा परिस्थिति की परवाह किए बिना, वस्तुतः उपलब्ध बनाना केवल सांस्कृतिक आकांक्षा नहीं, अपितु लोकतांत्रिक आकांक्षा भी है, और उन श्रेष्ठतम कार्यों में से एक जिनके लिए ऐसी तकनीकें बनाई जा सकती हैं।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"कोई सभ्यता वस्तुतः तभी उत्तराधिकार में मिलती है जब अगली पीढ़ी उसका अनुभव करना चुनती है।"

निबंध दस:
भारतीय ज्ञान प्रणालियों के भविष्य की पुनर्कल्पना

"प्रत्येक पीढ़ी एक सभ्यता उत्तराधिकार में पाती है। हमारी पीढ़ी के पास उसे आने वाली सब पीढ़ियों के लिए डिजिटल रूप में सुरक्षित रखने का अवसर है।"

प्रत्येक पीढ़ी किसी न किसी बात के लिए स्मरण की जाती है। किसी ने महान नगर बनाए, किसी ने विज्ञान का विस्तार किया, किसी ने महाद्वीपों को जोड़ा, किसी ने उद्योगों को रूपांतरित किया। हमारी पीढ़ी अपना एक निर्णायक क्षण देख रही है : मानव इतिहास में पहली बार हमारे पास इतनी शक्तिशाली तकनीकें हैं कि हम एक सम्पूर्ण सभ्यता को ऐसी रीतियों से सुरक्षित रख सकें, जोड़ सकें और अनुभव कर सकें जो पहले कभी सम्भव नहीं थीं।



चित्र — भारतीय ज्ञान प्रणालियों के भविष्य की पुनर्कल्पना।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्रतिरूप, विस्तारित यथार्थ, स्थानिक संगणन, ज्ञान-ग्राफ, क्लाउड — ये मात्र नवाचार नहीं हैं। ये ऐसे साधन हैं जो यह पुनर्परिभाषित कर सकते हैं कि मानवता ज्ञान को सुरक्षित रखती और अनुभव करती कैसे है। शताब्दियों तक सभ्यताएँ अपनी

प्रज्ञा वहन करने के लिए भौतिक संस्थाओं पर निर्भर रहीं : मंदिर, पुस्तकालय, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, मठ। ये अपरिहार्य बने हुए हैं। किन्तु आज उनका पूरक एक नया डिजिटल स्तर बन सकता है — ऐसा जो प्रामाणिकता को सुरक्षित रखते हुए भूगोल के अवरोध को घोल दे।

कल्पना कीजिए ऐसे संसार की जिसमें प्रत्येक जिज्ञासु, चाहे वह कहीं भी रहता हो, निमज्जित, बहुभाषी, अंतःक्रियात्मक अनुभव के माध्यम से भारत के सभ्यतागत ज्ञान तक पहुँच सके : न्यूयॉर्क में कोई विद्यार्थी नालंदा का अन्वेषण करता हुआ; लंदन में कोई शोधार्थी ज्ञान-ग्राफ के माध्यम से वैदिक अवधारणाओं को जोड़ता हुआ; सिडनी में कोई परिवार किसी पवित्र उत्सव को वास्तविक समय में साझा करता हुआ; किसी दूरस्थ गाँव में कोई बालक कोणार्क की प्रतिभा को खोजता हुआ; कोई मंदिर-न्यास अपने अनुष्ठान, पांडुलिपियाँ और जीवित विरासत उन पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखता हुआ जो अभी जन्मी भी नहीं। यह मूलतः तकनीक के विषय में नहीं है। यह मानवता की प्राचीनतम जीवित परम्पराओं में से एक तक पहुँच के लोकतंत्रीकरण के विषय में है।

यही वह दृष्टि है जिसने दिव्य दृष्टि को प्रेरित किया — कोई अनुप्रयोग नहीं, कोई उत्पाद नहीं, यहाँ तक कि कोई मंच भी नहीं, अपितु भारतीय ज्ञान प्रणालियों के लिए एक डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र : ऐसा तंत्र जहाँ संरक्षण सहभागिता से मिले, शोध निमज्जित अधिगम से, परम्परा नवाचार से, और जहाँ विद्वान, विश्वविद्यालय, मंदिर-न्यास, संग्रहालय, सरकारें, शिक्षक और तकनीकी साझेदार एक साझा प्रयोजन के चारों ओर एकत्र हों। क्योंकि कोई एक संस्था किसी सभ्यता को सुरक्षित नहीं रख सकती। उसके लिए हम सबकी आवश्यकता है।

और सम्भवतः यही हमारे सम्मुख वास्तविक अवसर है — केवल किसी विरासत का डिजिटलीकरण नहीं, अपितु यह सुनिश्चित करना कि प्रत्येक पीढ़ी, वर्तमान और भावी, उसे खोज सके, उसका अनुभव कर सके, और उसके जीवित विकास में जोड़ सके। इस प्रथम खण्ड ने क्यों का पक्ष रखा है। आने वाला खण्ड कैसे की ओर मुड़ता है। किन्तु आमंत्रण पहले से खुला है — प्रत्येक शिक्षक, शोधार्थी, नीति-निर्माता, मंदिर-न्यास, सांस्कृतिक संस्था, तकनीकीविद् और जिज्ञासु के लिए जो इस दृष्टि में साझीदार है। क्योंकि सभ्यताएँ तब टिकती हैं जब ज्ञान बहता रहता है, और अब उस प्रवाह को आगे ले जाने की बारी हमारी है।

इस प्रकार की परियोजना को दशकों में मापा जाना चाहिए, तिमाहियों में नहीं, क्योंकि वह उद्यम का नहीं, अपितु न्यास का कर्म है। जिस विरासत की वह सेवा करती है वह सहस्रों वर्षों में बनी और सहस्रों वर्ष और टिकने के लिए है; जो अवसंरचना उसे आगे ले जाए उसे टिकने के लिए बनाया जाना चाहिए, न्यास में रखा जाना चाहिए, और आगे सौंपे जाने के लिए अभिकल्पित होना चाहिए। यही कारण है कि कोई एक कम्पनी, और कोई एक पीढ़ी, ऐसा कार्य पूर्ण नहीं कर सकती — उसके लिए संस्थाओं के पार एक गठबंधन और पीढ़ियों के पार एक प्रतिबद्धता चाहिए, जिसमें प्रत्येक उसमें जोड़े जो उसे मिला और उसे समृद्ध करके आगे बढ़ाए। ऐसी वस्तु आरम्भ करना यह स्वीकार करना है कि सम्भवतः कोई उसकी पूर्णता न देखे, और फिर भी उनके निमित्त बनाते चले जाना जो आएँगे।

एक विचार, जो आपके साथ रहे

"हमने भारतीय ज्ञान प्रणालियाँ अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में नहीं पाईं। हम उन्हें भावी पीढ़ियों से उधार ले रहे हैं।"

समापन:
देहरी

हम इस खण्ड के आरम्भ में एक ही प्रश्न का उत्तर देने निकले थे : क्यों। बुद्धिमान यंत्रों के युग में किसी सभ्यता का प्राचीन ज्ञान क्यों महत्वपूर्ण होना चाहिए? भारत की विरासत काँच के पीछे संरक्षित किया जाने वाला कोई अवशेष क्यों नहीं, अपितु मानवता के भविष्य के लिए एक जीवित संसाधन क्यों है? पाँच भागों में अब हमने वह उत्तर एकत्र कर लिया है।

हमने स्वयं सभ्यता के स्वभाव से आरम्भ किया, और पाया कि सभ्यताएँ जीवित ज्ञान-प्रणालियाँ हैं जो पीढ़ियों के पार ज्ञान की गति पर उठती और गिरती हैं। हमने देखा कि संचरण कैसे टूटता है, और किसी जन को अपनी ही विरासत से विच्छिन्न होने की क्या कीमत चुकानी पड़ती है। हमने देखा कि किसी सभ्यता की एक भार-वाहक संरचना होती है, और कि भारत ने, महान प्राचीन सभ्यताओं में लगभग अकेले, अपनी आत्मा बचाई — क्योंकि उसने संचरण की कलाओं में वह प्रभुत्व पाया जो किसी अन्य ने नहीं। हमने सूचना को ज्ञान से और ज्ञान को प्रज्ञा से पृथक् किया, और हमारे युग के संकट को ठीक पहले की बाढ़, दूसरे की कठिनाई और तीसरे की भूख में स्थित किया। और हमने पहचाना कि सभ्यता एक विशाल जाल है जिसका जीवन उसके जीवित संयोजनों में है, जिसकी मरम्मत कटी हुई रेखाओं की पुनर्स्थापना है, और जिसके नवीनीकरण का प्रयास करने के लिए हमारा युग अद्वितीय रूप से सुसज्जित है।

फिर हम भारत की विशिष्ट प्रतिभा की ओर मुड़े — इस ओर कि उसने क्या जाना और कैसे जाना। हमने उसके शास्त्रों और उसके दर्शन का सर्वेक्षण किया, उसके प्रथम श्रेणी के गणित तथा खगोल का, चेतना में उसकी गहन तथा अब भी जीवित जिज्ञासा का, और धर्म की उसकी क्रम-दायी अवधारणा का। हमने उसके ज्ञान को मंदिर में एकत्र तथा मूर्त देखा, उस सर्वोच्च एकीकृत करने वाले मंच में जहाँ विद्या, कला, अर्थतंत्र, शासन और पवित्र एक रूप में मिले। और हमने संचरण की जीवित कलाओं का अनुसरण किया — गुरु और गुरुकुल, संवाद और प्रत्यक्ष अनुभव, तीर्थ और उत्सव, कथा, संगीत, नृत्य, कला, शिल्प और भाषा — जिनके माध्यम से यह सब पीढ़ी-दर-पीढ़ी, सहस्राब्दियों के पार वहन हुआ।

आद्यंत हमने ईमानदारी के एक अनुशासन का पालन किया : वहाँ गर्वित और आश्वस्त जहाँ अभिलेख दृढ़ है, वहाँ सावधान और संयत जहाँ परम्परा प्रमाण के स्थान पर दर्शन तथा दृष्टि के स्वर में बोलती है, और किसी भी बिंदु पर प्राचीन प्रज्ञा को किसी उधार ली गई वैज्ञानिक वेशभूषा पहनाने को अनिच्छुक जिसकी उसे न आवश्यकता है न वह उसकी अधिकारी है। क्योंकि इस विरासत का पक्ष इतना सबल है कि उसे सत्यता से रखा जा सके, और वह केवल अतिशयोक्ति से दुर्बल होता है।

समग्र रूप में रखा गया यह पक्ष यह है। हमारा युग देवोपम साधन अर्जित कर रहा है और प्रज्ञा में उसके अनुरूप कोई वृद्धि नहीं — लगभग कुछ भी कर सकने की शक्ति, और इस प्रश्न का कोई निर्धारित उत्तर नहीं कि करने योग्य क्या है। जो प्रश्न हमारे यंत्र हम पर थोपते हैं और स्वयं जिनका उत्तर नहीं दे सकते, ठीक वही प्रश्न हैं जिन्हें इस सभ्यता ने तीन सहस्र वर्षों तक अपनी जिज्ञासा का केंद्र बनाया : चेतना का स्वभाव, बुद्धि का अर्थ, सम्यक् कर्म का आधार, और मानवीय, प्राकृतिक तथा तकनीकी के बीच का सम्बन्ध। भारत ठीक उसी प्रकार की जीवित प्रज्ञा-परम्परा है जिसकी हमारे युग को सर्वाधिक आवश्यकता है; वह ठीक उन्हीं संचरण-कलाओं में प्रभुत्व पाकर बचा जिन्हें अब हमें पुनः सीखना है; और वह स्वभाव से बहुल तथा आत्मसात् करने वाला है, जैसा किसी वैश्विक भविष्य को चाहिए होगा। यह अनुरूपता भावुक नहीं है। वह संरचनात्मक है।

यही क्यों है। जो शेष है वह कैसे है — और वह आने वाले खण्ड का भार है। यह स्थापित कर लेने के पश्चात् कि इस विरासत को पुनः प्रवाह में लाया जाना चाहिए, अब हम साधनों की ओर मुड़ते हैं : वह कृत्रिम बुद्धिमत्ता जो इस परम्परा की भाषाओं के पार पढ़ और पढ़ा सकती है; वे डिजिटल प्रतिरूप जो उसके मंदिरों तथा उसकी विरासत को धारण कर सकते हैं; वे निमज्जित तथा अनुभवात्मक तकनीकें जो उसके अनुष्ठान, उसके तीर्थ और उसकी कलाओं की उत्तराधिकारी हैं; वह ज्ञान-ग्रिड जो उसकी कटी हुई रेखाओं को पुनर्स्थापित कर सकता है; और वह मंच जिसके माध्यम से किसी जीवित सभ्यता को अंततः उसके योग्य तंत्रिका-तंत्र दिया जा सके। हम क्यों समझने और कैसे बनाने के बीच की देहरी पर खड़े हैं। प्रथम खण्ड यहाँ समाप्त होता है। कार्य आरम्भ होता है।

इनमें से कुछ भी अनिवार्य नहीं है। जो सहज मार्ग है — जिसके लिए न प्रयास चाहिए, न चुनाव, न संकल्प का कोई कर्म — वह उस क्षीणता की ओर ले जाता है : ऐसे संसार की

ओर जिसमें सूचना अनंत है और प्रज्ञा लुप्तप्राय, जिसमें महान परम्पराएँ खींची जाने योग्य सामग्री के रूप में बची रहती हैं, न कि उन जीवित कूपों के रूप में जिनसे जल भरा जाए। दूसरा मार्ग चुनना कुछ करना है, सुविचारित रूप से और धारा के विरुद्ध : प्रज्ञा-परम्पराओं को जीवित रखना, उन्हें अब तक बने सर्वाधिक शक्तिशाली साधनों के साथ साझेदारी में लाना, और सम्पूर्ण विरासत को समृद्ध करके उन्हें आगे सौंपना जो पश्चात् आएँगे। यही वह कार्य है। इस खण्ड ने तर्क दिया कि वह क्यों महत्वपूर्ण है; आगे के खण्ड दिखाएँगे कि वह कैसे किया जा सकता है।

◆ ◆ ◆

खण्ड एक — सभ्यतागत आधार — यहाँ समाप्त।

खण्ड दो — डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र — आगे।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

पाठक, विद्वान और निर्माता के लिए संदर्भ-सामग्री।

परिशिष्ट क:
भारतीय सभ्यता का कालक्रम



चित्र क.१ — भारतीय सभ्यता के व्यापक युग। तिथियाँ अनुमानित हैं और विद्वानों में विवादित।

ऊपर दी गई तिथियाँ जानबूझकर व्यापक रखी गई हैं। प्रारम्भिक भारत का — और विशेषतः वैदिक काल का — कालक्रम आज भी सक्रिय विद्वत्-विवाद का विषय है, और युगों के बीच की सीमाएँ तीखी नहीं, अपितु क्रमिक हैं। यहाँ प्रयोजन परिशुद्धता नहीं, अपितु दिशा-बोध है : ऐसी सभ्यता दिखाना जो अनेक युगों से गुज़री और फिर भी अपने ही संचरण का सूत्र कभी पूर्णतः नहीं खोया।

परिशिष्ट ख:
शास्त्रों का कालक्रम

नीचे दिया गया सापेक्ष क्रम व्यापक रूप से स्वीकृत है; निरपेक्ष तिथियाँ नहीं। प्रत्येक स्तर शताब्दियों में बढ़ा और अन्य स्तरों से अतिव्याप्त रहा, और बहुत कुछ लिखे जाने से बहुत पूर्व मौखिक रूप से संचरित होता रहा।

- वैदिक संहिताएँ — मूल सूक्त-संग्रह — प्राचीनतम और सर्वाधिक आधारभूत स्तर।
- ब्राह्मण — अनुष्ठान के अर्थ और आचरण का गद्य-विवेचन।
- आरण्यक — "वन-ग्रंथ", जो कर्मकांड से मुड़कर चिंतन की ओर जाते हैं।
- उपनिषद् — वेद की दार्शनिक परिणति — वेदांत।
- वेदांग एवं सूत्र — छह सहायक विज्ञान तथा संक्षिप्त सूत्रात्मक ग्रंथ।
- इतिहास — महाकाव्य — रामायण और महाभारत, जिनमें उत्तरवर्ती भगवद्गीता को समाहित किए हुए है।
- दर्शन-ग्रंथ — छह दार्शनिक सम्प्रदायों की व्यवस्थित कृतियाँ।
- पुराण — विश्वकोशीय भक्ति-साहित्य, जिसने परम्परा को सब तक पहुँचाया।
- भाष्य-परम्पराएँ — वे महान भाष्य जिनके जीवित विवाद ने इस समग्र वाङ्मय को जीवित रखा।

परिशिष्ट ग:
भारतीय ज्ञान प्रणालियों का वर्गीकरण



चित्र ग.१ — एक विशाल और परस्पर-संयुक्त क्षेत्र का एक मानचित्र। यहाँ दिखाया गया प्रत्येक क्षेत्र भाग दो से भाग पाँच तक विवेचित है।

कोई एक आरेख इतनी विशाल और इतनी गुँथी हुई ज्ञान-प्रणाली के साथ न्याय नहीं कर सकता; विभाजन परस्पर अतिव्याप्त हैं, और कोई एक कृति एक साथ अनेक श्रेणियों की हो सकती है। यह वर्गीकरण पाठक के लिए एक पाड़ के रूप में प्रस्तुत है, दीवारों के समुच्चय के रूप में नहीं।

परिशिष्ट घ:
संस्कृत एवं भारतीय ज्ञान-शब्दों की शब्दावली

लिप्यंतरण प्रचलित विद्वत्-रीति का अनुसरण करता है। परिभाषाएँ संक्षिप्त हैं और सामान्य पाठक को दिशा देने के लिए हैं; प्रत्येक शब्द अपने से कहीं बड़े साहित्य पर खुलता है।

आत्मन् (Ātman) — अंतरतम स्व; देह और मन के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य।

ब्रह्मन् (Brahman) — समस्त यथार्थ का परम, अनुपाधिक आधार।

धर्म (Dharma) — "जो धारण करता है" : ब्रह्मांडीय क्रम, कर्तव्य और सम्यक् कर्म — तीनों एक ही शब्द में।

दर्शन (Darśana) — "देखने की एक रीति"; दर्शन के व्यवस्थित सम्प्रदायों में से एक।

गुरु (Guru) — वह शिक्षक जो केवल ज्ञान ही नहीं, अपितु चरित्र और रूपांतरण भी संचरित करता है।

गुरुकुल (Gurukula) — गुरु का गृह-विद्यालय; निमज्जित, आवासीय अधिगम।

परम्परा (Paramparā) — गुरु से शिष्य तक संचरण की अटूट शृंखला।

ज्ञान (Jñāna) — ज्ञान, विशेषतः यथार्थ का वह ज्ञान जो रूपांतरित करता है।

विज्ञान (Vijñāna) — विवेचनकारी अथवा प्रयुक्त ज्ञान।

प्रज्ञा (Prajñā) — अंतर्दृष्टि; सर्वोच्च विवेचक प्रज्ञा।

विवेक (Viveka) — विवेचन; वास्तविक को केवल प्रतीयमान से पृथक् करने की सामर्थ्य।

अनुभव (Anubhava) — प्रत्यक्ष अनुभव; अपनी ही चेतना में सत्यापित साक्षात्कार।

श्रुति (Śruti) — "जो सुना गया" : प्रकट शास्त्र (वेद, उपनिषद्)।

स्मृति (Smṛti) — "जो स्मरण रखा गया" : परम्परा (महाकाव्य, पुराण, धर्मग्रंथ)।

वेद (Veda) — आधारभूत प्रकट वाङ्मय; परम्परा का मूल।

उपनिषद् (Upaniṣad) — वेद की दार्शनिक परिणति; वेदांत।

वेदांत (Vedānta) — "वेद का अंत"; उपनिषदों पर आधारित सम्प्रदाय।

इतिहास (Itihāsa) — "ऐसा ही हुआ" : महाकाव्यात्मक इतिहास, रामायण और महाभारत।

पुराण (Purāṇa) — ब्रह्मांड-विज्ञान, पुराख्यान और वंश का विश्वकोशीय भक्ति-साहित्य।

ब्रह्मसूत्र (Brahmasūtra) — वेदांत का सूत्रात्मक व्यवस्थापन।

वेदांग (Vedāṅga) — वे छह सहायक विज्ञान जो वेद को सुरक्षित रखते और प्रयुक्त करते हैं।

षड्दर्शन (Ṣaḍ-darśana) — छह शास्त्रीय सम्प्रदाय : न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत।

प्रमाण (Pramāṇa) — ज्ञान का वैध साधन — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और अन्य।

मंत्र (Mantra) — पवित्र ध्वनि अथवा सूत्र; अर्थ और शक्ति के वाहन के रूप में ध्वनि।

यंत्र (Yantra) — चिंतन तथा अनुष्ठान में प्रयुक्त ज्यामितीय आरेख।

वास्तु / शिल्प शास्त्र (Vāstu / Śilpa Śāstra) — स्थापत्य और प्रतिमा-निर्माण के विज्ञान।

ज्योतिष (Jyotiṣa) — खगोल एवं काल-गणना का विज्ञान (और परवर्ती काल में फलादेश)।

आयुर्वेद (Āyurveda) — "जीवन का ज्ञान"; शास्त्रीय चिकित्सा-परम्परा।

पुरुषार्थ (Puruṣārtha) — मानव-जीवन के वैध लक्ष्य।

आश्रम (Āśrama) — पारम्परिक विकास-क्रम में जीवन का एक चरण।

प्राण (Prāṇa) — योग तथा आयुर्वेद के आचरण में प्राण-वायु अथवा जीवन-ऊर्जा।

नाद (Nāda) — आदि ध्वनि; ध्वन्यात्मक की तत्वमीमांसा।

तुरीय (Turīya) — "चतुर्थ" : जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे चेतना का आधार।

आत्मबोध (Ātmabodha) — आत्म-ज्ञान; आत्म-साक्षात्कार।

विद्या (Vidyā) — ज्ञान; विशेषतः वह ज्ञान जो मुक्ति की ओर ले जाए।

संहिता (Saṃhitā) — मंत्रों का मूल संग्रह; प्रत्येक वेद का प्रथम स्तर।

भाष्य (Bhāṣya) — मूल ग्रंथ पर विस्तृत व्याख्या।

पूर्वपक्ष (Pūrvapakṣa) — वाद-परम्परा में विरोधी मत, जिसे उसकी पूर्ण शक्ति में प्रस्तुत करना अनिवार्य था।

वास्तुपुरुष-मंडल (Vāstu-puruṣa-maṇḍala) — मंदिर-योजना का आधारभूत ज्यामितीय विन्यास।

रस (Rasa) — कला द्वारा उत्पन्न सौंदर्यानुभूति; नाट्यशास्त्र का केंद्रीय सिद्धांत।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन (Śravaṇa, Manana, Nididhyāsana) — शिक्षण के तीन क्रम — सुनना, विचारना, और गहन अभ्यास से आत्मसात् करना।

कोश (Kośa) — मनुष्य-व्यक्तित्व के पाँच स्तर — अन्नमय से आनंदमय तक।

परिशिष्ट ङ:
कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं स्थानिक संगणन की शब्दावली

ये वे साधन हैं जिनका नाम इस त्रयी में बार-बार आता है, और जिन्हें मानविकी की ओर से आने वाले पाठकों के लिए सरल शब्दों में परिभाषित किया गया है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence, AI) — ऐसी प्रणालियाँ जो मानव-बुद्धि से जुड़े कार्य सम्पन्न करती हैं।

वृहद् भाषा प्रतिमान (Large Language Model, LLM) — विपुल पाठ पर प्रशिक्षित ऐसी AI जो भाषा उत्पन्न करती और उस पर तर्क करती है।

ज्ञान-ग्राफ (Knowledge Graph) — इकाइयों और सम्बन्धों का ऐसा जाल जो संयोजनों को स्पष्ट और नौवहन-योग्य बनाता है।

डिजिटल प्रतिरूप (Digital Twin) — किसी भौतिक स्थान अथवा वस्तु की उच्च-निष्ठा डिजिटल प्रतिकृति।

विस्तारित यथार्थ (Extended Reality, XR) — संवर्धित, आभासी और मिश्रित यथार्थ के लिए समावेशी शब्द।

आभासी यथार्थ (Virtual Reality, VR) — पूर्णतः निमज्जित, संगणक-जनित परिवेश।

संवर्धित यथार्थ (Augmented Reality, AR) — भौतिक संसार पर आरोपित डिजिटल सामग्री।

मिश्रित यथार्थ (Mixed Reality, MR) — भौतिक तथा डिजिटल तत्वों का ऐसा सम्मिश्रण जो वास्तविक समय में परस्पर क्रिया करता है।

स्थानिक संगणन (Spatial Computing) — ऐसा संगणन जो त्रिआयामी स्थान को समझता और उसके भीतर कार्य करता है।

अर्थ-आधारित खोज (Semantic Search) — केवल शब्द-कुंजी से नहीं, अपितु अर्थ और सम्बन्ध से पुनःप्राप्ति।

बहुभाषी AI (Multilingual AI) — ऐसे प्रतिमान जो अनेक भाषाओं में पढ़ते, अनुवाद करते और तर्क करते हैं।

कर्ता-AI (Agentic AI) — ऐसी AI जो किसी लक्ष्य की ओर योजना बना सकती और बहु-चरणीय कर्म कर सकती है।

यंत्र-अधिगम (Machine Learning) — वे विधियाँ जिनसे प्रणालियाँ आँकड़ों से अपना प्रदर्शन सुधारती हैं।

तंत्रिका-जाल (Neural Network) — मस्तिष्क से शिथिल रूप से प्रेरित एक संगणकीय संरचना।

प्राकृतिक भाषा संसाधन (Natural Language Processing, NLP) — मानव-भाषा का यंत्र द्वारा परिचालन।

प्रकाशीय अक्षर पहचान (Optical Character Recognition, OCR) — दस्तावेज़ों के चित्रों से पाठ का निष्कर्षण।

छायाचित्र-मिति (Photogrammetry) — छायाचित्रों से त्रिआयामी प्रतिमान बनाना, जो डिजिटल प्रतिरूपों में प्रयुक्त होता है।

मेटावर्स (Metaverse) — स्थायी, साझा, निमज्जित डिजिटल स्थान।

क्लाउड संगणन (Cloud Computing) — अंतर्जाल के माध्यम से माँग पर उपलब्ध संगणन-संसाधन।

उत्तरदायी AI (Responsible AI) — ऐसी AI बनाने का आचरण जो सुरक्षित, न्यायसंगत, पारदर्शी और उत्तरदायी हो।

परिशिष्ट च:
मंदिर-स्थापत्य का मानचित्र

कोई एक महान मंदिर प्रायः एक साथ अनेक विज्ञानों को एकीकृत करता था। नीचे दिए गए उदाहरणों में से प्रत्येक सबसे बढ़कर उस बृहत्तर उपलब्धि के किसी एक आयाम के लिए स्मरण किया जाता है — जो समग्र में प्रवेश का एक मार्ग है। (उल्लिखित तिथियाँ तथा श्रेय लेखक एवं सम्बद्ध विद्वत्-सामग्री के साथ अंतिम रूप से निर्धारित किए जाने चाहिए।)

- कोणार्क, सूर्य मंदिर — खगोल, ज्यामिति और काल-गणना।
- बृहदीश्वर, तंजावुर — अभियांत्रिकी और स्मारकीय निर्माण।
- हम्पी, विजयनगर की — अर्थतंत्र, व्यापार और नगर-नियोजन।
- नालंदा — उच्च शिक्षा और अंतरराष्ट्रीय ज्ञान-विनिमय।
- श्रीरंगम — शासन और सामुदायिक जीवन का संगठन।
- खजुराहो — दर्शन, सौंदर्यशास्त्र और प्रतीक-विधान।

एक विस्तृत मानचित्र — योजनाओं, उत्थान-चित्रों तथा गर्भगृह, शिखर और मंडप की संरचना-रचना सहित — इस परिशिष्ट का स्वाभाविक सहचर है, और आने वाले खण्ड में वर्णित डिजिटल प्रतिरूपों का स्वाभाविक प्रथम विषय भी।

परिशिष्ट छ:
चयनित अग्रिम पठन

यह एक प्रारम्भिक ग्रंथ-सूची है, सर्वांगपूर्ण नहीं, और इसका विस्तार तथा सत्यापन लेखक के साथ किया जाना चाहिए। इसमें कुछ व्यापक रूप से सम्मानित कृतियाँ उन क्षेत्रों में प्रवेश-बिंदु के रूप में एकत्र हैं जिनका यह खण्ड केवल सर्वेक्षण ही कर सकता है।

- ए. एल. बाशम, The Wonder That Was India — प्रारम्भिक भारतीय सभ्यता का एक शास्त्रीय एक-खण्डीय सर्वेक्षण।
- सर्वपल्ली राधाकृष्णन, Indian Philosophy — दार्शनिक सम्प्रदायों का एक मानक ऐतिहासिक विवरण।
- सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, A History of Indian Philosophy — एक व्यापक बहु-खण्डीय विवेचन।
- किम प्लॉफ़्कर, Mathematics in India — भारतीय गणित-परम्परा का एक विद्वत्तापूर्ण इतिहास।
- जॉर्ज घेवरगीस जोसेफ़, The Crest of the Peacock — गणित के ग़ैर-यूरोपीय मूलों पर।
- स्टेला क्रैमरिश, The Hindu Temple — मंदिर के रूप और अर्थ का एक आधारभूत अध्ययन।
- धरमपाल, The Beautiful Tree — औपनिवेशिक पुनर्गठन से पूर्व की देशी भारतीय शिक्षा पर।
- पैट्रिक ऑलिवेल (अनुवाद), The Early Upaniṣads — एक व्यापक रूप से प्रयुक्त विद्वत्-अनुवाद।

परिशिष्ट ज:
दिव्य दृष्टि डिजिटल स्तर

प्रकाशित संस्करण एक डिजिटल सहचर वहन करने के लिए अभिकल्पित है। जहाँ किसी अंश के पास कोई QR कूट प्रकट होता है, वह किसी जीवित दिव्य दृष्टि संसाधन से जोड़ेगा; कूट तब जोड़े जाते हैं जब संसाधन प्रकाशित होते हैं। नीचे दी गई श्रेणियाँ उस अभिप्रेत स्तर का वर्णन करती हैं।

- मंदिर डिजिटल प्रतिरूप — विरासत-स्थलों में कहीं से भी प्रवेश कीजिए और विस्तार से अध्ययन कीजिए।
- आवृत्ति एवं पाठ-अभिलेखागार — ध्वनित वेद, जीवित श्रव्य के रूप में सुरक्षित।
- पांडुलिपि-दर्शक — टीका-सहित, अनुवादित और अपने भाष्यों से परस्पर-संयुक्त ग्रंथ।
- निर्देशित आभासी तीर्थ — भारत का पवित्र भूगोल, दूरस्थ रूप से पैदल चला हुआ।
- AI ज्ञान-सहचर — समस्त वाङ्मय में एक बहुभाषी मार्गदर्शक, शिक्षकों की सेवा में, उनके स्थान पर नहीं।
- निमज्जित कक्षाएँ — विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और प्रवासी समुदाय के लिए अनुभवात्मक पाठ।

परिशिष्ट झ:
विषय-सूचक अनुक्रमणिका

इस खण्ड के आवर्ती विचारों की एक विषय-आधारित मार्गदर्शिका; पूर्ण पृष्ठ-संदर्भ अंतिम अक्षर-संयोजन के समय निर्धारित किए जाएँगे।

- सभ्यता एवं संचरण — जीवित ज्ञान-प्रणाली; संचरण; परम्परा; जाल और उसकी रेखाएँ; विच्छेद; पुनर्जीवन।
- शास्त्र एवं दर्शन — वेद; उपनिषद्; वेदांत; इतिहास; पुराण; ब्रह्मसूत्र; षड्दर्शन।
- विज्ञान — गणित एवं शून्य; खगोल एवं ज्योतिष; आयुर्वेद; ज्यामिति एवं शुल्ब; स्वर-विज्ञान; ध्वनि; चेतना।
- मंदिर — गर्भगृह; शिखर; वास्तु एवं शिल्प; आगम; मंदिर विश्वविद्यालय तथा एकीकृत करने वाले मंच के रूप में।
- प्रज्ञा एवं अर्थ — सूचना, ज्ञान और प्रज्ञा; ज्ञान, विवेक, प्रज्ञा; धर्म; प्रयोजन एवं सम्यक् कर्म।
- तकनीक एवं दिव्य दृष्टि — कृत्रिम बुद्धिमत्ता; डिजिटल प्रतिरूप; ज्ञान-ग्राफ; XR एवं स्थानिक संगणन; आध्यात्मिक तकनीक; पाँच स्तम्भ।

पूरक परिशिष्ट
हिंदी संस्करण के पूरक परिशिष्ट

पाँच संदर्भ-सारणियाँ, जो इस संस्करण के पाठक के लिए विशेष रूप से संकलित हैं।

परिशिष्ट ञ:
वैदिक वाङ्मय की संरचना

वैदिक साहित्य का स्तर-क्रम, जिससे यह स्पष्ट हो कि यह कोई एक ग्रंथ नहीं, अपितु ग्रंथों का एक विस्तृत तंत्र है।

चार वेद

- ऋग्वेद — स्तुति-सूक्तों का संग्रह; सर्वाधिक प्राचीन स्तर।
- यजुर्वेद — यज्ञ-विधि से सम्बद्ध; शुक्ल एवं कृष्ण दो शाखाएँ।
- सामवेद — गान-परम्परा का आधार; भारतीय संगीत का आदि स्रोत।
- अथर्ववेद — लोक-जीवन, चिकित्सा एवं व्यावहारिक विषयों से सम्बद्ध।

प्रत्येक वेद के चार स्तर

- संहिता — मूल मंत्र-भाग।
- ब्राह्मण — अनुष्ठान-विवेचन एवं व्याख्या।
- आरण्यक — वन में अध्ययन योग्य, प्रतीकात्मक विवेचन।
- उपनिषद् — दार्शनिक परिणति; वेदांत।

परिशिष्ट ट:
षड्दर्शन : एक तुलनात्मक दृष्टि

छह दर्शनों का संक्षिप्त परिचय, उनके केंद्रीय विषय एवं प्रमुख ग्रंथों सहित।

न्याय — तर्कशास्त्र एवं प्रमाण-मीमांसा; गौतम के न्यायसूत्र। केंद्रीय प्रश्न : हम किसी बात को सत्य कैसे जानते हैं।

वैशेषिक — पदार्थ-वर्गीकरण एवं परमाणु-सदृश सिद्धांत; कणाद के वैशेषिकसूत्र।

सांख्य — प्रकृति एवं पुरुष का द्वैत; ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका।

योग — चित्त-निरोध की व्यावहारिक पद्धति; पतंजलि के योगसूत्र।

मीमांसा — वैदिक पाठ-व्याख्या के नियम एवं कर्म-सिद्धांत; जैमिनि के मीमांसासूत्र।

वेदांत — आत्मा एवं ब्रह्म का सम्बन्ध; बादरायण के ब्रह्मसूत्र तथा शंकर, रामानुज एवं मध्व के भाष्य।

परिशिष्ट ठ:
प्रमाण : ज्ञान के साधन

भारतीय ज्ञान-मीमांसा में स्वीकृत प्रमाण, जिनकी संख्या पर विभिन्न दर्शनों में मतभेद है।

- प्रत्यक्ष — इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष अनुभव; सभी दर्शनों में स्वीकृत।
- अनुमान — तर्क द्वारा निष्कर्ष; धूम से अग्नि का ज्ञान इसका शास्त्रीय उदाहरण।
- उपमान — सादृश्य द्वारा ज्ञान।
- शब्द — आप्त-वचन अथवा प्रामाणिक स्रोत से प्राप्त ज्ञान।
- अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि — मीमांसा एवं वेदांत में अतिरिक्त रूप से स्वीकृत।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस परम्परा में केवल निष्कर्ष नहीं, अपितु निष्कर्ष तक पहुँचने की विधि भी परीक्षा का विषय रही।

परिशिष्ट ङ:
भारतीय गणित की प्रमुख उपलब्धियाँ

प्रलेखित एवं अंतरराष्ट्रीय रूप से स्वीकृत योगदान; यहाँ किसी अतिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं।

- दशमलव स्थान-मान पद्धति — आधुनिक अंक-पद्धति का आधार।
- शून्य — संख्या के रूप में स्वीकृति एवं संक्रियाओं की परिभाषा (ब्रह्मगुप्त)।
- ऋणात्मक संख्याएँ एवं उनके नियम (ब्रह्मगुप्त, सातवीं शताब्दी)।
- बीजगणितीय समीकरणों के हल; कुट्टक विधि।
- ज्या की सारणियाँ एवं त्रिकोणमितीय विधियाँ (आर्यभट)।
- अनंत श्रेणियाँ — माधव एवं केरल-परम्परा, यूरोप से शताब्दियों पूर्व।
- शुल्बसूत्रों की ज्यामिति — क्षेत्रफल-संरक्षण एवं समकोण-त्रिभुज सम्बन्ध।

परिशिष्ट ढ:
मंदिर-स्थापत्य की शैलियाँ

तीन प्रमुख शैलियाँ एवं उनके विशिष्ट लक्षण।

नागर — उत्तर भारत; वक्र रेखीय शिखर, वर्गाकार गर्भगृह, आमलक एवं कलश।

द्राविड़ — दक्षिण भारत; पिरामिडाकार विमान, विशाल गोपुरम, परिसर-प्राकार।

वेसर — मध्य भारत एवं दक्कन; उपर्युक्त दोनों के तत्वों का समन्वय।

मंदिर के प्रमुख अंग

- गर्भगृह — मूल देवालय, जहाँ प्रधान मूर्ति स्थापित है।
- अंतराल — गर्भगृह एवं मंडप के मध्य संक्रमण-स्थल।
- मंडप — सभा एवं अनुष्ठान हेतु स्तम्भ-युक्त कक्ष।
- शिखर अथवा विमान — गर्भगृह के ऊपर की ऊर्ध्व संरचना।
- प्रदक्षिणा-पथ — परिक्रमा हेतु मार्ग।

प्रमुख व्यक्तियों का कालक्रम

तिथियाँ अनुमानित हैं और प्राचीनतम व्यक्तियों के विषय में विद्वानों में विवादित; ये केवल पाठक को परम्परा के दीर्घ विस्तार में दिशा देने के लिए प्रस्तुत हैं।

पाणिनि · *लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व* · वैयाकरण; अष्टाध्यायी के रचयिता।

यास्क · *लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व* · निरुक्तकार; निरुक्त के रचयिता।

पिंगल · *लगभग तीसरी–दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व* · छंदशास्त्र एवं संयोजन-गणित।

पतंजलि · *पारम्परिक रूप से लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व (तिथि विवादित)* · योगसूत्र।

चरक · *ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियाँ* · कायचिकित्सा की शास्त्रीय परम्परा।

सुश्रुत · *ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियाँ* · शल्यचिकित्सा की शास्त्रीय परम्परा।

भरत · *नाट्यशास्त्र का संकलन लगभग दूसरी–पाँचवीं शताब्दी ईस्वी* · प्रदर्शन-कलाएँ एवं रस-सिद्धांत।

आर्यभट · *जन्म 476 ईस्वी* · गणित एवं खगोल; आर्यभटीय।

वराहमिहिर · *छठी शताब्दी ईस्वी* · खगोल एवं उसके संग्रह-ग्रंथ।

ब्रह्मगुप्त · *जन्म 598 ईस्वी* · गणित; शून्य तथा ऋणात्मक संख्याओं के प्रथम व्यवस्थित नियम।

भर्तृहरि · *लगभग पाँचवीं शताब्दी ईस्वी* · भाषा-दर्शन।

शंकर · *लगभग आठवीं शताब्दी ईस्वी* · अद्वैत वेदांत।

रामानुज · *लगभग ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी ईस्वी* · विशिष्टाद्वैत वेदांत।

मध्व · *तेरहवीं शताब्दी ईस्वी* · द्वैत वेदांत।

भास्कर द्वितीय · *जन्म 1114 ईस्वी* · गणित एवं खगोल; लीलावती।

संगमग्राम के माधव · *लगभग चौदहवीं शताब्दी ईस्वी* · केरल-सम्प्रदाय; अनंत श्रेणियाँ।

सवाई जयसिंह द्वितीय · *अठारहवीं शताब्दी ईस्वी* · जंतर मंतर वेधशालाएँ।

चयनित ग्रंथ-सूची

यह गौण कृतियों की एक चयनित ग्रंथ-सूची है — उस पाठक के लिए एक प्रारम्भ-बिंदु जो आगे जाना चाहे, न कि कोई सर्वांगपूर्ण संदर्भ-तंत्र, और ऐसी जिसका विस्तार तथा अंतिम रूप पूर्ण संदर्भ-युक्त विद्वत्-संस्करण के लिए किया जाना है। कृतियाँ विषय के अनुसार समूहित हैं।

सामान्य एवं सर्वेक्षण

ए. एल. बाशम, The Wonder That Was India.

अमर्त्य सेन, The Argumentative Indian.

डायना एल. एक, India: A Sacred Geography.

दर्शन

सर्वपल्ली राधाकृष्णन, Indian Philosophy.

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, A History of Indian Philosophy.

बिमल कृष्ण मतिलाल, Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge.

अनुवाद में शास्त्र

पैट्रिक ऑलिवेल (अनुवाद), The Early Upaniṣads.

वेंडी डोनिगर (अनुवाद), The Rig Veda.

बारबरा स्टोलर मिलर (अनुवाद), The Bhagavad-Gita.

गणित एवं विज्ञान

किम प्लॉफ़्कर, Mathematics in India.

जॉर्ज घेवरगीस जोसेफ़, The Crest of the Peacock: Non-European Roots of Mathematics.

मंदिर, कला एवं स्थापत्य

स्टेला क्रैमरिश, The Hindu Temple.

जॉर्ज मिचेल, The Hindu Temple: An Introduction to Its Meaning and Forms.

विद्या देहेजिया, Indian Art.

भाषा एवं व्याकरण

शेल्डन पोलक, The Language of the Gods in the World of Men.

जॉर्ज कार्डोना, Pāṇini: A Survey of Research.

योग एवं चेतना

गेओर्ग फ़ॉयरश्टाइन, The Yoga Tradition.

मिर्चा एलिआदे, Yoga: Immortality and Freedom.

शिक्षा एवं इतिहास

धरमपाल, The Beautiful Tree: Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century.

साथी खण्ड

भारतीय ज्ञान प्रणालियों की पुनर्कल्पना, खण्ड दो — डिजिटल ज्ञान एवं अनुभवात्मक तंत्र (इसे कैसे बनाया जाए)।

भारतीय ज्ञान प्रणालियों की पुनर्कल्पना, खण्ड तीन — सजीव सभ्यता का निर्माण (राष्ट्रीय रूपरेखा)।

संदर्भ — मूल स्रोत

संश्लेषण की यह कृति आद्यंत परम्परा के शास्त्रीय मूल ग्रंथों पर आधारित है। जिन प्रमुख स्रोतों से यह जुड़ती है, वे नीचे उनके पारम्परिक शीर्षकों से सूचीबद्ध हैं; विशिष्ट अनुवादों तथा अंशों से जुड़ा पूर्ण संदर्भ-युक्त संस्करण इसका स्वाभाविक अगला चरण है।

प्रकट एवं आधारभूत

चार वेद — ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद — अपने ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् स्तरों सहित।

प्रमुख उपनिषद् — छांदोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, मुण्डक और माण्डूक्य सहित।

महाकाव्य एवं भक्ति

महाभारत, भगवद्गीता सहित, और वाल्मीकि का रामायण।

पुराण, भागवत सहित।

दर्शन एवं सूत्र

ब्रह्मसूत्र, शंकर, रामानुज तथा मध्व के भाष्यों सहित।

षड्दर्शनों के आधारभूत सूत्र, और पतंजलि के योगसूत्र।

विज्ञान एवं शास्त्र

पाणिनि, अष्टाध्यायी; यास्क, निरुक्त; बौधायन तथा आपस्तम्ब के शुल्बसूत्र।

आर्यभट, आर्यभटीय; ब्रह्मगुप्त, ब्राह्मस्फुटसिद्धांत; भास्कर द्वितीय, लीलावती।

चरक एवं सुश्रुत संहिताएँ; भरत, नाट्यशास्त्र; वास्तु तथा शिल्प शास्त्र (मयमत, मानसार); और आगम।

सामान्य अनुक्रमणिका

पृष्ठ-संदर्भ अंतिम अक्षर-संयोजन के समय निर्धारित किए जाते हैं; नीचे दी गई प्रविष्टियाँ इस खण्ड में विवेचित प्रमुख नामों, शब्दों, स्थानों और विषयों को सूचीबद्ध करती हैं।

ॐ, 92, 133

अजंता, 203

अनुभव, 6, 7, 10, 1, 2, 6, 11, 16, 17, 24, 25, 29, 37, 39, 50, 52, 59, 61, 63, 64, 79, 82, 92, 105, 107, 109, 118, 119, 120, 134, 149, 152, 163, 164, 165, 166, 170, 171, 172, 175, 183, 184, 185, 186, 188, 189, 196, 199, 201, 205, 211, 214, 215, 216, 218, 219, 221, 227, 230, 233, 235, 236, 237, 238, 239, 240, 241, 242, 244, 245, 246, 251, 258, 263, 268

आत्मन्, 60, 251

आपद्-धर्म, 97

आयुर्वेद, 8, 21, 82, 83, 84, 86, 99, 122, 215, 224, 252, 259

आर्यभट, 112, 116, 117, 264, 266, 269

आश्रम, 61, 159, 252

इतिहास, 8, 17, 18, 19, 31, 33, 59, 61, 62, 63, 64, 65, 66, 67, 99, 102, 104, 107, 109, 124, 125, 136, 143, 158, 173, 194, 206, 213, 215, 217, 220, 226, 232, 235, 239, 241, 249, 252, 259, 268

उपनिषद्, 5, 8, 55, 59, 60, 61, 62, 68, 92, 99, 215, 233, 236, 249, 251, 252, 259, 261, 269

ऊर्जा, 9, 120, 121, 122, 123, 133

ऋत, 57, 97

कर्म, 1, 2, 4, 6, 13, 28, 31, 39, 42, 49, 55, 57, 59, 62, 75, 78, 93, 95, 96, 109, 137, 168, 189, 197, 200, 205, 243, 245, 251, 255, 262

कोणार्क, 156, 221, 236, 239, 242, 256

खजुराहो, 132, 236, 256

गंगा, 136

गणित, 9, 11, 5, 8, 12, 13, 87, 89, 103, 106, 111, 112, 113, 114, 115, 117, 118, 127, 128, 129, 130, 143, 144, 147, 148, 149, 150, 151, 157, 168, 173, 224, 227, 235, 239, 244, 257, 259, 264, 266, 267

गुरु, 9, 10, 12, 16, 23, 33, 59, 68, 81, 82, 124, 147, 175, 176, 177, 178, 179, 181, 184, 185, 196, 198, 200, 203, 205, 211, 220, 221, 222, 244, 251

गुरुकुल, 6, 9, 12, 28, 53, 178, 179, 180, 181, 185, 211, 244, 251

चक्रीयता, 106, 107, 108, 110

चरक संहिता, 85

चांद्र-सौर, 105

चेतना, 8, 9, 3, 4, 13, 49, 60, 61, 75, 79, 80, 81, 90, 91, 92, 93, 94, 101, 117, 118, 119, 120, 123, 126, 138, 184, 244, 245, 251, 253, 268, 2

जंतर मंतर, 116, 266

जीवन्मुक्ति, 139

ज्ञान, 1, 3, 4, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 1, 2, 3, 5, 6, 7, 8, 9, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30, 31, 34, 35, 36, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 51, 53, 54, 55, 56, 57, 58, 59, 61, 64, 65, 66, 69, 70, 71, 72, 73, 75, 78, 80, 83, 84, 86, 87, 89, 90, 96, 99, 112, 113, 114, 116, 117, 118, 123, 124, 128, 129, 130, 131, 138, 140, 141, 142, 143, 146, 147, 148, 150, 154, 155, 157, 160, 170, 171, 172, 174, 175, 176, 178, 179, 180, 181, 182, 183, 184, 185, 187, 188, 190, 191, 196, 197, 200, 201, 202, 203, 205, 206, 207, 208, 209, 211, 213, 215, 216, 217, 218, 219, 220, 221, 223, 224, 225, 226, 227, 230, 233, 235, 236, 239, 241, 242, 243, 244, 245, 246, 250, 251, 252, 253, 254, 256, 258, 259, 263, 268, 3

ज्ञान-ग्राफ, 5, 23, 30, 31, 45, 46, 221, 241, 242, 254, 259, 3

ज्यामिति, 9, 29, 34, 87, 89, 128, 129, 130, 141, 149, 150, 223, 224, 235, 256, 259, 264

ज्योतिष, 71, 116, 252, 259

डिजिटल प्रतिरूप, 7, 5, 6, 24, 30, 31, 50, 89, 172, 214, 221, 241, 245, 254, 255, 256, 258, 259, 3

तीर्थयात्रा, 10, 187, 188, 189

तुरीय, 253

दर्शन, 6, 8, 2, 8, 12, 27, 28, 35, 55, 58, 61, 62, 64, 65, 74, 75, 78, 99, 107, 118, 120, 124, 125, 131, 132, 135, 144, 152, 166, 184, 185, 186, 196, 208, 209, 218, 227, 235, 239, 244, 245, 249, 251, 256, 259, 267, 269

धर्म, 6, 8, 62, 63, 66, 95, 96, 97, 98, 109, 132, 139, 144, 221, 244, 251, 259

ध्वनि, 9, 55, 56, 71, 73, 123, 124, 125, 126, 127, 131, 133, 141, 151, 152, 153, 154, 157, 164, 166, 196, 197, 235, 252, 253, 259

नाट्यशास्त्र, 200, 253, 266, 269

नालंदा, 144, 221, 236, 239, 242, 256

निरुक्त, 71, 73, 266, 269

नृत्य, 10, 133, 143, 153, 166, 198, 199, 200, 201, 211, 223, 244

न्याय, 75, 77, 97, 162, 240, 250, 252, 262

पंचतंत्र, 194

पंचांग, 66, 105, 106, 116, 135, 155, 157, 190, 191, 224

पाणिनि, 71, 73, 266, 269

पारिस्थितिकी, 9, 108, 109, 135, 136, 137, 167, 168, 169, 170, 173

पिंगल, 112, 113, 266

पुराण, 8, 65, 66, 67, 99, 215, 249, 251, 252, 259, 269

पुरुषार्थ, 252

प्रज्ञा, 4, 6, 8, 10, 1, 3, 4, 8, 14, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 47, 48, 49, 50, 52, 53, 60, 61, 93, 96, 98, 109, 120, 138, 140, 176, 178, 179, 181, 183, 193, 194, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 220, 221, 222, 226, 227, 229, 230, 231, 233, 234, 238, 242, 244, 245, 246, 251, 259, 2

प्रमाण, 11, 2, 8, 73, 84, 102, 114, 116, 117, 139, 140, 144, 147, 150, 152, 153, 154, 156, 158, 161, 162, 176, 197, 245, 252, 262, 263, 2

बिश्नोई, 136

बुद्धि, 3, 4, 11, 13, 18, 47, 48, 49, 58, 60, 92, 93, 107, 108, 110, 119, 178, 196, 230, 233, 245, 254

बृहदीश्वर मंदिर, 147

बौधायन, 129, 269

ब्रह्मगुप्त, 112, 116, 264, 266, 269

ब्रह्मन्, 60, 251

ब्रह्मसूत्र, 8, 68, 69, 70, 215, 233, 252, 259, 262, 269

ब्रह्मांड-विज्ञान, 9, 65, 66, 96, 101, 102, 103, 104, 115, 131, 190, 191, 202, 252

भक्ति, 63, 65, 66, 69, 89, 196, 197, 199, 209, 249, 252, 269

भगवद्गीता, 62, 64, 68, 249, 269

भाष्य-परम्परा, 25, 249

भास्कर द्वितीय, 113, 266, 269

मंत्र, 58, 126, 152, 252, 261

मंदिर, 8, 9, 10, 11, 5, 12, 15, 17, 21, 23, 24, 28, 29, 32, 34, 43, 63, 64, 67, 87, 88, 89, 90, 99, 129, 130, 131, 132, 137, 142, 143, 144, 145, 146, 147, 148, 149, 150, 151, 152, 153, 154, 155, 156, 157, 158, 159, 160, 161, 162, 163, 164, 165, 166, 167, 168, 169, 170, 171, 172, 173, 187, 193, 199, 202, 203, 205, 215, 216, 218, 223, 224, 225, 235, 236, 239, 242, 244, 253, 256, 257, 258, 259, 265, 268

मध्व, 68, 262, 266, 269

महाभारत, 62, 63, 64, 249, 269

मीमांसा, 75, 76, 184, 185, 252, 262, 263

मोक्ष, 63, 69, 132, 139

यास्क, 73, 266, 269

युग, 7, 1, 2, 6, 8, 17, 19, 22, 23, 25, 36, 37, 38, 40, 42, 48, 50, 53, 57, 60, 64, 66, 70, 76, 78, 85, 89, 91, 93, 97, 105, 107, 109, 112, 113, 119, 134, 135, 136, 137, 140, 145, 147, 165, 171, 172, 176, 180, 181, 182, 183, 189, 192, 195, 201, 204, 206, 209,213, 216, 224, 232, 233, 236, 239, 244, 245, 3

योग, 8, 13, 75, 78, 79, 80, 81, 82, 99, 121, 122, 123, 138, 184, 215, 252, 262, 268

रस, 200, 253, 266

राग, 21, 24, 124, 126, 196, 197

रामानुज, 68, 262, 266, 269

रामायण, 62, 63, 64, 249, 252

लीलावती, 113

वाल्मीकि, 63, 269

वास्तु-पुरुष-मंडल, 129

विजयनगर, 159, 256

विवेक, 7, 39, 41, 42, 84, 87, 91, 95, 147, 156, 175, 193, 194, 205, 211, 227, 230, 231, 251, 259

वूट्ज़ इस्पात, 206

वेद, 8, 55, 56, 57, 58, 59, 61, 65, 70, 71, 72, 73, 99, 124, 126, 152, 154, 196, 215, 233, 249, 251, 252, 253, 258, 259, 261, 269

वेदांग, 8, 71, 72, 73, 74, 99, 249, 252

वेदांत, 59, 61, 67, 68, 70, 75, 252, 259, 262, 263, 2

शंकर, 68, 262, 266, 269

श्रद्धा, 58, 135, 136, 137, 154, 166, 167, 175, 176, 184

श्रीरंगम, 162, 239, 256

श्रेणी, 12, 15, 41, 55, 75, 83, 87, 105, 106, 113, 115, 158, 199, 244

संगीत, 10, 3, 5, 15, 24, 25, 28, 55, 58, 112, 124, 125, 126, 141, 143, 152, 153, 164, 165, 195, 196, 197, 198, 199, 200, 211, 218, 223, 224, 227, 229, 244, 261

संचरण, 6, 9, 10, 5, 6, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 19, 22, 23, 24, 26, 28, 29, 30, 31, 32, 33, 35, 36, 37, 39, 40, 46, 47, 48, 49, 50, 53, 56, 57, 58, 59, 62, 71, 72, 73, 82, 85, 86, 87, 99, 124, 126, 131, 134, 141, 144, 147, 170, 174, 175, 176, 178, 179, 181, 184,185, 187, 188, 189, 190, 192, 193, 194, 195, 196, 197, 198, 199, 200, 202, 203, 204, 206, 207, 208, 210, 211, 215, 217, 244, 245, 248, 251, 259

संवाद, 6, 7, 10, 3, 29, 59, 60, 69, 77, 92, 99, 119, 120, 180, 181, 182, 183, 184, 185, 208, 211, 213, 221, 229, 230, 244

संसार, 1, 4, 6, 10, 11, 18, 29, 32, 35, 37, 39, 42, 47, 51, 52, 59, 60, 64, 68, 71, 75, 79, 83, 85, 87, 90, 95, 97, 101, 102, 104, 105, 109, 110, 111, 112, 113, 118, 120, 121, 123, 124, 130, 132, 135, 136, 137, 144, 159, 162, 164, 166, 193, 194, 196, 206, 214, 221, 226, 231, 233, 242, 245, 254

संस्कार, 93

संस्कृत, 10, 32, 64, 67, 71, 73, 113, 124, 125, 208, 209, 251

समाधि, 79, 81

सांख्य, 75, 118, 119, 252, 262

सुश्रुत संहिता, 85, 269

स्फोट, 125

हनुमान, 63

हम्पी, 159, 239, 256

लेखक के विषय में

अनिल पाण्डेय अभियंता, प्रबंधन-पेशेवर, प्रौद्योगिकी-उद्यमी, लेखक तथा प्लेक्सस डिजिटल्स के संस्थापक एवं सी.एम.डी. हैं। आई.आई.टी. एवं आई.आई.एम. से शिक्षित, उन्होंने तीन दशकों से अधिक समय वैश्विक संगठनों में डिजिटल रूपांतरण, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), निमज्जित प्रौद्योगिकियों (Immersive Technologies) तथा उद्यम-नवाचार की पहलों का नेतृत्व करते हुए बिताया है।

अपनी व्यावसायिक यात्रा के समानांतर उन्होंने वेदांत, चेतना, श्रीमद्भगवद्गीता और यथार्थ के वैज्ञानिक आधारों का समान रूप से गम्भीर अन्वेषण किया है। उनका लेखन आधुनिक विज्ञान और सनातन प्रज्ञा के संसारों को जोड़ने का प्रयास करता है, और गहन दार्शनिक अंतर्दृष्टियों को विवेकसम्मत, प्रमाण-आधारित तथा समकालीन दृष्टि से प्रस्तुत करता है।

इस त्रयी के प्रथम खण्ड में वे यही पक्ष प्रस्तुत करते हैं : भारत ने क्या जाना, कैसे जाना, और इतनी गहन विरासत को चुपचाप छूट जाने देने के बजाय आगे क्यों बढ़ाया जाना चाहिए।

दिव्य दृष्टि पहल के विषय में

दिव्य दृष्टि प्लेक्सस डिजिटल्स की एक पहल है, जो डिजिटल एवं निमज्जित प्रौद्योगिकी के माध्यम से भारतीय ज्ञान प्रणालियों के संरक्षण, पुनर्जीवन तथा वैश्विक प्रसार को समर्पित है। इसमें कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), डिजिटल प्रतिरूप (Digital Twin), ज्ञान-ग्राफ (Knowledge Graph) तथा विस्तारित यथार्थ (Extended Reality) को एक ही लक्ष्य की सेवा में जोड़ा गया है : एक जीवित विरासत को सम्पूर्ण रूप में डिजिटल युग तक ले जाना।

यह खण्ड, जो त्रयी का प्रथम है, उन सभ्यतागत आधारों को प्रस्तुत करता है जिन पर यह सम्पूर्ण कार्य टिका है। प्रत्येक अध्याय के अंत में दिए गए कोड के माध्यम से जिन संसाधनों तक पहुँचा जा सकता है, वे विकसित होते दिव्य दृष्टि मंच का अंग हैं, जिसमें पाठक का सादर स्वागत है।